ओ३म् ॥

आर्यसिद्धान्त ॥

तृतीय भाग

अनेक विषय जो भिन्न २ छपे थे उन को क्रमबद्ध करके प्रथम-

छपा चुक जाने से द्वितीय वार छपाया

सरस्वतीयन्त्रालय--प्रयाग

संवत् १९५१ पौष सन् १८९५ जनवरी

मूल्य ॥।)

ओ३म्

आर्यसिद्धान्त ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ॥

तृतीय भाग

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥

अज्ञानतिमिरभास्कर

इस नामका पुस्तक मैंने कुछ कालसे सुना था और थोड़े दिनसे दृष्टिगोचर भी हुआ। अनेक महाशयोंकी सम्मति हुई कि इस पर अवश्य कुछ लिखना चाहिये इस लिये मैंने इस पुस्तक को मंगा कर देखा। देखनेसे मेरी भी इच्छा होगई कि अवश्य इस पर लिखना चाहिये क्योंकि ऐसे पुस्तकों से ही उन वेद-मतावलम्बियोंकी बुद्धि चक्कर खा जाती है जो स्वयं वेदादि शास्त्रों को नहीं पढ़े और न जिनने वेदका सिद्धान्त जाना इस प्रकारके सीधे साधे लोग वेदको बुरा समझने लगें तो कुछ आश्चर्य नहीं। इसलिये इस पर लिखना आवश्यक समझा गया। सब महाशयोंको ज्ञात हो कि नास्तिक मत भी बहुत प्राचीन है पर इस प्राचीनतासे नास्तिक आस्तिक नहीं होसकते किन्तु नास्तिक ही बने रहते हैं। जैसे चोरी कर्म प्राचीन होनेके कारण उत्तम कर्म नहीं हो जाता किन्तु निन्दित ही बना रहता है इसी प्रकार नास्तिक भी जानो। नास्तिकपन कोई जातिका अव्यभिचारी धर्म नहीं किन्तु जो कोई कुतर्करूप घोड़े पर सवार हो वही नास्तिक होजाता है। नास्तिक शब्द संस्कृतवाणी का है इस का अर्थ यह है कि:—

"न अस्ति दृष्टादन्यदिति मतिर्यस्य स नास्तिकः"

प्रत्यक्ष संसार जो हमारे इन्द्रियों से जाना जाता है उससे भिन्न परोक्ष कुछ नहीं। मुख्य कर परोक्ष विषय तीन माने जाते हैं एक तो सर्वनियन्ता सर्वोत्पादक सर्वरक्षक सर्वान्तर्यामी अनादि अनन्त इन्द्रियों के विषयसे परे ध्यान समाधिसे जानने योग्य परमेश्वर, द्वितीय इस जन्मके शुभाशुभ कर्मोंका फल जन्मान्तरमें धारण कर भोगने का विश्वास, तृतीय वेद ईश्वरीयविद्याको न मानना

इन में पहिले को न माने वह पूरा नास्तिक और द्वितीय तृतीय के न माननेसे छोटा नास्तिक बनता है। क्योंकि सर्वाधिष्ठाता परमात्मा को जो मान लेगा उसको कई विषय स्वयमेव मानने पड़ेंगे चाहे वह कहे वा न कहे। नास्तिकमत बहुत प्राचीन है इसके कहने का अभिप्राय यह है कि न्यायशास्त्र कर्त्ता गोतम ऋषि वात्स्यायन, व्यास जी कपिलाचार्य्यादि महर्षियों ने भी अपने शास्त्रों में नास्तिकों की मानी हुई युक्तियां का खण्डन किया है इससे जान पड़ता है कि नास्तिक पहिले से चले आते हैं। नास्तिक, असुर, दैत्य, अधर्मी ये शब्द प्रायः एक ही से अर्थ वाले हैं। आस्तिक देव, धर्मात्मा आप्त ये एकार्थ हैं इसी लिये नास्तिक आस्तिक के झगड़े को देवासुर संग्राम भी कहना अनुचित नहीं है। देवासुर संग्राम सृष्टि के आरम्भ से प्रलय पर्य्यन्त बना रहता है यद्यपि नास्तिक प्राचीन हैं। तथापि जैन बौद्ध नाम से प्रसिद्ध मत बहुत प्राचीन नहीं हैं किन्तु यह मत इसी वर्त्तमान कलियुग में दो तीन हजार वर्ष के बीच मे प्रारम्भ हुआ है इसी बुद्ध को विष्णु का अवतार हमारे पौराणिक भाई मानते हैं जिसने वेदादि शास्त्रों का नाश किया और बौद्ध मत वर्णाश्रम के धर्म कर्म का शत्रु रहा तथा ब्राह्मणों का तो परम शत्रु समझना चाहिये। जो हमारा सर्वस्व नाशक हो उस को हम ईश्वर का अवतार अपना पूज्य मानें यह क्या बुद्धिमत्ता है ?। इस में कुछ सन्देह नहीं कि बुद्ध सर्वसाधारण मनुष्यों के तुल्य नहीं था किन्तु कुछ विशेष प्रबल नास्तिक हुआ जिसने दबे हुये नास्तिक मत को उखाड़ दिया। संसार में जो २ प्रतापी मनुष्य कभी २ हो जाते हैं उन का चित्त पूर्व जन्म के संस्कार देश काल वा सत्सङ्गादि के अनुसार जिस विषय पर पूर्ण रीति से झुक जाता है उस को सर्वोपरि ठहरा देता है उन को रोकने की शक्ति सर्व-साधारण लोग नहीं रखते प्रतापी मनुष्य का नाम अवश्य हो जाता है चाहे वह किसी बात पर झुके बुराई वा भलाई पर। डाकू लोग भी बड़े २ प्रसिद्ध हो गये। इसी प्रकार बुद्ध का प्रताप नास्तिकता में झुका रहा मेरा प्रयोजन इस प्रसङ्ग में यह नहीं है कि मैं नास्तिकों के सब प्रकार वा उन के मन्तव्य और उत्पत्ति आदि का मूल लिखूं किन्तु मैं "अज्ञानतिमिरभास्कर" पुस्तक पर कुछ समालोचना लिखूंगा इस लिये यह दिखाता हूं कि यद्यपि बुद्धादि नाम से प्रसिद्ध नास्तिकों की अनेक शाखा थोड़े २ भेदसे हो गई हैं तथापि अनेक मूल विषयों में सब एक हैं। जैसे आर्यों में उसी एक ईश्वर के एक २ नाम के साथ

कुछ २ प्रकार भेद मान कर शिव नाम से शैव, विष्णु से वैष्णव, ब्रह्म से ब्राह्म आदि अनेक शाखा होगईं पर ईश्वरके मानने वाले सभी कहावेंगे। इसी प्रकार

सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथा गतः।

सुमन्तभद्रो भगवान् मारजिल्लोकजिज्जिनः ॥१॥ अमरः

यह अमरकोश जो एक जैनका बनाया पुस्तकहै उसमें लिखाहै कि सर्वज्ञ, सुगत, बुद्ध, धर्मराज, तथागत, सुमन्तभद्र, भगवान्, मारजित्, लोकजित्, और जिन इत्यादि सब नाम एक ही के हैं इनमें से कई नामकी शाखा चलगई और कई की नहीं चली जैसे बुद्धसे बौद्ध जिनसे जैन सुगतसे सौगत कहाये। यद्यपि जैन बौद्ध सौगत वास्तवमें एक ही हैं तथापि अब थोड़े२ बीचके बनावटी भेद से अपनेको भिन्न २ मानने लगगये इन्हींके अनुयायी पं० आत्माराम जीने यह पुस्तक बनाया है जैनधर्महितेच्छु सभा भावनगरने छपाया है। जैनधर्महितेच्छु सभा ने आत्माराम जीको बहुत बढ़ाकर टाटिल में लिखा है कि—

"न्यायाम्भोनिधि महामुनिराज"

न्यायके समुद्र और बड़े२ मुनि अर्थात् जैनोंके उपास्य देवसे भी बड़े हैं। इनके उपास्यों का मुनि भी नामहै इससे विचारिये कि आत्मारामको कितना चढ़ाया क्या जैन लोग आत्मारामको तीर्थङ्करोंके ऊपर अध्यक्ष [अफसर] मानते हैं? यदि ऐसा ठीकहै तो आत्माराम ही की उपासना क्यों नहीं करते?।

इस आत्मारामरचित पुस्तकका नाम "अज्ञानतिमिरभास्कर" रक्खाहै कि अज्ञानरूपी अन्धकारके लिये सूर्यहै। यदि यह बात सत्य होती तो इस पुस्तक का प्रचार होते ही सब अन्धकाररूप वेदादि शास्त्र प्रतिपादित वा अन्य मत लुप्त होजाते और केवल जैन मत ही रह जाता क्योंकि सूर्यके उदयमें सब अन्धकार मिट जाताहै वैसे अन्य जिन मतोंको अज्ञानान्धकार माना वे क्यों बने हुए हैं?। जिस सूर्यके उदय होने पर अन्धकार बना रहे उसका होना न होना एकसा ही है। इस पुस्तककी प्रस्तावना (भूमिका) आत्मारामने ३७ पृष्ठमें लिखी है जिसमें अनेक मतमतान्तरोंका प्रस्तावहै अनेक मत वालोंको बुरा भला कहाहै पर अधिक धावा ब्राह्मणवर्ण पर किया है परन्तु यह बहुत सत्य लिखाहै कि सृष्टिके आरम्भसे आजपर्यन्त वेद ब्राह्मणोंके आधीन चले आतेहैं। अर्थात् ब्राह्मणोंकी घरूविद्या वेदहै यह दोनों प्रकार ठीकहै चाहे तो गुणकर्मानुसार वा जातिसे

वर्णव्यवस्था मानी जावे दोनों रीति पर वेद ब्राह्मणोंके आधीन रहा और रहेगा पर इन आत्माराम जीने सब कालके ब्राह्मणों को एक ही लकड़ीसे हांका है— अर्थात् ऋषि लोग जो वेदपारङ्गत हुए जिन्होंने वेदकी कुछ प्रशंसा की वे ब्राह्मण कैसे ही धर्मात्मा तेजस्वी प्रतापी क्यों न हों जैन लोग उन को अपना शत्रु ही मानेंगे वेदके मानने वालों को जैन लोग महानीच समझते हैं ॥

अब मैं इनके प्रत्येक वाक्य पर न लिखूंगा किन्तु मुख्यकर वेद वा ईश्वर आदि आस्तिक लोगोंके मन्तव्य पर जहां कटाक्ष२ वा आक्षेप किया होगा वहां२ आस्तिकनास्तिकसंवाद करके लिखूंगा और इस पुस्तकका पृथक् नाम "आस्तिक नास्तिकसंवाद" रहेगा। ईश्वर वा वेदके विरोधियोंके वाक्यके सामने नास्तिक शब्द रक्खा जावेगा और वेदानुयायियोंकी ओरसे जो समाधान—उत्तर दिया जायगा उसका शीर्षक आस्तिक रक्खा जायगा। सब महाशय मेरे और आत्माराम जैनी के लेखको देखें और जो सत्य हो उसको सत्य, मिथ्या को मिथ्या मानें ॥

अथास्तिकनास्तिकसंवादः ॥

नास्तिक—यह भी बात याद रखनी चाहिये कि जब ब्राह्मणोंको जोर हुआ था तब वेदोंके न माननेसे बौद्धमत वालों के बच्चों से लेकर वृद्धतक हिमालयसे लेकर सेतुबन्ध रामेश्वर तक कतल करवाये ये बात माधवाचार्य अपने बनाये शङ्करदिग्विजयमें लिखता है:—

> आसेतुरातुषाराद्रि बौद्धानां वृद्धबालकम् ।
> नाहन्ति यः स हन्तव्यो भृत्य इत्यवसंन्नृपाः ॥

आस्तिक—बुराई वा अधर्मसे जो कोई किसीके साथ वर्त्ताव करताहै वह वास्तवमें बुराहै। हम नहीं कह सकते कि जब ब्राह्मणोंका बल बढ़ा तब बौद्धों को कहां तक तंग किया ?। यह अनादि कालसे देवासुरसङ्ग्राम चला आताहै जब जिसका बल बढ़ता है तभी वह अपने शत्रुसे पूर्व पाये हुए क्लेशोंका बदला लेसकता है यह भी कभी सम्भव नहीं कि यदि बौद्ध लोग कभी ब्राह्मणों वा अन्य क्षत्रियादि वेदमतानुयायियों को क्लेश न पहुंचाते अर्थात् वेदमतानुयायियों को अपना शत्रु न बनाते और फिर बल पाकर ब्राह्मणादि बौद्धादि को मारते। जिसके चित्तमें जिस पर क्रोध ही नहीं वह उसके मारने मरवाने को कभी

उद्यत नहीं होसकता किन्तु यह प्रसिद्ध है कि श्रीमत् स्वामि शङ्कराचार्य जी की उत्पत्तिसे पहिले बौद्धोंका राज्य आर्यावर्त्तमें प्रबल होगया था और वेदमतानुयायियोंको अच्छे प्रकार दबा दिया था । ब्राह्मणादि वेदमतानुयायियोंको जैन बौद्ध अपना पूर्ण शत्रु समझते थे इसीलिये अनेक तुड़वाना आदि अनेक अत्याचार किये । और बौद्ध लोगों ने ऐसे २ वचन बनाये कि—

त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भण्डधूर्त्तनिशाचराः ॥

आर्योंके ऋषिमुनियोंको भांड धूर्त्त और राक्षस बताया । जब किसी समुदायका बल बढ़ताहै । तब विचारशील लोग अवश्य कुछ विचारके चलतेहैं किन्तु विपक्षियों पर अत्याचार वा कठोर वर्त्ताव नहीं करते । पर उस समुदायके मूर्ख उन्मत्तादि होकर विपक्षियोंके प्राणोंके ग्राहक तक होजातेहैं । यद्यपि आज कल अंग्रेजोंका राज्यहै और इनकी शिक्षाप्रणाली अच्छी है । शिक्षित विचारशील लोग अधिक हैं इस कारण अत्याचार कम होताहै तथापि जो गोरे आदि कामी क्रोधी उन्मत्त नशाबाज वा जो अपनी जातिके राज्यबलके अभिमानमें डूबेहुए हैं वे अनेक अत्याचार निर्बल आर्यों पर करते ही हैं । कोई किसीके घरमें घुसपड़ता कोई गोली मार देताहै कोई २ व्यभिचारादि बलपूर्वक करनेको प्रवृत्त होजाताहै । इत्यादि ॥

मुसलमानोंका जब राज्य हुआ तब उन्होंने भी आर्यों पर मनमाना अत्याचार किया बौद्धोंके साथ पहिला अत्याचार ब्राह्मणादि आर्योंका नहीं है । किन्तु पहिले जो राज्यबल पाकर बौद्धोंने आर्योंको क्लेश दिये थे वे उनके हृदयमें छिद्र जैसे होरहे थे । मुख्यकर शरीर का अत्याचार इतना नहीं ठहरता किन्तु कठोर वचन हृदयमें विलक्षण सङ्कल्प करा देतेहैं । क्या जिनके पुरुषा तपस्वी ऋषि मुनियोंको भांड, धूर्त्त, राक्षसादि कहा जावे उनके लिये यह कठोर नहीं है ? इसी प्रकार अनेक कठोर वर्त्ताव बौद्धोंने अपने राज्य होनेके समयमें किये थे । सो ब्राह्मणादि आर्योंके हृदयमें खटकते थे जब समय मिला तभी ब्राह्मणादि ने अपना वैर लिया होगा । इसमें भी बौद्धोंका पहिला दोष है । पहिले ब्राह्मणों वा वेदों और वेदोक्त मतकी मनमानी निन्दा की, अन्य क्लेश दिये पीछे अवसर पाया तब ब्राह्मणादिने भी उनके साथ वैसा ही वर्त्ताव किया और कराया । कटुवचनोंका उच्चारण करना सर्वोपरि बुरा इसलिये है कि इसी पर सब कुछ

बिगड़ जाताहै । यह प्रसिद्ध है कि महाभारत युद्धका कारण दुर्योधनादिके कटु वचन ही मुख्यहैं । जिस समय सभामें द्यूत (जुआ) हुआ था तब जो दुर्योधनादिने वचन कहे थे वे पाण्डवोंके हृदयमें तीर जैसे विध गये थे। अवसर पाकर पाण्डवोंने सब कौरववंश का नाश किया । इसी प्रकार प्रलय सदृश युद्ध अनेक ऐसे कारणोंसे हुए होंगे । ऐसेही जैन बौद्ध और वेदमतानुयायियोंमें विरोध वा युद्ध हुआ होगा । केवल ब्राह्मणों पर दोष ठहराना न्यायकी बात नहीं है । इसलिये ब्राह्मणोंने कतल करवाये यह लिखना बुद्धिमत्ता नहीं है ॥

नास्तिक—एक और बात बहुत आश्चर्य की है कि कितनेक पुस्तकों में तथा ब्राह्मणोंके मुखसे सुना है कि जैनमत नास्तिक है यह कहना सत्य है वा असत्य? ये हमारी समझमें तो यह कहना और लिखना झूठ है क्योंकि जो कोई नरक स्वर्ग पाप पुण्य ईश्वर को तथा पूर्वोत्तरभावानुयायी अविनाशी आत्मा को नहीं मानतेहैं वे नास्तिकहैं । तथा जिस शास्त्रमें जीवहिंसा, मांसभक्षण, मदिरापान, परस्त्रीगमन करनेसे पुण्य धर्म स्वर्ग मोक्षका फल लिखा है तिन शास्त्रोंके बनाने और मानने वाले नास्तिक हैं जैनमत में तो ऊपर लिखे नास्तिकमतके लक्षणों में से एक भी नहीं है तो फिर जैनमत को नास्तिक कहना झूठ है। इत्यादि ॥

आस्तिक—आस्तिक नास्तिक शब्द संस्कृतभाषा के हैं इन शब्दों के वाच्य-वाचकका सम्बन्ध कुछ नवीन कल्पना कोई नहीं कर सकता जैसा अर्थ जिस शब्दका शास्त्रीय परिपाटी वा लौकिक परिपाटीसे चला आताहै वही सब विद्वानोंको माननीय होताहै । आस्तिक—नास्तिक शब्द कुछ ऐसे नहीं जिनका अर्थ केवल शास्त्रज्ञ लोग ही जानतेहों । किन्तु जिन लोगोंने कुछ भी शास्त्र न पढ़ा न सुना वे ग्रामीण भी निश्चय करते और कहतेहैं कि अमुक पुरुष नास्तिक है क्योंकि वह सर्व जगत्के स्रष्टा अनादि सिद्ध परमात्मा को नहीं मानता । मैं इसी प्रसङ्गमें पहिले भी लिखचुकाहूं कि जगत्स्रष्टा अनादि सिद्ध परमेश्वरको न मानने वाला बड़ा नास्तिकहै। उसका मत ऐसाहै कि जानो वह अपने पिताको भी पिता नहीं मानता जिसने उत्पन्न कर सब प्रकार पालन कियाहै। उसको न मानने वालेको क्या कृतघ्नताका दोष न लगेगा ? इसी प्रकार जगत्कर्ता का न मानने वाला भी बड़ा कृतघ्नी वा नास्तिक कहाताहै। कृतघ्न और नास्तिक शब्द का अर्थ प्रायः मिलताजा ही है आजकल अंगरेजोंमें भी जो ईश्वरको नहीं मानते वे नास्तिक शिरोमणि कहातेहैं। यद्यपि व्याकरणसे साधारण अर्थ नास्तिक

शब्दका इतना ही है कि (अस्तिनास्तिदिष्टं मतिः) इस पाणिनि सूत्रसे ये आस्तिक नास्तिक शब्द बनतेहैं जिसको बुद्धि है वह आस्तिक और जिसको बुद्धि नहीं वह नास्तिक। परन्तु ऋषि सम्प्रदायके अनुसार इतनी विशेषता करनी पड़तीहै कि नहीं है ऐसी जिसकी बुद्धि हो वह नास्तिक और है ऐसी जिसकी बुद्धि हो वह आस्तिक कहाताहै। क्या है क्या नहीं इस अपेक्षामें विचार करना पड़ताहै कि विद्यमान इन्द्रियगोचर पदार्थोंका होना तो सभी मानतेहैं कोई इस में इनकार नहीं कर सक्ता किन्तु जो परोक्ष विषय है उसके होनेमें सन्देह जिसको हो वह नास्तिक है। हमारी समझमें जैन लोग नास्तिक कहातेहैं कि वे सृष्टिकर्त्ता परमात्माको नहीं मानते मुख्यकर ईश्वरके न मानने वाले ही नास्तिक कहातेहैं। यह अर्थ नास्तिक शब्दका सर्वसम्मतहै। जैनी लोग मूर्खोंको बहकाने के लिये और नास्तिक कहानेके भयसे यह भी प्रसिद्ध करतेहैं कि हम ईश्वरको मानतेहैं। पर यह निर्मूल है क्योंकि इनके मतके सिद्धान्त से और इनके मन्तव्य ग्रन्थोंसे विरुद्धहै। ये लोग वास्तवमें नहीं मानते इनके ग्रन्थों में जगत्कर्त्ता आस्तिक सम्मत ईश्वरके माननेका निषेध कियाहै। जैनदेव गुरु सम्यक्त्व उपदेशकके प्रियतत्त्वकारी प्रकरणमें लिखाहै कि—

कर्त्ताऽस्ति नित्यो जगतः स चैकः स सर्वगः सन् स्ववशः स सत्यः।
इमाः कुहेवाः कुविडम्बनाः स्युर्मन्ता न तासामनुशासकस्त्वम् ॥

इस जगत्का कर्त्ता नित्य व्यापक स्वतन्त्र अपने सामर्थ्यसे सबका आच्छादन करने वाला एक सत्य सनातन कोई ईश्वर है इस प्रकारकी कुविडम्बना (नीच बुद्धि) त्यागने योग्यहै। इस प्रकारके ईश्वरका मानने वाला तू (जैनी) नहीं है। अर्थात् जगत्कर्त्ता नित्य व्यापक किसी ईश्वरको मानना जैनोंका काम नहीं और न तू (जैन) ईश्वरविषयक उपदेशोंका शिक्षक है ॥

अब विचारशील पुरुषोंको शोचना चाहिये कि ये जैन लोग मिथ्या लिखने बोलनेमें लज्जित क्यों नहीं होते? जो बातें जिस प्रकारकी इनके ग्रन्थोंमें लिखीं हैं वैसी ही ये लोग मानतेहैं। परन्तु दोषसे बचनेके लिये मिथ्या उपाय रचते हैं कि हम ईश्वरको मानतेहैं इसलिये नास्तिक नहीं। यदि कहैं कि ईश्वर वही है कि जिस अर्हन्देवको हम मानतेहैं तो यह तुम्हारी घरजानी मनमानी बात रही विद्वानोंके सामने कदापि सिद्ध नहीं कर सकोगे क्योंकि उपासनाप्र-

सङ्गमें सब विद्वानोंका मन्तव्य ईश्वर एकही ठहर सकताहै । यह हम भी मानतेहैं कि ईश्वरनाम लोकमें राजाका भी है इसीलिये मनुस्मृतिमें लिखाहै कि—(ईश्वरं चैव रक्षार्थम्) रक्षाकी प्रार्थनाके लिये ईश्वर (राजा) के पास जावे। और कोई अपने पुत्रादिका नाम भी ईश्वर रख ले सकताहै । राजाका ईश्वर नाम सामर्थ्य विशेष धारण करनेसे है । इसी प्रकार पहिले हुए अर्हन् आदि नामक मनुष्योंको जैन लोगोंने ईश्वर कहा हो । उस समयके अन्य साधारणोंकी अपेक्षा उनमें सामर्थ्य विशेष होगा । इसलिये उन को ईश्वर कहना अनुचित नहीं पर राजादिको उपासना प्रकरणमें वा परमार्थ सिद्ध्यर्थ कोई ईश्वर नहीं मानता न मान सकता है । और न राजाके ईश्वर माननेसे कोई आस्तिक बन सकता है किन्तु आस्तिकप्रसङ्गमें अनादि सिद्ध सनातन जगत्कर्त्ता एक ईश्वर मानना ही आवश्यक होताहै। इसी प्रकार से ईश्वरको मानने वाले लोग आस्तिक कहाते और ऐसा न मानने वाले नास्तिकहैं। यदि किसी मनुष्य विशेषको माननेसे आस्तिक होजावें तो जिनको नास्तिक कहोगे वे भी किसी न किसी मनुष्य विशेषको सामर्थ्ययुक्त मानते ही हैं । तो वे भी आस्तिक होजावें फिर नास्तिक कोई न रहे ॥

यदि कहो कि सब आस्तिक होजायं नास्तिक कोई न रहे तो तुम्हारी क्या हानि है । तो कुछ चिन्ता नहीं न कोई हमारी हानि है । किन्तु एक प्रकारकी प्रसन्नता अवश्य है परन्तु जैनी लोग भी ऐसा न मानते और न मान सकते हैं कि सब आस्तिक ही हैं । जो लोग इनके अर्हन् देव को नहीं मानते उन तौतातिती आदि को ये लोग भी नास्तिक कहते हैं । क्या तौतातिती आदि किसी मनुष्य को अपने में गुरु वा राजा न मानते हों यह सम्भव है ? कदापि नहीं इस लिये सब आस्तिक कदापि नहीं हो सकते । सब प्राणी किसी कालविशेष में जैसे धर्मात्मा नहीं होजाते ऐसे ही सब आस्तिक वा नास्तिक भी नहीं हो जाते किन्तु दोनों बने रहते हैं । जब आस्तिकों का बल बढ़जाता है तब नास्तिक दब जाते और नास्तिकों की उन्नति में आस्तिक दब जाते हैं । इसी प्रकार अनादि काल से देवासुर संग्राम चला आताहै । और चला जायगा ॥

अब यहां उपसंहार में यह सिद्ध हुआ कि जो लोग अनादि सिद्ध जगत्कर्त्ता ईश्वर को नहीं मानते वे पूरे नास्तिक हैं। सो जैन लोग भी नहीं मानते जैसा कि

पूर्व इनके ग्रन्थों का प्रमाण दिखलाया गया । इस लिये जैन लोग नास्तिक हैं । यदि ये लोग विद्वानों में प्रतिज्ञा करलें वा सिद्ध कर दें कि हम अनादि जगत्स्रष्टा को मानते हैं तो अवश्य नास्तिक होने से बच सकते हैं । इस अंश में सब विद्वानों का एक मत है कि ईश्वर का न मानने वाला नास्तिक कहाता है और नरक स्वर्ग पाप पुण्य आदि को वह अवश्य मानेगा जो ईश्वर को मानेगा और जो ईश्वर को नहीं मानता वह नरक स्वर्गादि को भी नहीं मान सकता। ईश्वर को मानने वाले मनुष्य में श्रद्धा भक्ति बुरे कामों से भय अच्छे में प्रीति अवश्य होगी यही नरक स्वर्गादि के मानने का चिन्ह है । और (आत्मारामने जो यह लिखा कि जिन शास्त्रों में जीवहिंसा मांसभक्षण मदिरापान आदि लिखे हैं उनके मानने वाले नास्तिक हैं) इससे जैनों का अभिप्राय यह है कि जीव-हिंसादि विषय वेद में लिखे हैं । इसलिये उस वेद के मानने वाले ब्राह्मणादि लोग सब नास्तिक और केवल हम जैन लोग आस्तिक हैं सो यह इन जैनों का बड़ा भारी प्रमाद वा भूल है। ये लोग समझते होंगे कि हमारी बुद्धि ठीक है। पर जिसका विचार ठीक होता वह अनेक विद्वानों के सामने युक्ति प्रमाणों से सिद्ध कर सकता है और अपने सत्य मन्तव्य को कभी छिपा नहीं सकता। प्रकट करने को सर्वथा उद्यत रहता है । इस से इन का मन्तव्य न सत्य है और न इन का वेद को खण्डन करना युक्त है इसी कारण ये लोग अपने मत को छिपाया करते हैं । हम इस का निर्णय यहां इसलिये नहीं करते कि वेद में जीवहिंसादि हैं वा नहीं क्योंकि मुख्यकर इस पुस्तक में यही विषय आवेगा इसी का व्याख्यान मुख्य कर होगा । इस में अन्तिम सिद्धान्त यही है कि जीवहिंसा वेद में नहीं और जीवहिंसक मदिरापानी मांसभक्षकों को हम भी बुरा अवश्य समझते हैं पर नास्तिक शब्द का हिंसक भक्षक से सम्बन्ध कुछ नहीं रहता। जीवहिंसा वा मांसभक्षण में ईसाई मुसलमान अग्रगन्ता हैं पर तो भी ईश्वर के मानने वाले होने से नास्तिक नहीं कहाते इसलिये ईश्वर के न मानने वाले ही मुख्य नास्तिक हैं । सामान्य प्रकार नास्तिक शब्द का विचार करें तो आस्तिकों में भी नास्तिक अधिक निकलेंगे । वह तो "उलटा चोर कोतवाल को दण्ड दे" वैसा व्यापार है कि जैन लोग वेदमतानुयायियों को नास्तिक कहें । वेद में मांसभक्षण मदिरापान आदि कोई भी दुराचरण नहीं लिखा यह जैनों का बड़ा प्रमाद है

लिखने कहने वाले किसी जैनने वेदों को न पढ़ा उस के अभिप्राय वा सिद्धान्त को किसी महात्मा विद्वान् से न सुना केवल अन्धपरम्परा में पड़ के वैसा ही मानते और कहते जाते हैं। ईसाई आदि मांसभक्षण मदिरापान करते हैं और नास्तिक नहीं कहाते इस से हमारा अभिप्राय यह नहीं कि मांसभक्षण मदिरा-पान आदि अच्छे काम हैं। हम लोग स्वयं इन को महानिकृष्ट समझते और खण्डन करते हैं। पर नास्तिक शब्द का अर्थ वही है जो ऊपर लिखा गया। वैसे तो नास्तिक वा मांसभक्षकादि सभी बुरे हैं कई बातें नास्तिकों में वा ईसाई आदि में भी अच्छी हैं पर जो २ ईश्वर को न मानना आदि दोष हैं जिस कारण नास्तिक कहाते हैं वह दोष तो बिना छोड़े छूटना दुस्तर है।

परस्त्रीगमनादि से स्वर्ग वा मोक्ष आर्यों के किसी शास्त्र में नहीं लिखा किन्तु वाममार्ग आदि नीचप्रकृतिकृत ग्रन्थों में लिखा हो वास्तव में वह महानीच कर्म है पर नास्तिक वाममार्गी आदि भी नहीं कहाते क्यों कि वे नास्तिक शब्द के अर्थ में नहीं आते और जो धर्मशास्त्रों में ऐसे वाक्य आते हैं कि (नास्तिको वेदनिन्दकः) वेद के निन्दक नास्तिक कहाते हैं इस का अभिप्राय भी यही है कि वेद का मुख्यविषय आत्मज्ञान वा ईश्वर का वर्णन है जिसने वेद को न माना उसने ईश्वर को भी तिलांजलि दी जो ईश्वर को मानेगा उस को वेद जो उसकी विद्या वा नीति (कानून) है उस को अवश्य माने गा। ईसाई आदि जो वेद को साक्षात् नहीं मानते और अनेक आचरण वा विचार वेद से विरुद्ध करते भी हैं वा उन्हीं शुभबातों से वंचित हैं पर ईश्वर को किसी प्रकार मानते हैं इस लिये उन को परम्परा से कुछ २ वेद भी मानने ही पड़ता है अर्थात् अच्छी २ जितनी बातें उनमें हैं वे वेद ही से किसी न किसी प्रकार गई हैं पर उन से कोई पूछे कि तुम वेद को मानते हो तो कभी स्वीकार न करेंगे यही हठ है कि मानने तो पड़ता है पर स्वीकार नहीं करते कि हम मानते हैं। जैसे सूर्यादि का प्रकाश सब को मानने पड़ता है इसी प्रकार वेद का ज्ञानोपदेश भी सभी को मानने पड़ता है उस से कोई अलग नहीं होस-कता हठ भलेही करते जावें कि हम नहीं मानते पर जिसने परमात्मा का होना ही स्वीकर न किया वह वेद को भी नहीं मान सकता इस लिये वेद का न मानने वाला भी नास्तिक कहाता है॥

आगे जैनी आत्माराम ने ब्राह्मण के साथ ठगबाजी से लोगों को ठगने वाले इत्यादि अनेक दुष्ट विशेषण दिये हैं जिस इबारत के इंगित चेष्टित से सूचित होता है कि ये ब्राह्मण जाति को नास्तिक और जैनों को आस्तिक ठहराते हैं शेष ईसाई आदि दोनों से अलग रहे। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि ये जैन लोग ब्राह्मण समुदाय से सर्वोपरि शत्रुता इसलिये रखते हैं कि ये वेद-विरोधी रहे और ब्राह्मण लोग वैदिक परिपाटी के चलाने वाले रहे इन्हीं वेदमतानुयायियों में से बिगड़ के जैनादि हो गये ब्राह्मणों से ही इनके मत की हानि भी होती रही इस लिये इनको ये पूरा शत्रु समझते हैं मुसलमान आदि से इन की वैसी हानि नहीं इस लिये उन को वैसा शत्रु नहीं मानते। इस विषय में हमारी सम्मति यह है कि बुराई भलाई सब समुदायों में हैं ब्राह्मणों में भी अनेक बुरे हैं पर इससे जैनी भी निर्दोष नहीं हो सकते किन्तु नास्तिक-पन आदि जैनों के दोष ब्राह्मणों के दूषित होने से नहीं मिट सकते। पर इतना भेद है कि ब्राह्मण ईश्वर को मानने से चित्त में भय रखते दया क्षमा पापों से डरना परलोक का भय आदि अनेक बातें मानते हैं और जैन लोगों में दयादि धर्म का लेश नहीं इस से जैनों की अपेक्षा ब्राह्मणों में बड़े २ दोष कम हैं और जिन ब्राह्मणों में बड़े २ दोष हैं उन से ब्राह्मणत्व का कोई सम्बन्ध अर्थात् ब्राह्मणपन और दोषों का हेतुहेतुमद्भाव नहीं है कि जो ब्राह्मण हों वे दोषी हों और जो २ दोषी हों वे २ ब्राह्मण हों किन्तु धर्मशास्त्रों की रीति से छल कप-टादि दुर्गुणयुक्त पुरुषों को ब्राह्मण भी न कहना चाहिये। केवल अच्छे ब्राह्मणों के समुदाय वा कुलों में सामिल रहने से वे लोकरीति से ब्राह्मण कहाते हैं तो भी वे दुर्गुणी ब्राह्मण नास्तिकपदवाच्य नहीं हो सकते क्योंकि नास्तिकपद का अर्थ उन में नहीं घटता और जैनों में घट जाता है ॥

सब मतों वाले अपने २ मतों को अच्छा और अन्य २ को बुरा मानते हैं यह बात्ता वास्तव में वैसी ही है जैसे कूंजड़ी अपने २ बेरों को मीठा तथा अन्य के को खट्टा बतलाती है पर इसका निर्णय करना बहुत दुस्तर है क्योंकि सब मतों वाले जब मत की छानबीन के लिये कुछ पुस्तकादि लिखते हैं तो अपने को पक्षपात रहित मान कर चलते हैं पर उनके आत्मा किसी एक मत के रंग से रंगे होते हैं इसलिये वे अपने मत का आग्रह कभी छोड़ नहीं सकते जहां

तक उनसे बनता है वहां तक अपने मत को निष्पक्ष ठहराते तथा अन्य मतों का खण्डन करते हैं यही शैली आत्माराम जैनी की है पर हमारे विचार में इस शैली से कोई किसी के मत को नहीं मान सकता प्रथम तो यह विचारना चाहिये कि मत क्या वस्तु है और क्योंकर भिन्न २ होजाता है। पहिले समय में मत शब्द का अर्थ यह नहीं था जैसा आजकल प्रचरित है पहिले मत शब्द का अर्थ सम्मति वा राय था जैसे किसी विषय में तुम्हारा क्या मत है किन्तु समुदाय भेद होकर एक समुदाय दूसरे से लड़ता नहीं था। इसी प्रकार के मत प्राचीन व्याकरणादि ग्रन्थों में लिखे भी हैं पाणिनीय व्याकरण में भी अनेक शाकल्य शाकटायनादि ऋषियों के मत लिखे हैं पर वहां पाणिनि और शकटायनादि ऋषियों का पृथक् २ कोई समुदाय नहीं था और न उनमें परस्पर विरोध था किन्तु आजकल मत करके परस्पर विरुद्ध एक प्रकार की सेना समझी जाती है उनमें सर्वत्र अनेक प्रकार के वैर विरोध शान्ति और सुख के मूलोच्छेदक उपस्थित रहते हैं ऐसी दशा में एकता और शान्ति का उपाय शोचना बहुत कठिन है ॥

हमारी सम्मति में एकता और शान्ति का मुख्य उपाय यही है कि जो सर्वतन्त्रसिद्धान्त सब मतों में परस्पर अविरुद्ध सब का माननीय समय के अनुसार राजा प्रजा दोनों का हितकारक विषय जिस को कोई मत वाला बुरा नहीं कहता किन्तु सब अच्छा मानते हैं उस में सब मतों के विद्वान् और बुद्धिमान् एक हों और उस के प्रचार होने का पूरा प्रयत्न करें। जैसे हिंसा का निषेध, सत्य का आचरण करना कराना, चोरी का त्याग, पवित्रता का प्रचार, विद्या की वृद्धि, अविद्या अज्ञान की हानि, दया क्षमा, अनाथ वा दीनों की रक्षा, इन्द्रियों का वश में करना किसी को दुःख न देना सब से प्रीतिपूर्वक यथायोग्य धर्मानुसार वर्त्तना इत्यादि सर्वसम्मत विषयों को सब मतों के विद्वान् और बुद्धिमान् ठीक २ स्वयं स्वीकार करें और सर्वसाधारण से वैसा कराने के लिये उद्योग करें और प्रतितन्त्रसिद्धान्त जो कि मत भेद होने का कारण है उस को आगे रख के विरोध न करें किन्तु कोमलता और सरलता से विचार करें और यह निश्चय समझते रहें कि सर्वतन्त्रसिद्धान्त का ठीक२ एकमत हो कर प्रचार करने से ही संसार का ठीक उपकार हो सकता है और संसार का उपकार निरुपद्रव शान्ति

का फैलना बहुत आवश्यक समझें । इस उक्त प्रकारके वर्त्ताव और प्रचार करने से सम्भव है कि एकता और शान्ति हो सर्वसाधारण को सुख पहुंचे ॥

नास्तिक—वेद बहुत काल के बने हुए हैं परन्तु कपिल, गौतम, पतंजली, कणादादिकों ने जो वेदों को छोड़ के नवीन सूत्र बनाये हैं तिसका कारण तो ऐसा मालूम होता है कि वेद की प्रक्रिया अच्छी नहीं लगी होगी नहीं तो वेदों से विरुद्ध कथन वे अपने ग्रन्थों में लिखते क्योंकि वेदों में तो यज्ञादिक कर्म से स्वर्ग प्राप्ति लिखी है और उपनिषद् भाग में अद्वैत ब्रह्मके जानने से मुक्ति कही है और प्रज्ञानानन्द ब्रह्म का स्वरूप लिखा है ॥

आस्तिक—वेद सृष्टि के आरम्भ से बने चले आते हैं किन्तु बीच के बने नहीं । कपिलादि ऋषियों ने जो नवीन सूत्र बनाये हैं सो वेदार्थ की पुष्टि के लिये हैं किन्तु वेदों का खण्डन करने को नहीं बनाये हैं । अहो ! कैसे आश्चर्य की बात है कि जैनमत के ग्रन्थ बहुत से बने हुए हैं जिन में वेदादि शास्त्रों और अन्य मतों का खण्डन भी लिखा है फिर आत्माराम जी जैनी ने यह अज्ञानतिमिरभास्कर क्यों बनाया ? । जो दोष दूसरों पर लाया चाहते हैं उसमें आप पहिले ही फंसे हैं । यदि कहें कि हमारे पुस्तक इस प्रकार की सरल देश भाषा में नहीं बने जिस से सर्वसाधारण समझ लेते इस लिये अज्ञानतिमिरभास्कर बनाया तो यही समाधान यहां भी समझ लेना था यदि ऐसा होता तो इतनी अज्ञानता प्रकट क्यों होती अन्य लोग कैसे जानते कि आत्माराम जैन कैसे पण्डित हैं ।

अब सुनिये कपिल गोतमादि ऋषियों ने षड्दर्शनादि पुस्तक इसलिये बनाये कि वेद सब विद्याओं का मूल है मूल से सब व्याख्या को समझ लेना सब का काम नहीं इस लीये एक२ विषय की व्याख्या में एक २ शास्त्र बना दिया कि जिससे आगे२सबका उपकार हो। द्वितीय प्रयोजन यह कि जब नास्तिक लोगों की कुछ२ प्रवृत्ति देखी तब विचारा कि आस्तिक लोगों के पास हमारा बनाया शास्त्र एक शस्त्र रहेगा जिससे नास्तिकों के कुतर्क काटे जायंगे। जब नास्तिकों ने यह बात प्रकट की कि यह कार्यरूप वर्त्तमान सृष्टि अनादि है इस का रचने वाला कोई नहीं यह कभी नहीं बनी। ऐसा ही आज तक जैन लोग भी मानते हैं ऐसी बातों को काटने के लिये न्यायादि शास्त्र गोतमादि महर्षियों ने बनाये न्यायसूत्र के प्रथमाध्याय के प्रथम सूत्र पर वात्स्यायन भाष्यकारने लिखा है कि—

तस्मिन् सति स्यातामनुमानागमावसति च न स्याताम्। तदाश्रया च न्यायप्रवृत्तिः। दृष्टान्तविरोधेन च परपक्षप्रतिषेधो वचनीयो भवति। दृष्टान्तसमाधिना च स्वपक्षः साधनीयो भवति। नास्तिकश्च दृष्टान्तमभ्युपगच्छन्नास्तिकत्वं जहाति। अनभ्युपगच्छन् किं साधनः परमुपालभेतेति। निरुक्तेन दृष्टान्तेन शक्यमभिधातुम्॥

इदमत्र तात्पर्य्यम्—दृष्टान्तमन्तरेणानुमानं वेदादिशास्त्रं च स्थापितं न भवति। प्रत्यक्षांशमन्तरेण परोक्षांशो न सिध्यतीति भावः। दृष्टान्तः प्रत्यक्षं प्रमाणमुदाहरणरूपम्। दृष्टपूर्वेण लिङ्ग-लिङ्गिनोः सम्बन्धेन लिङ्गं प्रत्यक्षतयोपलभ्यैव लिङ्गिनोऽनुमानं क्रियते। पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वान्महानसादिवत्। यथा महानसादिधूमवत्त्वाद्वह्निमत्तथा पर्वतोऽपि। महानसादिरत्र दृष्टान्तः। तमन्तरानुमानासम्भवः। तथाऽऽयुर्वेदादिवत्तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्। अत्र वेदप्रामाण्यसिद्धावायुर्वेदादिर्दृष्टान्तः। स्थालीपुलाकन्यायेनायुर्वेदस्योपयुक्तेनौषधादिनेतरस्यावशिष्टभागस्य प्रामण्यं सज्जनैरङ्गीक्रियते तथैवोपयुक्तेन दृष्टफलकेन वेदभागेनावशिष्टस्यादृष्टफलकस्यापि सत्यत्वं स्थापितं भवति॥

एवमेव नास्तिको यदि दृष्टान्तमङ्गी करोति तर्हि तेनोत्पत्तिधर्मकं वसनादिकं किमनश्वरमिति साध्यम्। प्रत्यक्षे किमपि स्थूलं परमाणुसंयोगाज्जातं वस्तु नित्यमनश्वरमिति दृष्टान्तितव्यम्। स च कश्चिद्दृष्टान्तो नास्ति यदि नास्तिको दृष्टान्तं नाङ्गीकुर्यात्तर्हि साधनमन्तरेण परपक्षप्रतिषेधनमसम्भवम्। नहि साधनमन्तरेण साध्यं साद्धुं शक्यम्। नहि शस्त्रमन्तरेण कस्यचित्कर्त्तनं सम्भवति। अतो दृष्टान्तं स्वीकुर्वन्नास्तिको नास्तिकत्वं जहाति॥

भावार्थः—अभिप्राय यह है कि दृष्टान्त के विना अनुमान और वेदादि शब्द प्रमाण की स्थापना नहीं होती। जैसे रसोई खाने आदि में जिस ने देखा है कि अग्नि के होने से ही धूम निकलता है अग्नि के विना धूम की उत्पत्ति नहीं होती जहां २ अग्नि है वहीं धूम निकलता है पर्वत में धूम निकलता देखकर अनुमान होगया कि पाकशालादि के समान यहां भी धूम निकलने से अग्नि है। पाकशाला यहां दृष्टान्त है उस दृष्टान्त ज्ञान के विना पर्वत में अग्नि होने का ज्ञान नहीं होता तो दृष्टान्त के विना अनुमान की सिद्धि नहीं इसी प्रकार आयुर्वेदकी एक ओषधिका उपयोग लेनेसे शेष विधि के सत्य होने का जैसे विश्वास हो जाताहै वैसे ही प्रत्यक्ष फलदायक वेद की किसी आज्ञा का ठीक पालन कर फलप्राप्ति होने से परोक्ष फलदायक भाग पर भी ठीक सत्य होने का विश्वास होजाता है यहां शब्दप्रमाण की सिद्धि में आयुर्वेदादि दृष्टान्त साधनरूप हुआ साध्य में विश्वास का हेतु होताहै। और लोक में भी देखा जाता है कि शब्द व्यवहार में सत्यवक्ता धर्मात्मा विद्वान्के उपदेश पर इसीलिये सब लोग विश्वास करते हैं कि आप्तों के उपदेश से प्रत्यक्ष भी फल प्राप्त होताहै। प्रत्यक्ष फल जिस के उपदेश से हुआ उस का परोक्ष विषयक उपदेश भी अवश्य फलीभूत होगा जैसे लोकमें आप्तोपदेश का एकांश प्रमाण मान सर्वांश मान लिया जाताहै वैसे वेद में भी एकांश प्रत्यक्ष फलदायी के अनुमान से सर्वांश प्रमाण मान लिया जाताहै यहां लौकिक व्यवहार का दृष्टान्त है अभिप्राय यह कि दृष्टान्त के विना किसी विषय की सिद्धि नहीं होती ॥

इसी प्रकार नास्तिक पुरुष यदि दृष्टान्त को स्वीकार करता है तो नास्तिकपन अवश्य छोड़ देगा। क्योंकि नास्तिक होने का मुख्य कारण यह है कि इस सृष्टि का बनाने वाला कोई ईश्वर नहीं यदि कोई कहे कि सृष्टि कैसे बन गई तो नास्तिक कहताहै कि सृष्टि अनादि है कभी बनती बिगड़ती नहीं ऐसी ही अनादि काल से चली आती है। इस विषय में नास्तिक यदि अपने पक्ष को दृष्टान्त से सिद्ध करना चाहे तो उस के मत में कोई दृष्टान्त नहीं। दृष्टान्त प्रत्यक्ष विषयक होता है जिस को सर्वसाधारण ग्रामीण तक समझते हों। पृथिवी संयोग से बनी है इस में परमाणुओं का संयोग प्रत्यक्ष दीख पड़ता है। माता पिता के रजवीर्य आदि संयोग से बने शरीरादि वा सूतों के संयोग से बने कपड़े आदि

सब पदार्थ उत्पत्ति विनाशवान् बनने बिगड़ने वाले दीखते हैं ये सब आस्तिक पुरुष के लिये दृष्टान्त हैं वैसे ही पृथिवी भी संयोग से बनी हुई है वह भी बनने बिगड़ने वाली अवश्य है यदि नास्तिक पृथिवी को नित्य माने तो दृष्टान्त में किसी संयोगी शरीरादि पदार्थ को अविनाशी दिखाना चाहिये सो ऐसा कोई पदार्थ नहीं। और जैसे मकान छप्पर आदि कोई पदार्थ विना किसी के बनाये नहीं बन जाता संसार में संयोगी पदार्थ सब कुलाल आदि कर्त्ता के बनाने से बनते हैं वैसे इस संयोग और नियम से काम देने वाली पृथिवी का बनाने वाला भी कोई अवश्य है वही ईश्वर है वह आस्तिक पक्ष है। यदि नास्तिक पृथिवी के कर्त्ता को नहीं मानता तो विना कुम्हार आदि के किसी घट आदि पदार्थ को बन जाते दिखाना चाहिये। यदि कहे कि घट का तो बनना बिगड़ना और कर्त्ता को हम देखते वा देख सकते हैं तो हम कहते हैं कि संसार में ऐसे भी अनेक पदार्थ हैं जिन का कर्त्ता तुम भी मानते हो पर न देखा और न देख सकते हो। यदि कहो किसी ने देखा तो जैसे उस देखने वाले के शब्दोपदेश से तुम कर्त्ता का होना निश्चय करते हो ऐसे हम भी बता सकते हैं कि अमुक२ पुरुषों ने योगदृष्टिसे जगत्के कर्त्ता को भी देखा है उनके वचन का भी विश्वास करना चाहिये। और घट का बनना बिगड़ना सब ने नहीं देखा अनेक जीव घट की उत्पत्ति से पश्चात् और नाश से पहिले उत्पन्न होकर मर जातेहैं उनकी अपेक्षा क्या घट की उत्पत्ति बिनाश नहीं हैं ? और अनेक पदार्थ ऐसे भी हो सकते हैं कि मनुष्य की उत्पत्ति विनाश होते भी वे बने रहें जैसे पीपल वा ताल आदि के वृक्षको अनेक मनुष्य जन्म भर देखते २ मरगये किसी ने उन वृक्षों की उत्पत्ति विनाश नहीं देखा तो क्या उस को उत्पत्ति विनाश धर्मरहित मानते वा मान सकते हैं? इससे यह कहना भी नहीं बन सकता कि जगत्का उत्पत्ति विनाश हमने न देखा तो नहीं है जिस को हम देख सकें उसी को मानें ऐसा कदापि नहीं हो सकता। इत्यादि प्रकार नास्तिक पक्षों का खण्डन करने और आस्तिक पक्ष का स्थापन के लिये भी कपिल गोतमादि महर्षियों ने साङ्ख्य न्यायादि शास्त्र बनाये हैं जिन प्रयोजनों को आत्माराम जैनी कुछ भी न समझे और उनके विषय में अज्ञानी कासा लेख लिख मारा ॥

देखो कपिल गोतमादि के शास्त्रों को वेद विरुद्ध ठहराते थे उस में कुछ

प्रमाण न देकर वेद में यज्ञादि कर्म से स्वर्गप्राप्ति और उपनिषद् भाग में ब्रह्मज्ञान से मुक्ति कही है लिखा। बुद्धिमानों को विचारना चाहिये कि इन्हों ने विरोध क्या दिखलाया ?। एक तो असम्बद्ध वाक्य लिखे, कपिलादि के शास्त्रों को वेद में भी विरुद्ध कहदिया और प्रमाण कुछ न दिया फिर वेद उपनिषद् का विरोध दिखाने लगे वह भी न बना। यज्ञादि से स्वर्गप्राप्ति और ब्रह्मज्ञान से मुक्ति यह विषयभेद होगया विषयभेद में विरोध नहीं कहाता।

यदि वेद में यज्ञादि से स्वर्गप्राप्ति कही और उपनिषद् में यज्ञादि से मुक्ति कहते तो विरोध होता। वा उपनिषद् में ब्रह्मज्ञान से मुक्ति कही वेद में यज्ञादि से मुक्ति कही जाती तो भी विरोध समझा जाता और इनकी अज्ञानता यह है कि वेद में ब्रह्मज्ञान से मुक्ति नहीं कही। देखो—

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

यह यजुर्वेद का मंत्र है इस में ब्रह्मज्ञान से स्पष्ट मुक्ति कही है। जिन को इतना ज्ञान नहीं कि विरोध क्या वस्तु है न उस को स्पष्ट दिखा सकते हैं न किसी शास्त्र का कुछ ज्ञान है सब में पग अड़ाने को तैयार हैं ऐसे मनुष्य को जैनधर्म वालों ने महामुनिराज लिखा तो आश्चर्य नहीं और क्या है ?।

यत्र विद्वज्जनो नास्ति श्लाघ्यस्तत्राल्पधीरपि।
निरस्तपादपे देश एरण्डोपि द्रुमायते ॥१॥

किसी कवि ने कहा है कि जहां कोई विद्वान् नहीं होता वहां थोड़े बुद्धिमान् की भी प्रशंसा होजाती है अर्थात् साधारण मनुष्य भी बड़ा पण्डित वा बुद्धिमान् मान लिया जाता है। जैसे जिस देश में कोई बड़ा वृक्ष नहीं होता वहां अरण्ड का वृक्ष ही बड़ा वृक्ष दीख पड़ता है॥

नास्तिक—और सांख्यमत वाले यज्ञादिकों को नहीं मानते हैं मानना तो दूर रहा यज्ञ में पशुवध को बहुत बुरा काम कहते हैं। और प्रकृतिपुरुषवादी होने से अद्वैत के विरोधी हैं॥

आस्तिक—आत्माराम जैनी का पाण्डित्य तो पाठकगणों को ऊपर के इसी लेख से ज्ञात हो जायगा कि विरोध क्या पदार्थ है यह भी न समझे और वेद में ईश्वरज्ञान से मुक्ति नहीं लिखी किन्तु यज्ञादि से स्वर्गप्राप्ति कही है। ऐसे लोग

भी सांख्यादि शास्त्रों का सिद्धान्त कहना चाहते हैं। सांख्य वाले जब वेद को मानते और आस्तिक हैं तो यज्ञादि को नहीं मानते यह कहना अयुक्त है। उन के आस्तिक और वेदमतानुयायी होने में सर्वसाधारण के लिये पुष्ट प्रमाण यह है कि कपिलाचार्य के बनाये सांख्यप्रवचनदर्शन को किसी नास्तिक ने अपना शास्त्र नहीं माना अर्थात् चार्वाक बौद्ध सौगत जैन आदि कोई मतवादी नहीं कहता कि हम सांख्यमत के अनुयायी हैं हमारा मत सर्वथा सांख्यशास्त्र के अनुकूल है नास्तिकों के आचार्यों में भी कपिलाचार्य की कहीं गणना नहीं। यदि कपिलाचार्य यज्ञों को न मानते तो वेद को भी अवश्य नहीं मानते जब वेद को न मानते तो ईश्वर को भी नहीं मानते क्योंकि किसी पुस्तक में लिखे विषय को जो न मानेगा वह उस पुस्तक को भी नहीं मान सकता जब वेद को न माना तो ईश्वर को भी न मानेगा जब ईश्वर को न माना तो नास्तिक हुआ सो कोई नास्तिक सिद्ध नहीं कर सकता कि कपिलाचार्य हमारा मतानुयायी है और न आत्माराम जैनी ने कोई प्रमाण दिया कि इस प्रकार वेदमतानुयायी नहीं किन्तु हमारा अनुयायी ऐसे है। और हम कपिलाचार्य जी कृत सांख्यसूत्रों से ही सिद्ध कर सकते हैं कि वेद ईश्वर और वेद में कहे यज्ञादिकों को मानने वाले सांख्य कर्त्ता हैं।

यज्ञ शब्द के साथ अनेक उपाधि लगाई जाती हैं सामान्य कर वे सभी यज्ञ कहाते हैं। जैसे पञ्चमहायज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ, जपयज्ञ, योगयज्ञ, ज्ञानयज्ञ, विधियज्ञ, वा कर्मयज्ञ, वा अग्निष्टोमादि यज्ञ इत्यादि अनेक उपाधि यज्ञशब्द के साथ लगने से अनेक प्रकार के यज्ञ होजाते हैं उन सब का मूल वेद है और मुख्यकर वेद का विषय यज्ञ ही है। सब कुछ कर्त्तव्य धर्मकर्मादि यज्ञ से लिया जाता है इसी विचार से वात्स्यायन ऋषि ने अपने गोतमसूत्रस्थ न्यायभाष्य में लिखा है कि—

यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य विषयः ॥

मन्त्र वेद और ब्राह्मण पुस्तकों में यज्ञ का ही वर्णन है।

आज कल लोक में सामान्यवाचक यज्ञ शब्द से विशेष विधि यज्ञ का ही ग्रहण किया जाता है इसी अशास्त्रीय परिपाटी को देखकर आत्माराम ने भी विधि यज्ञ को ही यज्ञ समझ कर लिखा है कि सांख्यवादी यज्ञ में पशुवध को बहुत बुरा

कहते हैं। पशु आदि जीवों की हिंसा बड़ा अधर्म है उस को सभी धर्मात्मा बुरा कहते आये वा कहते हैं और कहेंगे कोई धार्मिक पुरुष किसी निमित्त पशुहिंसा को अच्छा नहीं कह सकता तो यज्ञादि सर्वोत्तम वैदिककर्म में कैसे अच्छा कहेगा धर्म के साथ अधर्म कौन लगावेगा ? सभी शास्त्रकार हिंसा को बुरा कहते हैं। कोई २ ऐसे प्रमादी स्वार्थी तमोगुणी अधर्मी पुरुष भी इस देश में होगये होंगे जिन्हों ने पशुवध की आज्ञा यज्ञ में दी होगी तो क्या सब लोग स्वीकार कर लेते ?। हमारे देशी मनुष्यों में एक प्रकार का यह भी विश्वास हो गया है कि पूर्व काल में जो २ मनुष्य हुए उन्हों ने जो कुछ किया वह सब धर्म ही था वैसा ही हम सब को करना चाहिये। सो यह विचार अविद्यामूलक है क्योंकि सब समय में सब प्रकार के मनुष्य और सब विधि निषेध बने रहते हैं कभी किसी का सर्वथा नाश नहीं होता किन्तु जब धर्मात्मा लोग अधिक और प्रबल हो जाते हैं तब उन से अधर्मी लोग दब जाते और अस्तप्राय जान पड़ते हैं कि अब अधर्म वा अधर्मी नहीं रहे तब लोकव्यवहार के अनुसार कहने में आता है कि अब सर्वथा धर्म का प्रचार हो गया। उस समय थोड़ा २ अधर्म भी होता रहता है तो भी धर्म के सामने अकिञ्चित्कर होने से उस की गणना नहीं होती ऐसा ही होना सद्युगादि में बन सकता है पहिले सर्वथा अधर्म का नाश और धर्म की ही प्रवृत्ति होती तो उस समय के ऋषि लोग राजदण्ड वा प्रायश्चित्त नहीं लिखते। और यह कभी हो भी नहीं सकता कि अन्धकार न रहे प्रकाशमात्र रह जावे। यदि अन्धकार न रहे तो प्रकाश को प्रकाश मानना वा कहना भी नहीं बन सकता। प्रकाश को अन्धकार मानलें वा कहने लगें तो क्या रुकावट होगी। सापेक्ष सिद्ध दोनों पदार्थ न्यूनाधिकभाव से सदा बने रहते हैं। इसी प्रकार धर्म अधर्म भी सदा से चले आते हैं। पहिले भी दोनों रहे और होंगे। सत्य का बर्त्ताव अब की अपेक्षा पहिले अधिक था इसी कारण इतिहासादि में श्रेष्ठों से भी जो कुछ अनुचित हो जाता था तो उस को भी लिख देते थे उन में अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा मानना चाहिये औराजा रामचन्द्र जी बड़े विद्यावान् नीतिज्ञ बलवान् बुद्धिमान् सत्यवादी धर्मात्मा और विचारशील थे परन्तु सीता जी के वियोग में इतने दुःखी हुए कि व्याकुल होकर वृक्षों तक को पूछते फिरे यदि आजकल कोई ऐसा करे तो महामूर्ख और पागल

कहावेगा क्योंकि वृक्ष उत्तर नहीं दे सकते । किसी कवि ने लिखा है किः—

असम्भवं हेममृगस्य जन्म तथापि रामो लुलुभे मृगाय ।
प्रायः समापन्नविपत्तिकाले धियोऽपि पुंसां मलिनी भवन्ति ॥१॥

सुवर्ण का हरिण जन्म लेकर भागे यह असम्भव है वीर्य रुधिर से मांस का शरीर उत्पन्न हो सकता है। सुवर्णमय हरिण की मूर्त्ति बना भी जावे तो भाग नहीं सकती सो भी रामचन्द्र जी विना बिचार किये सुवर्ण का मृग समझके लोभ में फंसकर मृग को मारने के लिये भागे कि सुवर्ण का मृग मार लेंगे तो बहुत धन मिल जायगा। सो यह संसार की चाल है कि विपत्ति पड़ने के समय बुद्धि-मानों की बुद्धि पर भी परदा पड़ जाता है। इसी प्रकार राजा युधिष्ठिर बड़े सत्यवादी भी एकवार मिथ्या बोले थे ऐसे २ धर्मात्मा विद्वानों से भी कोई २ अनुचित काम हो जाते थे वा होजाते हैं परन्तु उतने ही अंश में उन की बुराई होती वा होनी चाहिये एक दो बुराई से सब भलाई बुराई नहीं हो सकती। और अधर्मी लोग भी पहिले होते ही थे तो यज्ञादि में पशुहिंसक वा उस की आज्ञा देने वाले भी हुए होंगे। पहिले किसी ने अधर्म किया तो हम को भी करना चाहिये यह नहीं हो सकता। अधर्म सदा बुरा और धर्म सदा अच्छा रहता है। जिन ऋषि लोगों ने सुना कि कोई लोग यज्ञ में पशुवध करना कहते हैं उन का खण्डन किया वैसे सांख्यवादी लोगों ने भी कियो और हिंसा रूप महा अधर्म का सब को खण्डन करना चाहिये ॥

सांख्य वाले जिस को प्रकृति पुरुष नाम से कहते उसी को वेदान्ती लोग माया ब्रह्म के नाम से बोलते हैं। अद्वितीय वा अद्वैत शब्द ब्रह्म के विशेषण हैं जिस को वेदान्ती ब्रह्म कहते उसी को सांख्य वाले पुरुष कहते हैं इन में परस्पर कुछ विरोध नहीं किन्तु समझने वालों की न्यूनता है जिन को विरोध दीख पड़ता है वे सब के तथा वास्तविक धर्म के विरोधी हैं। ब्रह्म को सभी लोग एक मानते हैं इस में किसी का विरोध नहीं है ॥

नास्तिक—और गौतम अपने सूत्रों में मुक्त का होना ऐसे लिखता है तथा च गौतम का प्रथमसूत्र ॥

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयव० इत्यादि—

इस सूत्र का तात्पर्यार्थ यह है कि सोला पदार्थ के जानने से मुक्ति होती है मुक्ति में आत्मा ज्ञान से शून्य हो जाता है इत्यादि" ।

आस्तिक—धर्मशास्त्रादि में कहीं २ यह लिखा है कि नास्तिक पुरुष की बुद्धि ठीक नहीं होती उस की बात का विश्वास किसी को न करना चाहिये क्योंकि वह क्षणबुद्धि होता है उसका उपास्य इष्टदेव परमात्मा अपने पिता पर ही विश्वास नहीं इससे कृतघ्न है वह कभी धर्मानुकूल न वर्त्तेगा किन्तु मिथ्यावादी होगा । और यह भी निश्चित है कि जिस की बुद्धि का ठीक नहीं वह किसी बात का ठीक २ विचार भी नहीं कर सकता सो आत्माराम जैनी में यह लक्षण प्रत्यक्ष देख लीजिये कि गोतमसूत्र का अभिप्राय बुद्धि के ठीक न होने से नहीं समझे । गोतमाचार्य के पहिले सूत्र पर वात्स्यायन ऋषिने लिखा है कि:—

किं प्रमाणादीनां तत्त्वज्ञानानन्तरमेव निःश्रेयसं जायते आहोस्विदन्यत्कमपि भवति ॥

इत्युक्त्वा द्वितीयं सूत्रमवतारितम्। तत्रायमाशयः । प्रमाणादीनां षोडशपदार्थानां तत्वज्ञानान् मिथ्याज्ञानमपैति मिथ्याज्ञानापाये दोषा अपयन्ति दोषापाये प्रवृत्तिरपैति प्रवृत्यपाये जन्मापैति जन्मापाये दुःखमपैति दुःखापाये सर्वबाधाभ्यो विमुक्तिरपवर्गो जायते । इत्थं सूत्रद्वयेन मुक्तिरभिहिता नहि गोतमाचार्यः षोडशपदार्थविज्ञानमात्रेण मुक्तिं मनुते ॥

अब विचारना चाहिये कि न्यायदर्शन के प्रथमसूत्र पर वात्स्यायन भाष्यकार ने लिखा है कि क्या सोलह पदार्थों के जानने मात्र से मुक्ति हो जाती वा अन्य भी कुछ होता है ? इस प्रकार द्वितीय सूत्र का अवतरण किया अभिप्राय यह है कि प्रमाणादि षोडश पदार्थों के विज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश उसके नाश में दोषों का नाश उनके नाश में कर्मों की प्रवृत्ति का त्याग प्रवृत्ति के त्याग में जन्म मरण का छूटना और जन्ममरण के छूटनें से सब दुःख छूट जाते हैं और सब दुःखों के छूटने पर मुक्ति होती है इस प्रकार पहिले दो सूत्रों से मुक्ति का वर्णन किया है किन्तु गोतमाचार्य जी ने षोडश पदार्थों के ज्ञानमात्र से मुक्ति

नहीं मानी है इस से आत्माराम का लिखना मन्तव्य नहीं किन्तु विक्षिप्तबुद्धि से लिखा है ॥

नास्तिक—और उपनिषद् की भाष्य टीका में कपिल गोतमादि के मतों का खण्डन भी लिखा है । इत्यादि ॥

आस्तिक—यह वार्त्ता ठीक है कि अद्वैतवाद स्वामी शंकराचार्य जी से चला है जब स्वामी शङ्कराचार्य जीने अनीश्वरवादी नास्तिकों को परास्त करने के लिये केवल ईश्वरवाद स्वीकार किया तब उस पक्ष के जो २ विपक्षी रहे उन का खण्डन किया सो यह अत्यन्त उचित है कि जब तक प्रतिपक्ष का खण्डन न किया जाय तबतक उस पक्षका ठीक स्थापन नहीं होता। अब यह विचारणीय है कि किन कपिल गोतमादि के मतों का खण्डन शंकराचार्य जी ने किया है। कपिल गोतमादि ब्रह्मर्षि आर्य लोग भी हुए हैं जिन की प्रशंसा महाभारतादि इतिहास पुस्तकों में प्रकट है उन्ही लोगों ने न्यायादि शास्त्र बनाये हैं जब वे लोग ईश्वरवादी थे तो उन का खण्डन ईश्वरवादी शङ्कर स्वामी क्यों करते ?। द्वितीय नास्तिक लोग बौद्धादि ने भ्रम डालने के लिये अपने आचार्यों के नाम भी गोतम बृहस्पति आदि रख लिये हैं कि कहीं शास्त्रीय हाल को न जानने वाले साधारण आर्यों में ऐसे वचन पढ़ देंगे कि:—

अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम् । बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः । सर्वदर्शनसंग्रहे चार्वाकः ॥

अर्थः—बृहस्पति जी कहते हैं कि अग्निहोत्र करना तीन वेदों का मानना मन वाणी शरीर इन तीन दण्डों का ग्रहण अर्थात् वश में करना और अग्निहोत्र की भस्म लगाना यह सब बुद्धि तथा पुरुषार्थ से हीन ब्राह्मणों ने अपनी जीविका रची है यह नास्तिकों के आचार्य बृहस्पति का मत है ॥

ऐसा सुनकर अग्निहोत्रादि में कदापि श्रद्धा न रहेगी क्योंकि बृहस्पति जो देवगुरु माने जाते हैं। वे ही जब बुरा कहते हैं तो वास्तव में बुरा ही होगा। इन्हीं गोतमादि का खण्डन शंकर स्वामी जी ने किया है क्योंकि शारीरक भाष्य में भी कई नास्तिक मतों और जैनों की सप्तभङ्गी आदि लीला का खण्डन अच्छे प्रकार किया है। और यदि कोई कहे कि उन्हों ने गोतम कपिलादि के दर्शनों

का नाम लेकर खण्डन किया तो उत्तर यह है कि उन नास्तिक गौतमादि के भी दर्शन हैं उन का खण्डन क्यों नहीं माना जाता। हां ! एक बात अवश्य है कि शंकर स्वामी अद्वैतवादी हैं उन्हों ने जहां२ द्वैतवाद के प्रसंग में गौतमादि ऋषियों का खण्डन किया सो ठीक नहीं क्योंकि शंकर स्वामी जी व्यास के सूत्रों पर टीकाकार हैं किन्तु मूल वेदान्त उन का बनाया नहीं। वेदान्त के विषय में अनेक आचार्यों का मत द्वैतपरक है इसलिये मूल के सामने टीका का प्रमाण नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार आगे अनेक बातें इन्हों ने मिथ्या लिखी हैं जिन के ऊपर लिखना आवश्यक नहीं। आगे कई राजाओं के नाम लिखे हैं कि अमुक २ ने इतने २ यज्ञ किये सो यह ठीक है यज्ञ करना सब आर्यों का मुख्य धर्म था और है अपने धर्म का पालन करना ही चाहिये परन्तु अश्वमेधादि यज्ञ में घोड़े आदि पशु नहीं मारे जाते थे किन्तु घोड़ा छोड़ कर राजा अपने सामर्थ्य को देखते थे कि हमारी बराबरी वा हम से युद्ध करने वाला कोई अन्य पुरुष हो तो घोड़ा को बांध लेवे यदि कोई बांध लेता था तो दोनों में जो जीते वह अश्वमेध करे घोड़ा छोड़ने के कारण अश्वमेध नाम यज्ञ का पड़ा था। जब अश्वमेध कोई राजा करता था तब उस यज्ञ में सब राजा उस के बुलाने पर आते थे उस को राजाधिराज पदवी देते थे। इस का विशेष विचार आर्यसिद्धान्त के १ भाग में लिखा गया है इसलिये यहां बार २ नहीं लिखता ॥

गोमेध का अभिप्राय यह भी है कि जिस यज्ञ में गौ के ही दूध दही खोया घी गोमूत्र आदि पदार्थ काम में लाये जाते हैं वह गौ भी यज्ञशाला में इस लिये बांधी जाती है कि अन्यत्र जाकर विष्ठादि दुर्गन्ध पदार्थ न खावे जिस से दुग्धादि उत्तम हों यज्ञ में बांध कर ऐसे पदार्थ खिलाये जावें जिन से सर्वोत्तम दूध घी आदि पैदा हों अन्यत्र बांधने दूध औटने आदि में कोई अशुद्धि वा जीवजन्तु न पड़े यज्ञ करने वाले ठीक २ शुद्ध पुष्ट घृतादि गौ से उत्पन्न करके ठीक २ यज्ञ करें इस लिये गौ को यज्ञशाला में रखना चाहिये। इसी लिये उस यज्ञ का नाम गोमेध। (गवा मेधो मेध्यः पवित्री कर्त्तुं योग्यो यज्ञो गोमेधः) गौ से पवित्र करने योग्य है इस लिये गोमेध कहाता है। यह प्रसिद्ध है कि यज्ञ के सब पदार्थों में घी मुख्य है उस का मूल कारण होने से यज्ञ के साथ गौ आदि पशुओं का वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में आता है इस अभिप्राय को न समझ के आत्माराम जैनी

भी भटके २ फिरते हैं। पहिले भी किन्ही प्रमादी लोगों ने इन अभिप्रायों को न समझ के मेधृ धातु का हिंसार्थ लगा के गौ आदि पशु यज्ञ में मारे हों यह सम्भव है परन्तु इतने से वह हिंसारूप अधर्म धर्म नहीं हो सकता।

ये जैन लोग अपने को दयाधर्मी कहते हैं सो विचार कर देखें वा इन के मत को शोचें तो इन में दया का लेशमात्र भी नहीं। दया का स्वरूप मनुष्य की आकृति और कार्यों में झलका करता है। दया एक अन्तःकरण का धर्म है। योग के व्यास भाष्य में लिखा है कि (दुःखितेषु करुणाम्) संसार में जो प्राणी दुःखी हैं उन पर कृपा करनी अर्थात् उन के दुःख के हठाने का उपाय और उन के दुःख में अपने को भी दुःखी मानना जैसे अपने दुःख को हटाने का प्रयत्न करते हैं वैसे अन्य के दुःख में भी करे वह दयाधर्मी होसक्ता है। आज काल भारतवर्ष में लाखों मनुष्य अन्न के विना महादुःखी हैं जैनों में प्रायः वैश्य लोग अधिक हैं उन के समीप धन भी अन्य की अपेक्षा अधिक है तो भी कोई अनाथालय सुनने में नहीं आया प्रतिदिन हजारों गौ आदि पशु इस देश में मारे जाते हैं पर जैनों ने कोई विचार अब तक ऐसा न किया जिस से प्रतीत होता कि इन के भीतर दया है। ये लोग जीवहिंसा को नहीं सह सकते॥

इस भारत वर्ष में जो २ ऐसे दयाधर्मी उत्पन्न हुए जैसे श्रीरामचन्द्र जी वा श्रीकृष्णचन्द्र जी आदि जिन का मुख्य कर्त्तव्य धर्मात्मा दीन वा अनाथों की रक्षा ही परमधर्म था जिन के दयाधर्म की प्रशंसा आज तक विख्यात है वे सब वेद-मतानुयायी आर्य थे किन्तु जैनों में ऐसा नामी कोई नहीं हुआ जिस ने लाखों जीवों की रक्षा की हो। और कोई यह आक्षेप करे कि राजा रामचन्द्रादि ने तो अनेक जीवों को मारा भी वे क्यों कर दयालु थे तो उत्तर यह है कि जो किसी जीव को न मारे वही दयाधर्मी है यह विचार ठीक नहीं जो चाहे कि मैं किसी को न मारूं। वह महाअज्ञानी है। और यह सम्भव भी नहीं कि जो किसी को न मारे। क्योंकि स्वाभाविक चलने फिरने श्वास लेने में सैकड़ों जीव मरते हैं तो यह नहीं होसकता कि कोई स्वाभाविक काम को छोड़ दे। और जो धर्म का शत्रु वा अनेक धर्मात्माओं को दुःख देने वाला वा प्रजा की शान्ति को मिटा कर कोलाहल मचाने वाला दुष्ट अधर्मी हो उस को मार डालने से धर्म की रक्षा होती है ऐसे प्राणी को न मारने वा मारने की इच्छा न करने वाला

दयाधर्मी भी पुरुष अधर्मी हैं। जिन का ऐसा मत है कि किसी जीव को न मारना चाहिये उन में कोई पुरुष राज्य की व्यवस्था भी नहीं चला सकता। और जो जैसा होता है वह अपनी प्रशंसा स्वयं नहीं करता किन्तु जैसे सूर्य का उदय होना सब को स्वयं ज्ञात हो जाता है वैसे ही जो धर्मात्मा है वह न कहे तो भी सब लोग स्वयमेव जान लेते हैं बहुधा अच्छे लोग अपनी प्रशंसा आप नहीं करते किन्तु अच्छे काम करते हैं और धर्मध्वजी लोगों की यह चाल है कि वे अधिक कहा करते हैं किन्तु करते कुछ नहीं इसी प्रकार जैन लोग स्वयं दयाधर्मी बनते हैं किन्तु वास्तव में न ये दया का स्वरूप जानते और न वैसा आचरण करते हैं।

नास्तिक—जिस २ काल में दयाधर्मियों का अधिक जोर होता रहा तिस २ काल में उपनिषद् भाग ऋषि बनाते रहे। निवृत्ति मार्ग की प्रशंसा लिखी और वैदिक यज्ञ की निन्दा, तथा च मुण्डकोपनिषत् ॥

इष्टापूर्त्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः। नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं चाविशन्ति ॥

भावार्थः—जो कोई यज्ञादिक वैदिक कर्म को ही अच्छा जानता है वो कर्म का फल भोग के नरक तिर्यंच गति को प्राप्त होता है। इत्यादि—

आस्तिक—यह बात छिपी नहीं है कि जैन लोगों का मत आधुनिक नवीन है। मैं प्रथम ही लिख चुका हूं कि यद्यपि नास्तिक सदा से होते आये हैं तो भी जिन और बुद्ध जो इनके आचार्य हुए जिनके कारण जैन बौद्ध नाम पड़े वे आधुनिक हैं। हण्टर साहबकृत इतिहास में भी बुद्ध का जीवनचरित्र लिखा है अन्य इतिहासों में भी बुद्ध की उत्पत्ति महाभारत युद्ध के बहुत पीछे हुई प्रकट है अर्थात् अढ़ाई तीन हजार वर्ष के बीच में ही जैन बौद्ध मत चले हैं। और उपनिषद् पुस्तकों में जिन ऋषियों के इतिहास तथा नाम आते हैं वे महाभारतादि से भी पहिले हुए यह महाभारतादि इतिहासों और उन २ पुस्तकों में भी प्रसिद्ध है। अर्थात् जैन मत के पुस्तकों से उन की नवीनता और उपनिषदादि आर्ष

पुस्तकों से उन की प्राचीनता स्वयं प्रकट है इस को निष्पक्ष विचारशील सज्जन जन स्वयमेव शोच सकते हैं फिर इन का लिखना (जैनियों का जोर देख कर ऋषियों ने उपनिषद् भाग बनाये) कैसे सत्य हो सकता है ? क्योंकि उपनिषद् पुस्तक जब के बने हैं तब जैनियों का नाम निशान भी नहीं था इस लिये आत्माराम जैनी का लेख सर्वथा असत्य है ॥

और इनकी पण्डिताई पर दृष्टि दी जावे तो संस्कृत का इतना ज्ञान नहीं कि निवृत्ति और निर्वृत्ति शब्दों के अर्थ में क्या भेद है? निवृत्ति लिखना चाहते थे शब्दज्ञान न होने से निर्वृत्ति लिखमारा जिस का अर्थ उन के अभिप्राय से विरुद्ध होगया। निवृत्ति नाम कार्यों से रुकना शान्त होना और निर्वृत्ति कार्यों को सिद्ध करना है तो जो लिखना था उस से सर्वथा विपरीत लिखा गया। ऐसे लोग भी वेद शास्त्रों के समुद्र तुल्य गम्भीराशय के विषय में पग अड़ाते हैं जिन को उस विद्या के प्रचरित शब्दों तक का ज्ञान नहीं तो यह शोचनीय दशा क्यों नहीं ? ॥

यदि कोई निष्पक्ष धर्मात्मा राजा हो तो ऐसे लोगों को अवश्य दण्ड देवे जो उस विद्या के विद्वान् न हो कर और उस के सिद्धान्त पर सम्मति देने को खाली घड़े के तुल्य उछलते फिरते हैं ॥

अब मुण्डकोपनिषद् के मन्त्र का अर्थ सुनिये—इस मन्त्र का भावार्थ जो आत्माराम ने लिखा वह अधूरा है यदि पूरा भावार्थ इस का लिख दिया जाय और किसी निष्पक्ष विद्वान् से पूछा जाय तो मन्त्रार्थ में कोई दोष नहीं निकाल सकता। इस का भावार्थ यह है कि—

भा०—जो लोग संसारी स्त्री धन पुत्रादि सम्बन्धी सुख को ही सर्वोपरि मान के इसी इच्छा से यज्ञादि वैदिककर्म और वापी (बावली) कूप तड़ागादि वा अनाथालय निर्माणादि स्मार्त्त कर्मों को करते और इस संसारी सुख से बढ़ के अन्य कोई ध्यान समाधि वा उपासनादि से होने वाला मुक्ति सुख नहीं ऐसी जिन की बुद्धि है वे लोग संसारी जन्ममरण से छूटकर कभी मुक्त नहीं हो सकते किन्तु संसार में सर्वोपरि वा मध्यम निकृष्ट सुख दुःखों को बार २ प्राप्त होते रहते हैं अर्थात् आनन्दमय ब्रह्म को कभी नहीं पाते ॥

इसी मन्त्र का सारांश भगवद्गीता के तीन श्लोकों में कहा गया है ॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यमनीषिणः ।
वेदवादरताः पार्थ ! नान्यदस्तीति वादिनः ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥

अभिप्राय यह है कि अविद्वान् कामासक्त लोग लालित्य और कोमलता वा रंग रूप पुष्पों से शोभित वाणी कहते हैं कि जो कुछ है वह सब स्वर्ग नरकसम्बन्धी सुख यहीं है इस से आगे मुक्ति सुखादि का वहानामात्र है । धनैश्वर्य स्त्री रत्नादि का भोग स्वर्गरूप है इसी को स्वर्ग मानते हैं इस प्रकार से जिन की बुद्धि संसारी सुख भोग में आसक्त है वे समाधि के अधिकारी नहीं हो सकते उपनिषद् और भगवद्गीता दोनों का सारांश यह है कि मनुष्य को संसारी वा परमार्थ सम्बन्धी दोनों प्रकार के सुख प्राप्ति का उपाय करना चाहिये किन्तु केवल संसारी अनित्य सुखमें ही न भूला रहे संसारी सुखसे परमार्थको सर्वोपरि माने और चौथे आश्रम वृद्धावस्था में एकान्त वास योगाभ्यासादि द्वारा मुक्ति सुख के प्राप्त होने का विशेषकर उपाय करे और अन्त्यावस्था में इसी को अपना परम कर्त्तव्य समझे । और ऐसा न विचार के संसारी सुख को ही जो सदा के लिये सर्वोपरि मान लेता है वह महामूढ़ है । अब इस अभिप्राय को विचार के भद्रपुरुष आत्माराम के सन्मुख रक्खें और पूछें कि आपने वैदिककर्म की निन्दा जो उपनिषद् में बताई सो किस प्रकार हुई वा किस शब्द से निकली यह बताइये तो चीं बोलने के सिवाय क्या कहेंगे ? ॥

नास्तिक—वर्त्तमान में म्लेच्छ यवनप्रमुख मांस खाते हैं परन्तु पुर्वले ऋषि इन से भी अधिक मांसाहारी थे क्योंकि इस काल में हाल फ्रान्स देश में घोड़े के मांस खाने का प्रचार होगया है परन्तु अश्वमेध ऋषि हजारों वर्ष से करते आये हैं इस्से यह मालूम होता है कि ऋषिमण्डल में घोड़े खाने का अधिक प्रचार था । इत्यादि—

आस्तिक—वैसे तो सभी मतों के लोग परस्पर विद्वेष करते कराते हैं पर जैनों के तुल्य परमतद्वेषी और मिथ्यावादी मिलना कठिन है। अस्तु जो हों। मैं अश्वमेध का विचार पूर्व लिखचुका हूं कि किस यज्ञ का किस प्रकार अश्वमेध नाम हुआ। ऋषि लोग अश्वमेधयज्ञ करते थे ऐसा कहने से घोड़े का मांस खाते थे यह अर्थ कहां से आगया? किन्तु जैसा अश्वमेध पूर्व लिखा गया वैसा यज्ञ ऋषि लोग अवश्य करते थे। हम इस बात को स्वीकार करचुके हैं कि पूर्व काल में कोई ऐसे भी राक्षस होंगे जिन्हों ने घोड़ा मारे, खाये हों वा यज्ञ किये हों परन्तु उन को ऋषि नहीं कह सकते। यह महामिथ्या है कि आज कल से भी अधिक मांसाहारी पहिले थे क्योंकि ऐसी प्रसिद्धि कहीं नहीं लिखी द्वितीय यह प्रकट है कि पहिले दूध घी पशु सभी सस्ते विकते थे अब सभी की अत्यन्त तेजी है यदि अब से पहिले मांसाहार अधिक होता तो अब से घृतादि पहिले तेज विके होते। इस से इन का लेख सर्वथा असत्य और पक्षपात से भरा है॥

नास्तिक—जो कहते हैं वेद में हिंसा नहीं तिन्हों ने वेद पढ़े ही नहीं हैं।

आस्तिक—अच्छे रहे! यह तो वही हुआ कि जैसे कोई अंगरेजों से कह दे कि तुमने अंगरेजी पढ़ी ही नहीं तुम क्या जानो वा मुसलमानों से कह दे कि तुमने अरबी फारसी पढ़ी ही नहीं। भला इस कथन को कोई साधारण पुरुष भी ठीक मान सकता है कि जिन कुलों के मनुष्य परम्परा से उस काम को करते हैं वे उस के मर्म को न जानते हों? और जिन ने नाममात्र सुन लिया कभी किसी बाप दादेने भी पढ़ा न देखा वे जानलेवें? कदापि यह सम्भव नहीं। वेदका पढ़ना पढ़ाना तथा उपदेश करना मुख्य काम ब्राह्मणों का चला आया है जैसा वेदका सिद्धान्त वे जान सकतेहैं वैसा अन्य पुरुष नहीं जान सकता जैन लोग वेदको अच्छा जानते होते तो इन का मत ही क्यों भिन्न होता। क्योंकि अनेक मत फैलने का मूलकारण अविद्या है यदि वेदरूप विद्यासूर्य का पूर्ण प्रकाश बना रहता तो कदापि ऐसा कोलाहल न मचता। और इन आत्माराम महात्मा की अल्पज्ञता पर ध्यान दीजिये कि प्रथम तो ये कहचुके कि ये आर्य लोग वेद के नवीन मनमाने अर्थ करते हैं अब लिखते हैं कि उन्हों ने वेद पढ़े ही नहीं यदि कोई किसी पुस्तक को न पढ़ा होतो कदापि उलटे सीधे कैसे भी अर्थ नहीं कर सकता अर्थात् उस पुस्तक के सिद्धान्त विषय में कुछ भी नहीं कह सकता।

विचार का स्थल है कि वेद का अर्थ करने वाले दो वादी प्रतिवादी हैं उन में से एक हिंसापरक अर्थ निकालता है। और दूसरा अहिंसा धर्मको उसी से सिद्ध करता है और वे दोनों हिंसा को पाप अहिंसा को धर्म मानते हैं तो कौनसा अर्थ अच्छा हुआ ?। इस पर सभी विद्वान् यही साक्षी देंगे कि अहिंसा धर्म का प्रतिपादक और वही धर्म और वैसा अर्थ अच्छा है । और जैसे हिंसा निषेध करने वाले का उलटा अर्थ कहा वा माना जाता है वैसा हिंसा सम्बन्धी अर्थ करना उलटा नहीं इस में क्या प्रमाण है ? कदाचित् कहा जावे कि वह अर्थ पहिले का है और यह उससे पीछे बना इस से अनर्थ है सो कहना ठीक नहीं पहिला कथन ठीक हो और पिछला मिथ्या हो यह कथन अयुक्त है । क्योंकि पहिली भूल पीछे निकला करती है इसी कारण पहिले की अपेक्षा पिछले भाष्य टीका विद्वानों की दृष्टि में अच्छे माने जाते हैं और इसमें कुछ प्रमाण भी नहीं कि पहिला किया अर्थ इस कारण ठीक है किन्तु हम लोग इस अंश में प्रमाण दे सकते हैं कि पिछला भाष्य इस २ प्रमाण से सत्य होता है सुनियेः—

१–जो कोई मनुष्य काम करता है उस को अपनी भूल स्वयं नहीं दीखती दीपक के नीचे अन्धकार रहता है यह कहावत भी प्रसिद्ध है । उस किये हुए काम में अन्य पुरुष को दोष दीख पड़ते हैं यदि वह विवेकी हो तो । इस कारण विचारशील पुरुष उन दोषों से स्वयं बचता है उस के किये काम में वैसे दोष नहीं आने पाते इस लिये उस का किया टीका पहिले की अपेक्षा अच्छा होता है । यदि मनुष्य की अल्पज्ञता से दोष होनेका सम्भव मानें तो यह पहिले भाष्य टीका में भी होना असम्भव नहीं कहा वा माना जा सकता ॥

द्वितीय जिस ग्रन्थ का भाष्य वा टीका किया जाय उस के विषय में असली सिद्धान्त भी जान लिया जावे । जैसे दोनों टीकाकार वेद को (अपौरुषेय अनादि होने से सब विद्या और धर्म का मूल है सर्वनियन्ता सर्वसाक्षी सर्वान्तर्यामी नित्य निराकार ब्रह्म की सनातन विद्या है) ऐसा जानते हैं तो जिस का टीका इन सिद्धान्तों में बाधा डाले वही दूषित और जो इन में बाधा न डाले किन्तु इन को पुष्ट करे वह ठीक माना जा सकता है इस से जिन लोगों ने हिंसापरक अर्थ किया वे भूल में अवश्य हैं हिंसा होने से (धर्म का मूल वेद है यह) सिद्धान्त कट जायगा । क्योंकि इस से अधर्म का भी मूल हुआ इत्यादि अनेक कारणों

से श्री स्वामी दयानन्दसरस्वती जी महाराज का किया वेदार्थ अन्य की अपेक्षा अत्युत्तम उपकारी है ॥

कैसे आश्चर्य की बात है कि जो लोग वेद में हिंसा का न होना कहते हैं उन्हों ने वेद नहीं पढ़ा देखा तो अर्थापत्ति से सिद्ध हो गया कि जो लोग वेद में हिंसा सिद्ध करना चाहते वा अभ्युपगम सिद्धान्त से मान लिया कि वेद में हिंसा है उन जैन बौद्धादि ने अवश्य वेद पढ़े होंगे अथवा ऐसा कहिये कि कोई वेद को पढ़े वा न पढ़े पर जो उस में हिंसा कहे वह विना पढ़े भी वेद पढ़ा और जो हिंसा का निषेध करे वह पढ़ा भी नहीं पढ़ा मानना चाहिये । बुद्धिमान् लोग इस वाक्य को अज्ञानी का वाक्य क्यों न समझेंगे ? ॥

नास्तिक—आगमप्रकाश ग्रन्थ करने वाला लिखता है कि शङ्कर स्वामी असल में शाक्त अर्थात् वाममार्गी था । और वाममार्गी भी अद्वैतवादी है क्योंकि रुद्रयामल तन्त्र में लिखा है कि (प्रज्ञानं ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि) इत्यादि पंच महावाक्य (पढ़ के पंचमपात्रं पिबेत्) पांचवां मद्यका प्याला पीजावे इत्यादि ॥

आस्तिक—यदि कोई परमत द्वेषी वा निन्दक होगा तो इन जैनों से बढ़ के होना दुस्तर है । अन्य के विषय में कोई अन्य लिखता है तो ईर्षा द्वेष पूर्वक भी लिखा जाना सम्भव है और आगमप्रकाश ग्रन्थ रचने वाला जब जैनमतानुयायी है तो शङ्कर स्वामी की निन्दा क्यों नहीं लिखता । मैं पाठकों को यह भी स्मरण कराना उचित समझता हूं कि जैन लोग स्वामी शंकराचार्य जी की निन्दा क्यों करते हैं ? । जब शंकर स्वामी जी हुए तब जैन लोगों का मत बहुत फैला था उस समय शङ्कर स्वामी जी ने अपनी विद्या बुद्धि के प्रताप से सब जैनों को अत्यन्त लज्जित और परास्त कर दिया और शारीरक भाष्यादि में जैन मत का मूलोच्छेदन भी अच्छे प्रकार करडाला अर्थात् आजतक जैनमत का इतना खण्डन किसी ने नहीं किया इसी कारण आत्माराम ने शंकराचार्य जी की निन्दा की है । यदि उन के बनाये शारीरक मीमांसा व अन्य भाष्य पुस्तकादि से कहीं प्रमाण देते कि देखो ! यहां उन्हों ने मद्य मांसभक्षण का प्रतिपादन किया वा वाममार्ग को अच्छा बतलाया है तो बुद्धिमान् लोग कदाचित् विश्वास भी कर लेते । शंकर स्वामी विद्या बुद्धि में बड़े प्रतापी हुए उन की पण्डिताई उन के बनाये ग्रन्थों से विद्वान् लोग जानते हैं । यद्यपि हम लोग

उन के प्रतिपादित अद्वैत सिद्धान्त को सत्य नहीं समझते तो भी उन को बहुत अच्छे मानते हैं। यदि वामी होते तो विषयासक्त वा मद्यमत्त होने से थोड़ी अवस्था में विद्या बुद्धि का ऐसा प्रकाश कदापि नहीं होता किन्तु वे पूर्ण बालब्रह्मचारी थे इसी कारण ३२ वर्ष की अवस्था तक १० वा १२ वर्ष में वैदिकधर्मका जीर्णोद्धार और नास्तिक मतों को नीचा दिखाया कई पुस्तकों पर भाष्यादि भी इतने ही काल में बनाये। क्योंकि ३२ वर्ष में से २० वा २२ वर्ष तक तो विद्याभ्यास ही किया होगा १५ वर्ष तक बाल्यावस्थामें रहे इससे दिग्विजय करने और पुस्तक बनाने को १० वा १२ ही वर्ष मिल सकते हैं। आज तक जैनों से भिन्न आर्य लोगों में कहीं प्रसिद्ध भी नहीं कि शंकर स्वामी वामी वा व्यभिचारी थे इसलिये ऐसे २ अनेक लेख आत्माराम ने द्वेष बुद्धि से महा असत्य लिखे हैं विद्वान् लोग ध्यान देंगे तो तत्काल जान लेंगे ॥

हम इस का अनुमोदन करते हैं कि अनेक मतमतान्तर रूप जगज्जाल की वृद्धि से जैसी भारत वर्ष की दुर्दशा आत्माराम ने लिखी उस से भी अधिक हो रही है अनेक लोग यज्ञ में मांस मद्य का प्रयोग करते हैं पर वेद की आज्ञा से नहीं किन्तु अपनी अविद्या से है और जैनमत भी पाखण्ड से रहित नहीं हो सकता चोर को चोर कह देने वाला चोर साहूकार नहीं हो सकता अर्थात् दूसरों के बुरे होने मात्र से हम भले नहीं हो सकते। हम प्रथम ही लिख चुके हैं कि इन की प्रत्येक बात पर हम नहीं लिखेंगे इस लिये आगे देखो ॥

नास्तिक—ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण में क्षत्री को राज्याभिषेक करने की विधि आठवीं पंचिका के बीश में काण्ड में लिखी है सो नीचे प्रमाण मन्त्र है—

इत्यथास्मै सुराकंसं हस्त आदधाति स्वादिष्ठया तां पिबेत्॥ ऐ० ८। २०

अर्थ—राजा के हाथ में मदिरे का लोटा देना और स्वादिष्ठ यह मन्त्र करके पीवे। इत्यादि—

आस्तिक—आत्माराम के पूर्वापरी विचार से जान पड़ता है कि इन्हों ने जो २ पुराणाभास वेद वा वैदिकधर्मानुयायियों की निन्दापरक लिखे हैं वे सब अन्य वेदविरोधियों के पुस्तकादि से लिये हैं। इस प्रसंग में दो बातें हैं एक तो

आर्यों में भी वाममार्गादि मतों के चलाने वाले ब्राह्मणादि अनेक दस्यु वा नीच पुरुष हुए तथा इस समय भी हैं उन को ब्राह्मणादि कहना मात्र ही विरुद्ध है क्योंकि ब्राह्मणादि कोई ऐसी जाति नहीं जैसे मनुष्य एक जाति है। मनुष्य की आकृति बदल कर कभी पशु नहीं हो जाता परन्तु ब्राह्मण नाम भी बदल जाता है जैसे ईसाई मुसल्मान आदि में मिल जावे और वैदिक धर्म को छोड़ देवे तो फिर ब्राह्मण नहीं कहाता इसी लिये धर्मशास्त्रकारों ने भी लिखा है कि—

सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च ।
त्र्यहेण शूद्री भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात् ॥ १ ॥

यह श्लोक मनुस्मृति का है:—अर्थ यह है कि ब्राह्मण मांस बेंचने खाने से तथा लाख और लवण की दुकान करने से शीघ्र ही उसी दिन ब्राह्मणपन से पतित होजाता है और दूध बेंचने से तीन दिनमें शूद्र होजाता है इससे सिद्ध है कि ब्राह्मण किसी भिन्न आकृति रखने वाले समुदाय का नाम नहीं किन्तु कर्मपरक मनुष्यजाति का अवान्तर भेद है कि जो वैसे कर्म न करने और विपरीत करने से बिगड़ जाता है इसी के अनुसार वाममार्गादि के प्रवर्त्तक मांस मद्य के खाने और अन्य को खवाने वाले धर्मशास्त्रों की आज्ञानुसार ब्राह्मण नहीं और न ऐसों को ब्राह्मण कहना वा मानना चाहिये ऐसे लोगों का नाम ही राक्षस वा पिशाचादि रखना चाहिये। ऐसे लोगों ने वास्तव में वैदिकधर्म का नाश किया वेदादि सत्यशास्त्रों की निन्दा कराई और स्वार्थसिद्धि के लिये जहां तक होसका वेद से भिन्न अनेक ग्रन्थों में वाममार्गादि मत की बातें मिला दीं जिससे कि प्रतिष्ठित ग्रन्थों में मिलने से हमारा मत वेदमूलक वा प्राचीन समझा जावे तो बहुत लोग विश्वास कर २ हमारे मतानुयायी बनते जावें सो अनेक स्थलों में तो मांसमद्यादि का प्रसङ्ग ब्राह्मणादि ग्रन्थों में भी डाल दिया है जिस का संशोधन होना इस समय ऐसा कठिन होरहा है जैसा कि आटा वा रोटी में विष मिल गया हो उसका निकालना। और ऐसे लोगों ने बड़े २ ऋषि वा महात्माओं के नाम से अनेक पुराणाभास आदि पुस्तक भी बनाडाले हैं इसी से प्रायः लोगों को प्रमाण मिलजाते हैं। और वेदविरोधी झट उन्हीं को लेकर वेद का खण्डन करने को तत्पर होजाते हैं। जैसे कि आत्माराम जैनी को अवकाश मिला यदि ऐसी दुर्दशा मतों की न होती तो इन को इतना अवकाश कहां मिलता ? ॥

और दूसरी वार्त्ता यह है कि जब अविद्या की वृद्धि और विद्या का प्रचार कम होगया अनेक मत फैले सब वर्णाश्रमी धर्म से च्युत होगये स्वार्थसाधन वा अधर्म में फसे तब से अच्छे वेदादि शास्त्रों का ठीक२ अर्थ समझना कहना भी छूट गया और अनेक प्रकार के मिथ्या अर्थ कर२ के प्रचार कर दिया जिस से विरोधी लोगों को अवकाश मिला उन्हों ने जहां सन्धि पाई खण्डन किया।

अब मुख्य बात ऐतरेय ब्राह्मण का विचार रहा सो यह अनेक बार लिखा है कि आर्यों के शास्त्रों में मद्यमांस खाने पीने का पूरा निषेध है। देखो मनु अ०११

सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते।
तस्माद्ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥१॥
गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा।
यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजातिभिः ॥२॥

अर्थः—मद्य अन्नों का मल [विष्ठा] है क्योंकि सड़ाकर बनाया जाता है। विष्ठा भी अन्न का सड़ा भाग ही कहाती है। तथा पाप का नाम भी मल है और सुरापान चार महापानकों में गिनाया गया है इसलिये ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तीनों को मद्यपान का प्रबल निषेध है। गुड़, आटा और महुआ इन तीन चीजों का मुख्य प्रायः मद्य बनता है अर्थात् यह तीनों प्रकार का मद्य अधिक नशा करता है इस लिये यही मुख्य मद्य वा सुरा है इस को ब्राह्मणादि तीनों वर्ण कदापि न पीवें। इस में क्षत्रिय के लिये भी मद्य का पूरा२ निषेध है।

और देखिये निज क्षत्रिय राजा के लिये मनुस्मृति में कैसा प्रबल निषेध अ० ७

पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम्।
एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥१॥
सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषङ्गिणः।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद्व्यसनमात्मवान् ॥२॥
व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते।
व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः ॥३॥

अर्थः—मद्यपान, द्यूत–जुआखेलना, स्त्रियों में अधिक फंसना और शिकार खेलना अर्थात् जीवों की विना अपराध हिंसा करना ये काम से होने वाले राज्य नाशक दश दोषों में चार अत्यन्त निन्दनीय वा हानिकारक संसार परमार्थ के सुख से रहित करने वाले पाप हैं। और क्रोध से होने वाले तीन दोष जो मुख्य हैं इन सात मुख्य पापों में भी पहिला २ सब से बड़ा पाप है अर्थात् मद्यपान सब से बड़ा पाप है उससे कम जुआ उस से अगले २ न्यून हैं। शास्त्रकी आज्ञा से विरुद्ध अर्थात् धर्मशास्त्रों में जिन को पाप कहा है जिन का करना निषिद्ध किया है उनमें फंसना व्यसन कहाता है उस व्यसन और मृत्यु दोनों में व्यसन बुरा है क्योंकि व्यसनी पुरुष नीच कर्म से सदा नीचे २ गिरता जाता है और व्यसन रहित पुरुष मरजावे तो स्वर्गवासी होता है ॥

अब विचार का स्थल है कि यहां मद्यपान को कैसा बुरा पाप माना है। और कहीं २ इन्हीं शास्त्रों में मद्यपानादि का विधान जान पड़े तो दोनों बातें कदापि सत्य नहीं हो सकती। कोई कहे कि मद्यपान का विधान सत्य मान लिया जावे तो यह अनेक विचारों से विरुद्ध होगा। क्योंकि जैसे मद्यपान को महापातक महानिन्द्य कर्म कहा माना वा मानते हैं वैसे मद्य न पीने वाले को कहीं भी साधारण पातक वा साधारण निन्द्य भी नहीं कहा और न ऐसा कोई विचारशील मानता कहता वा कह सकता है तथा मद्य का विधि निषेध दोनों मिलाये जावें तो अच्छे शास्त्रों में निषेध सहस्रों स्थल में होगा और विधि दश पांच स्थलों में भी मिलना कठिन है। इस से भी निश्चय होता है कि यह विधान शास्त्रकारों की ओर से नहीं किन्तु पूर्वोक्त वाममार्गादि मत चलाने वालों ने उन २ शास्त्रों में मिलाया है। इसी प्रकार ऊपर लिखे ऐतरेय ब्राह्मण में भी किसी ने मद्य का प्रसंग मिला दिया है। इस लिये ऐसा प्रमाण शास्त्रकारों का वा बुद्धिमान् विद्वानों का सिद्धान्त न समझ कर आत्मारामने दिया है सो ठीक नहीं आर्यसिद्धान्त में मद्यपान सर्वथा बुरा है ॥

नास्तिक—जन्मेजय को राज्याभिषेक हुआ सो श्रुति नीचे लिखी है।

तुरः कावषेयो जनमेजयं पारिक्षितमभिषिषेच। ऋग्वेद.ब्राह्मण ८। २१॥

इस से ऐसा मालूम होता है जो ऋग्वेद जन्मेजय के पीछे बना है ।

आस्तिक—बड़े अन्धेर की बात है कि राजा जनमेजय के अभिषेक की कथा ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण में लिखी है उसी का पता दिया फिर दोष लगाया वेद में कि "जनमेजय से पीछे ऋग्वेद बना मालूम होता है" इस अज्ञान का मूल यही है कि अविद्या के प्रभाव से जब हमारे अनेक वेदानुयायियों ने ही भ्रम से ब्राह्मणादि अनेक पुस्तकों को वेद समझ लिया तो जैनादि जो साक्षात् वेद के शत्रु हैं उन को भ्रम होने में क्या आश्चर्य है ? । अथवा ब्राह्मणपुस्तकों की कई तुच्छ बातें वा कथाओं से वेदों की प्रतिष्ठा बिगाड़ने के लिये ही किन्हीं जैन बौद्धादि ने ब्राह्मण पुस्तकों का नाम वेद रक्खा हो यह भी असम्भव नहीं जान पड़ता ॥

नास्तिक—हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय ॥ ऋग्वेदे—

अर्थ—हे सूर्य मेरे हृदय के रोग का अर्थात् कमला को रोग नाश कर इत्यादि मन्त्रों से सिद्ध होता है कि वेद ईश्वर से कहे हुए नहीं है ॥

आस्तिक—इन से कोई पूछे कि इस मन्त्र में ऐसा कौन पद है जिससे तुम को ज्ञात हुआ कि वेद ईश्वर से कहे हुए नहीं । क्या ईश्वर से प्रार्थना करने मात्र से अन्य के बनाये हो गये ? क्या ईश्वर मनुष्यों को ऐसा उपदेश नहीं कर सकता कि तुम इस प्रकार अपने इष्टदेव की स्तुति प्रार्थना करो । क्या गुरु शिष्य से कहे कि "वद—गुरवे नमः" तो यह वाक्य गुरु का उपदेश नहीं माना जायगा ? । हम उक्त जैन महाशय से प्रश्न करते हैं कि यदि आप लोगों का कोई इष्टदेव हो और उसी की ओर से स्तुति प्रार्थना करने के लिये उपदेश किया गया हो तो क्या तुम लोग उस को अन्य का किया मान लोगे ? । वेद ईश्वर से कहे हुए नहीं तो किसने बनाये हैं ? । संसार में कोई ऐसा पुस्तक नहीं जिस के बनाने वाले का नाम प्रसिद्ध नहीं हो । जैसे अन्य द्वीप वासियों के जो पुस्तक हैं उन सब के साथ भी नाम अवश्य लगे हैं । जैसे खिरस्तीय

लोग यीशु को परमेश्वर का पुत्र मानते हैं इसी से उस के उपदेश को ईश्वरवाक्य कहते अर्थात् बाइबिल ईशा का और कुरान महम्मद साहब का बनाया प्रसिद्ध है । इसी प्रकार संसार भर के सब पुस्तकों का समाचार है सब के बनाने वालों का नाम मिल सकता है और अनेकों का तो प्रसिद्ध ही है यदि कोई पुस्तक बना कर अपना नाम छिपाना चाहे तो और भी शीघ्र प्रसिद्ध हो जाता है । संसार में किसी की ऐसी भलाई बुराई छिपती नहीं है । इस से सिद्ध है कि वेद किसी मनुष्य का बनाया नहीं यदि होता तो नाम अवश्य होना चाहिये । यदि आत्माराम जी वा उन के अनुयायियों को ज्ञात हो कि अमुक ऋषि के वा दो चार के बनाये वेद हैं तो उन २ का नाम प्रमाण पूर्वक सिद्ध करें । यदि कहें कि अनेकों के बनाये हैं जिस से किसी का नाम नहीं लिख सकते तो दृष्टान्त देना चाहिये । अर्थात् अनेकों में एक ही प्रधान होता है और प्रधान के साथ गौणों की गणना आ जाती है तब भी प्रधान का नाम होना चाहिये । क्या वेद से भिन्न अन्य पुस्तक कोई अनेक लोगों का बनाया नहीं है ? जिस का दृष्टान्त दिया जाय । यदि है तो दृष्टान्त अवश्य देना चाहिये क्योंकि दृष्टान्त के विना पक्ष की सिद्धि होना दुस्तर है । यदि ऐसा अन्य कोई पुस्तक नहीं तो वेद भी अनेकों का बनाया नहीं हो सकता । क्योंकि जगत् में ऐसा अन्य भी कोई कार्य वा वस्तु नहीं है जिस का दृष्टान्त द्वितीय न मिले । और जिस का दृष्टान्त नहीं वह वस्तु जगत् में विद्वान् लोगों को माननीय कदापि नहीं हो सकता ॥

नास्तिक—तथा वेद की श्रुतियां परस्पर विरुद्ध भी हैं जिन में से कुच्छक नीचे लिखी जाती है—

दिवोदासाय नवतिं च नवेन्द्रः पुरो व्यैरच्छंबरस्य। ऋ० अ० २। अ० ६। व० २४। मं० ६

अध्वर्यवो यः शतं शंबरस्य पुरो बिभेदात्। ऋ० अ०२। अ० ६। व० १३। मं० इत्यादि॥

अर्थ—इन्द्र नाम राजा था तिसका मित्र दिवोदास नाम करके था तिस की तरफ से शंबर नामा दैत्य था तिसके साथ इन्द्र बहुत बार लड़्या। तिस विषय में वेद में कथा बहुत जगें आती है किसी जगें वेद में इन्द्र जो है सो पर्जन्याधिपति देव है. ऐसे भी कहा है शंबरासुर दैत्य के निमानवे गाम इन्द्र ने उज्जड़ करे। ऐसे एक मन्त्र में कहा है। और दूसरे मन्त्र में सौ गाम उज्जड़ करे की कथा है। और तिसरे मन्त्र में नब्बे गाम उज्जड़ करे की कथा है इत्यादि॥

आस्तिक—यह सब भ्रम अल्पाशय लोगों के अर्थ देखने से हुआ होगा। क्योंकि हमारे देशी अनेक टीकाकार ऐसे अल्पाशय होगये जिन्हों ने वेद का मुख्य अभिप्राय न समझ कर उसमें पुराणों की कथा का आशय निकाला। और पुराणोंकी कथा भी वेदके ठीक न समझनेसे ही बनी हैं। बड़े आश्चर्यकी बात है कि जब वेद के टीकाकार सायणादि संस्कृत के विद्वान् थे और निरुक्तादि के प्रमाण भी उन लोगों ने अपने भाष्यों में कहीं २ रक्खे हैं जिस से निरुक्त का देखना भी प्रतीत होता है फिर उन लोगों ने वेद के कोश निघण्टु निरुक्त से विरुद्ध वेद का अर्थ क्यों किया ?। अर्थात् निघण्टु में शम्बर नाम दैत्य का कहीं नहीं है। इस अज्ञान का कारण अनुमान से ज्ञात होता है कि सायणादि से पूर्व भी वेद पर कोई भाष्य होंगे जिन्हों ने पुराणों की कथाओं से वेद का अर्थ मिलाया होगा उन्हीं के आश्रय से सायणादि ने वैसा भाष्य किया। यदि केवल निरुक्त के आश्रय से करते तो वैसा कदापि न होता। और उन पहिले भाष्यकारों को वेद का मुख्याशय न समझने से भ्रम हुआ होगा इस से उन्हीं लोगों ने पुराण बनाये होंगे। और यदि वेद की अप्रतिष्ठा वा हानि करने के लिये किसी ने जानकर ऐसा भाष्य पहिले किया होगा तो यह काम बौद्धादि नास्तिकों का ही हो सकता है। अस्तु जो हो प्रस्तुत यह है कि निघण्टु में शम्बर नाम मेघ का और निरुक्तादि में इन्द्र नाम सूर्य का है। मेघ के आकार जो नगर—(शहरों) के तुल्य बने हुए दीख पड़ते हैं उनको सूर्य तोड़ता है सो ठीक ही है। वस्तुतः इस की कथा बीसों स्थल में होगी इससे किसी प्रकार का पुनरुक्ति दोष नहीं आता। एक बात वा विषय का जिस २ प्रकरण के साथ सम्बन्ध वा मेल होगा उस २ के साथ उसका वर्णन आना सम्भव है। जब इस प्रकार वेद के गम्भीर आशय में किसी प्रकार का दोष वा तुच्छता नहीं आती किन्तु एक

संसार का उपकार करने वाली विद्या वेद से निकलती है तो वेद में दोष लगाने वाले दूषित क्यों नहीं हुए ? अर्थात् राज दरबार में भी निर्दोष को दोष लगाने वाला अपराधी माना जाता है । यदि कहें कि तुम्हारे देशी वेदमतानुयायी पौराणिक लोगों ने ऐसा वेद का आशय निकाला उसी के अनुसार हमने भी लिख दिया इससे हम दूषित नहीं ऐसा कह कर भी आत्मारामादि जैन लोग नहीं बच सकते क्योंकि अज्ञानी का साथी अज्ञानी चोर का साथी चोर और दूषित का साथी दोषी समझा जाता ही है इसी के अनुसार वे भी दूषित अवश्य हैं । यदि वेद को ठीक २ समझने की इच्छा हो और निर्दोषी बनना चाहें तो सनातन आर्यों के सिद्धान्त का आश्रय लेवें जिससे मतवाद के जालों से बचें और उन के संसार परमार्थ दोनों सुधरें ॥

नास्तिक—तथा इस इन्द्र ने त्रिकद्रुक यज्ञ में मदिरा बहुत पिया तिस के मद से सर्प मार गेरा ऐसे एक मन्त्र में है सो नीचे लिखा है—

त्रिकद्रुकेष्वपिबत्सुतस्यास्य मदे अहिमिन्द्रो जघान॥ अ० २ अ० २ व० १५ मं० १ इत्यादि

आस्तिक—हमने जो पूर्व लिखा है उस से आत्माराम जैनी की अज्ञानता तो पाठकों को प्रगट हो ही गयी होगी कि इन की ऐसी ही वेद में दोष लगाने वाली सब कथा होनी सम्भव हैं तथापि थोड़ा लिख देताहूं । यदि इनसे कोई पूछे कि संस्कृत में मद्य के कितने नाम हैं और जितने नाम हैं उन में से इस मन्त्र में कौन शब्द मद्य का वाचक है ? तो वैयाकरणखसूचि के तुल्य इधर उधर देखने और शिर खुजलाने के विना क्या उत्तर देंगे ? । यदि किसी को निश्चय करना हो तो वह आत्माराम जी से वा उन के अनुयायी किसी जैनी से पूछे कि तुम इस कथन को सत्य करना चाहते हो तो किसी कोष वा व्याकरणादि से सिद्ध करो कि इस मन्त्रमें अमुकशब्द मद्य का वाचक है और जब कोई शब्द वैसा नहीं तो अपने अज्ञान को स्वीकार करके उस लेख "इन्द्र ने मदिरा बहुत पिया तिस के मद से सर्प मार गेरा" पर हरताल फेरो । जिनको संस्कृत में इतनी योग्यता नहीं कि जो शब्द के अर्थ को जान सकते हों वे लोग जब वेद का अर्थ करने चले फिर इस देश की दुर्दशा क्या न होगी ?। इस में कुछ संदेह

नहीं कि वेद के संस्कृत की शैली आज तक की संस्कृत परिपाटी से विलक्षण है इस कारण भी प्रायः लोगों को भ्रम होता है। अब इस मन्त्र के आशय पर ध्यान दीजिये—इस में सुत शब्द है जो किसी यन्त्रादि द्वारा खीचे हुए रस का वाचक है "षुञ्—अभिषवे" धातु से सुत शब्द बनता। और सूर्य की किरणों द्वारा जो वृक्ष वनस्पति आदि का रस खींचा जाता और आकाश में भाफरूप से ठहरता है वह भी सुत है उस को सूर्य खींचता है इस कारण पीने का व्यवहार किया गया अर्थात् वेद की शैली के अनुसार प्रत्येक जन शोषने वा खेंचने वाले जड पदार्थ में जल पीने का व्यवहार कर सकते हैं। इसी कारण अहि नाम— मेघ को काट२ पृथिवी पर गिराता है अर्थात् यदि पृथिवी से सूर्य जल न खींचे तो आय के बिना व्यय न हो सकने के समान वर्षा भी न हो। परन्तु ऐसे मन्त्रों में जो चेतन की ओर झुकने वाले पद रक्खे हैं। वे सब अलङ्कार दिखाने के प्रयोजन से हैं। बड़े आश्चर्य की बात है कि इन लोगों ने वेद का कोश निघण्टु भी नहीं देखा जहां स्पष्ट अहि नाम मेघ का रक्खा है। अब इस प्रकार के मन्त्रों का अर्थ वा उत्तर बार२ हम नहीं लिखेंगे कि जिन में इन्द्र वा दैत्य सर्पादि के नाम से कुछ वर्णन होगा किन्तु अन्य पर यथोचित लिखूंगा ॥

नास्तिक—तथा वेद में पुरुष स्त्री कुमारी कन्या का भी होम करना लिखा है। तैत्तिरीय ब्राह्मणे। ३ कांडे ४ प्रपाठके १९ अनुवाक में।

आशायै जामिम्। प्रतीक्षायै कुमारीम्।
प्रमुदे कुमारीपुत्रम्। आराध्यै दिधिषूपतिम्॥

अर्थः—आशा के वास्ते जिस स्त्री का ऋतु धर्म जाता रहा होवे, भोग करने योग्य नहीं रही होवे तिस का बध करना चाहिये प्रतीक्षा के वास्ते कुमारी कन्या का बध करना चाहिये। इत्यादि ॥

आस्तिक—यहां यह जनश्रुति—कहावत ठीक चरितार्थ होती है कि— "अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः" अन्धे के पीछे जैसे अन्धे चलें, अर्थात् अज्ञानी का आश्रय लेने वाला कभी सुख को प्राप्त नहीं हो सकता। हमारे अनुमान में वेद का ऐसा अर्थ किसी युक्ति से वेदानुयायी बन कर प्रच्छन्न नास्तिकों ने

किया है कि जिस से उन की अप्रतिष्ठा लोक में छाजावे । यद्यपि तैत्तिरीय ब्राह्मण जिस के प्रमाण से कुमारी आदि का बध दिखाया गया है वह वेद नहीं और इसी कारण यह कह कर कि "वेद में कुमारी कन्या का भी होम करना लिखा है" तैत्तिरीयब्राह्मण का प्रमाण देना विरुद्ध है । प्रतिज्ञा की, वेद की प्रमाण दिया ब्राह्मण का यह परस्पर विरुद्ध है । तथापि इस प्रकार का लेख यजुर्वेद के तीश अध्याय में है उस का समाधान आर्यसिद्धान्त भा० ३ अं० ७ से लेकर कई अङ्कों में छपो है । उस को यहा फिर लिखना "पिष्टपेषण" के तुल्य दूषित होगा इसलिये उस का आशयमात्र जता देना ठीक होगा । जब यजुर्वेद मूल संहिता में भी ऐसा पाठ है तो उसी का आशय लेकर तैत्तिरीय ब्राह्मण में लिखा जाना सम्भव है और उस मूल के समाधान के साथ उस का भी समाधान जान लेना चाहिये । आशय उस का यह है कि यहा मन्त्रों में किसी प्रकार की क्रिया पढ़ी नही है और प्रायः यह नियम सब ग्रन्थों का है कि जहां किसी पद की न्यूनता के विना वाक्यार्थ ठीक नहीं बनता वहां पूर्वप्रकरण से उन २ उपयोगी पदो की अनुवृत्ति लाते हैं । यदि अनुवृत्ति लाने की योग्यता वा आसक्ति नही पाई जाती तो उन २ पदो का अध्याहार करके वाक्यार्थ पूरा किया जाता है । अर्थात् जब अनुवृत्ति लाकर कार्य बन सकता हो तो ऐसी दशा में अध्याहार करना शास्त्र की मर्यादा से विरुद्ध है सो "ब्रह्मणे ब्राह्मणम् । प्रमुदे कुमारीपुत्रम्" इत्यादि सब वाक्यो में उसी अध्याय के पूर्व "विश्वानि देव सवितर्दु०" मन्त्र से [आसुव । परासुव) क्रियाओं की अनुवृत्ति आती है । उन का तात्पर्य यह है कि वेदविद्या के प्रचार आदि धर्मसम्बन्धी शुभकर्मों के लिये ब्राह्मणादि सत्पुरुषों को परमेश्वर उत्पन्न करे वा ऐसी प्रेरणा करे जिस से धर्म की वृद्धि हो । और व्यभिचार चोरी आदि दुष्ट कर्म करने वाले दुराचारियों को दूर करे । और हम लोग परस्पर भी ऐसा उद्योग करते रहैं कि सज्जनों की वृद्धि सहायता और उन का उत्साह बढ़ा कर धर्म की उन्नति सज्जनो के द्वारा होती रहे । और धर्मात्माओं को निरपराध दुःख देने वाले धूर्त धर्मध्वजी दुष्टों को किसी प्रकार की सहायता न देकर किन्तु यथाशक्ति उन को दण्ड देकर बुराइयों से बचाने का उद्योग और परमात्मा से वैसी प्रार्थना सदा करते रहैं । इस प्रकार का उत्तम आशय वेद का है और वैसा ही तैत्तिरीयब्राह्मण का जानो । द्वितीय एक बात यह भी है कि—

"नो हिंस्याहिंस्वा भूतानि" "मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकम्"

इत्यादि वेद के सहस्रों प्रसङ्गों में हिंसारूप अधर्म का निषेध और अहिंसा धर्म के पालनार्थ स्पष्ट आज्ञा दी गयी है तो क्या वही हिंसा की आज्ञा देवे यह सम्भव है ? अर्थात् कदापि नहीं । तो यह विचार सर्वथा विरुद्ध है कि वेद में मनुष्य को मारने वा होम करने की आज्ञा है ॥

नास्तिक—वर्षा होने के लिये मनुष्य की बलि, विधवा का सती होना । समाधि लेने के नाम से जीते मनुष्यों का गड़वाना, पहाड़ों से गिर कर मरना, हिमालय के बर्फ में गलना, काशी करवट लेना, जल में डूब कर मरना, इत्यादि सर्व हिंसक काम ब्राह्मणों ने चलाये हुए हैं ॥

आस्तिक—इस का उत्तर यदि हम यह देवें कि अनेक नास्तिकपन आदि बुराई जैनियों ने चलाईं वेद की निन्दा का मूल कारण ये ही लोग हैं इत्यादि खोज़ करने वा ध्यान देने से ऐसे बहुत दोष मिल जांयगे जिनकी प्रवृत्ति जैन मत से सज्जन लोग अवश्य स्वीकार करेंगे । तो ठीक नहीं जान पड़ता क्योंकि तब तो "चोर चोर मोसियाते भाई" की जनश्रुति घट जावेगी कि जब किसी ने किसी से कहा कि तुम अमुक समय अमुक की चोरी करते थे तब उस ने उत्तर दिया कि तुम भी तो अमुक स्थल में चोरी करते थे। यदि ब्राह्मणों ने अनेक बुराईं चलाईं तो इतने से जैन भी धर्मात्मा नहीं हो सकते । यह हम भी मानते हैं कि पाप पुण्य दोनों काम मनुष्यों से ही जगत् में चलते हैं अर्थात् पाप पुण्य के कर्त्ता मनुष्य ही हैं। और सब समुदायों वा मतों में पापी और पुण्यात्मा दोनों प्रकार के मनुष्य हैं । ब्राह्मणों में भी सब प्रकार के मनुष्य हुए और हैं । अनेक पापी स्वार्थी लोभी लालची धर्मध्वजी लोकदम्भक भी हैं। अनेक धर्मात्मा परोपकारी, सत्यवादी, दयालु, ईश्वरभक्त, ज्ञानी, योगी आदि भी हुए वा हैं । इस दशा में एक ब्राह्मण समुदाय को सामान्य कर बुरा कहना केवल द्वेष वा पक्षपात है । जो मनुष्य स्वार्थ वा ईर्ष्या द्वेषादि को आगे करके चलता है वह किसी मत में क्यों न हो कभी धर्मात्मा नहीं होगा और जो दया दान दीनरक्षा परोपकार आदि को आगे करके जगत् में वर्त्ताव करता है वह सभी मतों में रह कर धर्मात्मा कहा जायगा । मुझ से कोई पूछे कि जैन लोग कैसे हैं तो कदापि उन के गुणों को मैं दोष नहीं कह सकता । और मुझ को स्वीकार करना पड़ेगा कि

जैनियों में भी धर्मात्मा हैं वा हो सकते हैं। कोई यहां प्रश्न कर सकता है कि तुम लोग जब जैनों को धर्मात्मा और नास्तिक दोनों कहते हो सो कैसे घटेगा क्या नास्तिक होने पर धर्मात्मा बना रहेगा ? इसका उत्तर यह है कि जैनो में जो लोग धर्मात्मा ठहरेंगे वे वास्तव में नास्तिक न होंगे किन्तु उन के समुदाय में रहने से भले ही कोई कहे इसी प्रकार आस्तिकों में भी अनेक नास्तिक भरे हैं। इस कथन का अभिप्राय यह है कि भले ही ब्राह्मणों में जो पापी हुए उन्हों ने बलिदानादि चलाये हों पर इतने से सब ब्राह्मण समुदाय दोषी नहीं ठहर सकता। अनेक ब्राह्मणों ने पहिले वा इस समय परोपकार दान दया आदि धर्म चलाया वा चला रहे हैं। अर्थात् धर्म के प्रवर्त्तक भी तो ब्राह्मण ही रहे और हैं तो और अधर्म के कारण जैसे बुराई दिखायी वैसे धर्म चलाने का धन्यवाद वा भलाई भी तो दिखानी चाहिये थी सो केवल द्वेष के कारण अवगुण तो आत्माराम जी ने देखे पर ब्राह्मणों के गुणों पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। अर्थात् इस समय भी विद्या—वेदादि शास्त्रों के पठनपाठन की प्रवृत्ति, दान, दया, सत्य, क्षमा वा पवित्रता तथा पाप से घृणा इत्यादि अच्छे काम जितने प्रवृत्त होरहे हैं उन के चलाने वाले अन्य जातियों की अपेक्षा ब्राह्मणों में ही अधिक मिलेंगे। जो महाशय इस पर निष्पक्ष होकर ध्यान देंगे उन को इस का ठीक अनुभव हो जायगा। इस कथन से मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि इस समुदाय में जो २ दोष प्रविष्ट होगये हैं उन का भी समाधान करूं।

दशहरा में भैंसे बकरे आदि के कटने और वामी लोगों के मतसम्बन्धी अनेक दुष्टकर्मों के भारतवर्ष में प्रचरित होने में ब्राह्मण लोग भी कारण हैं परन्तु यह ब्राह्मण समुदायमात्र पर दोष नहीं आ सकता। अर्थात् इस देश में हिंसादि अधर्म और उनके चलाने वाले ब्राह्मणादि दोनों ही बुरे हैं और इस अंश में आत्माराम जैन और हम लोगों की एकानुमति है केवल भेद वा विरोध इतना है कि ये आत्मारामादि जैन लोग ब्राह्मण समुदायमात्र को दोषी ठहराते हैं सो इन का अन्याय वा पक्षपात है क्योंकि किसी समुदाय में सब मनुष्य दुष्ट वा अधर्मी नहीं हो सकते। परन्तु इतने से ये जैन लोग भी सब धर्मात्मा वा शुद्ध नहीं हो सकते अर्थात् हम भी यदि सभी जैनों को दोषी वा पक्षपाती ठहरावें तो हमारा दोष होगा। परन्तु जैन मत का उद्देश्य ठीक २ शुद्ध नहीं

यह बात हम स्पष्ट कह सकते और सिद्ध कर सकते हैं । हां! जैन मत में एक अहिंसाधर्म की विशेषता है सो वेदानुकूल है । उस में भी अति हो जाना बुरा, हानिकारक है क्योंकि यदि राजादि चोर, दुष्ट वा हिंसक आदि को न मारें तो राज्यादि व्यवहार भी नहीं चल सकता । तथा सर्पादि को अवश्य मार डालना चाहिये । इत्यादि हिंसा अधर्म नहीं है ॥

नास्तिक—आगे ऐतरेय ब्राह्मण और तैत्तिरीय आरण्यकनामक वेद में तन्त्र और पुराणों के समान राजा के सब शत्रुओं के मारने और भगाने के लिये यन्त्र वा प्रयोग करने आदि हिंसा के अनेक विधान हैं ॥

आस्तिक—यहां हमने आत्माराम जी का आशयमात्र लिखा है किन्तु ठीक२ पाठ लिखने से बढ़ता था । और आत्माराम जी ने ब्राह्मण तथा आरण्यक का पाठ भी प्रमाण में रक्खा है । हम यह पहिले ही लिखचुके हैं कि तैत्तिरीयब्राह्मण वा तैत्तिरीय आरण्यक आदि वेद नहीं किन्तु वेदों के प्राचीन व्याख्यान हैं उनमें भी अनेक प्रकार की लीला स्वार्थी लोगों ने भर दी है। इस लिये ब्राह्मण वा आरण्यक को वेद मान कर प्रमाण देना जैनी महाशय की भूल है । जब वे पुस्तक वेद ही नहीं तो विशेष उत्तर देने की अपेक्षा भी हम को नहीं है परन्तु इतने से पाठक महाशयों को यह भी न समझ लेना चाहिये कि उन पुस्तकों में सब ऊटपटांग ही भरा है किन्तु अधिकांश उन में अच्छी वेदानुकूल वार्त्ता हैं और कहीं२ लोगों ने मिला भी दिया है । शत्रु को मारने के लिये प्रायः उपाय लिखे हैं उन को लोगों ने ठीक२ न समझ कर तन्त्रों के समान प्रयोग समझ लिया । यह समझने वालों का दोष है किन्तु पुस्तकों का दोष नहीं ॥

नास्तिक—कितनेक कहते हैं, ईश्वर मनुष्यों को कहता तुम इस रीति से मेरी प्रार्थना करो. यह कहना झूठ है. क्योंकि वेदों में किसी जगे भी नहीं लिखा है कि ईश्वर मनुष्यों को कहता है कि तुम ऐसे प्रार्थना करो. ॥

आस्तिक—इस लेख का सङ्केत आर्यसमाजस्थ लोगों की ओर है । और आगे स्पष्ट ही स्वामी दयानन्दसरस्वती जी का नाम लिखा है । अब विचार का स्थान है कि जब वेद ईश्वर की ओर से ठहर जावे कि उस सर्वशक्तिमान् परमात्मा की अनादि विद्या है और प्रत्येक कल्प के आरम्भ में वह मनुष्यों को उपदेश कर देता है कि जिस के अनुसार आचरण करने से मनुष्यों का

कल्याण होवे तो फिर क्या सन्देह रहा कि वह परमेश्वर कहता है कि तुम ऐसे मेरी प्रार्थना करो । अर्थात् जब वेद के सैकड़ों मन्त्रों में साक्षात् निराकार ईश्वर की प्रार्थना है और वेद ईश्वर की ओर से है तो स्पष्ट सिद्ध हो गया कि ईश्वर हम लोगों को उपदेश करता है कि तुम लोग मेरी इस प्रकार प्रार्थना करो । जब कोई गुरु अपने शिष्य से कहता है कि "वद, गुरवे नमः" तो इस वाक्य में वद क्रिया को बुलवाने की कुछ आवश्यकता नहीं है । तथा जब गुरु के साथ जैसे २ विनयपूर्वक वर्त्ताव आदि करना योग्य समझा जाता है वैसा २ शिष्य को बता दिया उस के साथ ऐसे वाक्य "तुम अपने गुरु के साथ ऐसा २ व्यवहार करो" का उपदेश करना वा पुस्तक में लिखना आवश्यक नहीं होता । देखो ! मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों के जिन २ प्रसङ्गों में गुरु आदि के साथ शिष्य को जैसा २ व्यवहार करना चाहिये वैसा लिख दिया गया किन्तु "शिष्य गुरु से ऐसा कहे" यह वाक्य नहीं लिखा परन्तु इस के विना उस की कोई विशेष हानि भी नहीं समझी जाती और न किसी को शङ्का होती है । इसी प्रकार यहां वेद में भी जब ईश्वर की ओर से मनुष्यों के लिये उपदेश का होना सिद्ध हो गया तो फिर कुछ आवश्यकता नहीं कि वैसा वाक्य लिखा जावे । और जो वेदभाष्यकर्त्ता स्वामी दयानन्दसरस्वती जी ने लिखा है कि "ईश्वर मनुष्यों को कहता है कि तुम ऐसे प्रार्थना करो" यह किसी मन्त्र का अर्थ नहीं है और न इस वाक्य को किसी का अर्थ मान कर स्वामी जी ने लिखा किन्तु यह वाक्य सर्वथा वेदविमुख सर्वसाधारण मनुष्यों को समझाने के लिये अपनी ओर से लिखा गया है । अब इस विषय पर विशेष लिखना कुछ आवश्यक नहीं क्योंकि बुद्धिमान् लोग जो २ इस विषय पर ध्यान देंगे वे तत्त्व बात को समझ सकते हैं । हां ! केवल इस विषय पर विचार हो सकता है कि वेद किस की ओर से हैं । सो जैन लोग जब किसी अनादि सिद्ध अजर अमर अभय नित्य पवित्र ईश्वर को ही नहीं मानते तो वेद को ईश्वर की ओर से कैसे मान सकते हैं ? और जब वेद को मनुष्यों की ओर से मानते हैं तब काशी आदि के पण्डितों और स्वामी दयानन्दसरस्वती जी का विरोध दिखाना भी व्यर्थ है । क्योंकि यह कहना तब बन सकता था कि जो पौराणिक लोगों के कथनानुसार आत्माराम जैन वेद को मानते होते । जब

वेद को किसी प्रकार नहीं मानते तो इन का दोष देना सर्वथा विरुद्ध है। इत्यादि प्रकार इन का लेख पूर्वापर असङ्गत वा असम्बद्ध है ॥

नास्तिक--जिस ने जो मन में माना सो अर्थ बना लिया यह शास्त्र वेदादि परमेश्वर के बनाये क्योंकर माने जा सकते हैं ?। शुक्ल यजुर्वेद याज्ञवल्क्य ने बनाया है। जब वेद ही ईश्वरोक्त नहीं तो शतपथ ब्राह्मण का प्रमाण क्यों कर मान्य होवे। इत्यादि ॥

आस्तिक–यदि वेद के किसी अर्थ को जो महीधरादि ने किया है जिस अर्थ से वेद में बड़ा धब्बा लगता है उस को जैन लोग अच्छा मानते हैं और जिस अर्थ से वेद में कोई बुराई नहीं रहती वह मनमाना बनावटी है तो इस में कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि जैन लोगों को वेद की बुराई तथा सर्वोपरि ब्राह्मणों की निन्दा करना इष्ट है। इस का हेतु हम पहिले लिख चुके हैं कि ब्राह्मणों के साथ इन की शत्रुता है और वेद ब्राह्मणों का शस्त्र है इस कारण ये लोग वेद और ब्राह्मणों के नाम से जलते हैं। इस बात को सिद्ध करने के लिये जैनों के पास कोई साधन वा प्रमाण नहीं है कि जिस भाष्य से वेद की तुच्छता हो वही ठीक है और जिस से वेद की निर्दोषता निकले वह बनावटी है हमारी समझ में जब दोनों साध्य कोटि में आ सकते हैं तो वहां वही ठीक होगा कि जिस भाष्य से मूल निर्दोष हो जावे। क्योंकि जब जैन लोगों ने निकृष्ट भाष्यों को प्रामाणिक माना तो निकृष्ट का माननेवाला क्या उत्तम हो सकता है ?। पर हम लोग वेद के निर्दोष भाष्य को मानते हैं तो हमारा मन्तव्य भी निर्दोष हुआ। यहां जैन लोगों से पूछना चाहिये कि वेद में तुम लोग किस का खण्डन करते हो? क्या वेद शब्द का वा उस के वाच्य का अथवा दोनों का ?। यदि वेद शब्द का खण्डन करो तो शब्द के होने पर वा न होने पर किस दशा में खण्डन है ?। यदि होने पर कहो तो जो वस्तु विद्यमान है जिस का भाव है उस का अभाव कोई नहीं कर सकता। जैसे पृथिवी एक विद्यमान पदार्थ है उस का अभाव कोई नहीं कर सकता। इस प्रकार भाव का अभाव नहीं हो सकता। और न होने पर तो खण्डन ही नहीं हो सकता जब वेद कोई शब्द ही नहीं है तो खण्डन किस का होगा। और जब स्वयं वेद शब्द का उच्चारण करते हो तो निषेध करना "वदतो व्याघात" क्यों नहीं हुआ ?।

यदि वाच्य का खण्डन करते हो तो जिस का वाचक वेद शब्द है उस का वाच्य न हो यह वही कह सकता है जो इस का दृष्टान्त दे सके कि लोक में अमुक२ शब्द हैं परन्तु उन के वाच्यार्थ कोई नहीं हैं। जब लोक में इस का कोई दृष्टान्त नहीं तो यह पक्ष भी असङ्गत है। यदि कोई बन्ध्यापुत्र वा शशशृङ्गादि का दृष्टान्त देवे तो यह उस की भूल है क्योंकि बन्ध्या, पुत्र, शश, शृङ्ग इत्यादि सभी शब्दों के वाच्य हैं कोई शब्दवाच्य के विना नहीं है। बन्ध्या एक स्त्री का नाम है जिस के सन्तति न हो। पुत्र भी लोक में होते ही हैं। शश भी प्रसिद्ध जन्तु है। शृङ्ग भी अनेक पश्वादि के विद्यमान ही हैं केवल बन्ध्या और पुत्र तथा शश और शृङ्ग इन का सम्बन्ध ठीक नहीं किन्तु परस्पर विरुद्ध है क्योंकि जिस के पुत्र न हो वह बन्ध्या है इस कारण बन्ध्या का पुत्र ऐसा कथन ही असङ्गत है। इसी प्रकार शश शृङ्गादिक भी जानो। यदि वाच्य वाचक दोनों का खण्डन करो तो वही प्रश्न होगा कि वे दोनों विद्यमान हैं तो खण्डन हो ही नहीं सकता पृथिव्यादिवत् और यदि नहीं हैं तो खण्डन किस का ?। यदि कहें कि हम वेदों का खण्डन नहीं करते किन्तु उन की बुराई खोलते हैं तब भी वही प्रश्न खड़ा है कि यदि बुराई है तब तो है ही तुम खोलते ही क्या हो क्योंकि बुराई कभी छिपती नहीं और नहीं है तो खोल भी नहीं सकते। इत्यादि ॥

अथ वेद पर किये ब्राह्मसमाज के आक्षेपों का उत्तर।

ब्रह्म-विज्ञेयोऽक्षरसन्मात्रो जीवितं चापि चञ्चलम् ॥

विहाय सर्वशास्त्राणि यत्सत्यं तदुपास्यताम् ॥ उत्तरगीता

अर्थ—अविनाशी सत्स्वरूप परमात्मा को जानना चाहिये जीवन अस्थिर है सब शास्त्रों को छोड़ कर जो सत्य हो उसी को ग्रहण करो ।

उत्तर--यद्यपि यह उत्तरगीता कोई ऐसा पुस्तक नहीं जो आर्ष ग्रन्थों के समान विशेष मान्य कक्षा में समझा जावे किन्तु सामान्य प्रकार से माननीय है तथापि इस का अभिप्राय वेदनिन्दापरक नहीं है कि पुस्तकाकार वेद कोई नहीं । सब शास्त्रों का छोड़ देना यही है कि गुरुमुख से वा सज्जन महात्माओं की सङ्गति से वेदादि शास्त्र के सिद्धान्त को जान कर पीछे शास्त्रों के पठनपाठन में ही केवल परिश्रम न करता रहे किन्तु जो सत्यस्वरूप परमेश्वर है उस की उपासना करे जिस से परमार्थ बने शास्त्र का अभ्यास मुख्य कर ईश्वर ज्ञान वा परमार्थ सिद्धि के लिये है । सो जितना उपयोग शास्त्र से लेना आवश्यक है उतना ले कर उस विषय के उपयोगी अन्य कर्त्तव्य पर भी ध्यान देना चाहिये । यह कथन उन लोगों के लिये है जो न्यायादि शास्त्रों को जन्म भर रटते २ शरीर त्यागते हैं। उपासना वा भक्ति मार्ग को यह भी नहीं जानते कि वह क्या है ?। और जो इस का अभिप्राय ब्राह्म महाशय यह समझे हों कि जो सत्य है उस की उपासना करो ऐसा कहने से सब शास्त्र मिथ्या हो गये । सो यह अभिप्राय नहीं है किन्तु सत्य की उपासना में सत्यशास्त्र सब आ जाते हैं । केवल जगज्जाल रचना के जो अनेक पुस्तक बन गये हैं उन को उन २ शास्त्रों के साथ नाम रखने से शास्त्र कहा हो यह बन सकता है जैसे उपनिषद् जो मुख्य वेदान्त शास्त्र कहाता है वे मूलरूप दश हैं अब आज कल सैकड़ों उपनिषद् बन गये इसी प्रकार अन्य शास्त्रों के साथ अनेकाऽनेक ग्रन्थ बन गये हैं उन सब जाल शास्त्रों को छोड़

कर जो सत्य शास्त्र हैं उन की उपासना करो जिस से ईश्वर का ठीक २ ज्ञान हो यह अभिप्राय भी मूल से विरुद्ध नहीं किन्तु ठीक लग जाता है। और कदाचित् वही पहिला अभिप्राय माना जावे तो भी जो मनुष्य सर्वथा एक ही काम में लगा रहता है उस से कहा जाता है कि अब इस को छोड़ अमुक उपयोगी काम में लगो इस प्रकार कहने वाले का अभिप्राय यह नहीं होता कि अब पहिले काम को कभी करो ही नहीं किन्तु अन्य भी करो इसी प्रकार सब शास्त्रों को छोड़ सत्य की उपासना करो इस का भी यही आशय है कि सत्य ईश्वर की उपासना भी करो केवल शास्त्र के अभ्यास में ही न लगे रहो। और यह हो भी नहीं सकता कि दिन रात कोई बराबर उपासना ही करता रहे सायं प्रातः नियत समय पर प्रतिदिन उपासना हो सकती है तो भी यही कहेंगे कि नित्य उपासना करता है।

विद्याशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।

इस वचन का यही आशय है कि विद्या के प्रतिपादक शास्त्र के अभ्यास से बुद्धिमानों का काल व्यतीत होता है इस लिये शास्त्र का अभ्यास कभी त्याज्य नहीं पर उपासना भक्ति भी करनी चाहिये ॥

ब्राह्म०—यथाऽमृतेन तृप्तस्य पयसा किं प्रयोजनम्।
एवं तत्परमं ज्ञात्वा वेदे नास्ति प्रयोजनम् ॥ उत्तरगीता

अर्थ—जो अमृत से तृप्त है उसे पानी क्या आवश्यक। इसी प्रकार उस परमात्मा को जानने से वेद की आवश्यकता नहीं ॥

उत्तर—जब यह सिद्ध हो चुका कि वेद ईश्वर के जानने में सर्वोपरि उपयोगी है तो जब ब्रह्मज्ञान का मार्ग प्राप्त हो जावे तब वेद से प्रयोजन कुछ नहीं। ऐसा कौन अज्ञानी होगा जो क्षुधा की निवृत्ति हो जाने पर भी भोजन बनाने के उपाय में ही लगा रहे। पर इस से वेद की निन्दा वा वेद कोई वस्तु पुस्तकाकार नहीं यह कदापि सिद्धान्त नहीं निकलता किन्तु पुस्तकाकार वेद का होना पुष्ट होता है। और यह पहिले ही लिख चुके कि वेदाध्ययन का मुख्य फल ब्रह्मज्ञान है इस लिये इस वचन से भी ब्राह्म लोगों का अभीष्ट कुछ भी सिद्ध नहीं होता। विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं। सब पदार्थों से सब

समय में सब प्राणियों को प्रयोजन नहीं रहता पर जिस समय जिस प्राणी को जिस पदार्थ से प्रयोजन न रहे तो वह पदार्थ सब समय में सब प्राणियों के लिये व्यर्थ हो जावे यह कहना विद्वानों के सिद्धान्त से बाह्य है ।

ब्राह्म—अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः ।
सर्वतः सारमादद्यात्पुष्पेभ्य इव षट्पदः ॥ श्रीमद्भागवते

अर्थ—चाहे छोटा शास्त्र हो चाहे बड़ा हो ज्ञानी को चाहिये कि सब स्थान से जो सत्य बात है उसे चुन ले, भौंरा जैसे फूल से सुगन्धि ले लेता है ।

उत्तर—शास्त्र जो वास्तव में निर्दोष बने हुए हैं उन में सभी सार है असार कुछ नहीं पर हमारी बुद्धि ऐसी नहीं है कि सब शास्त्रीय विचार को धारण कर सकें किसी मनुष्य को गृहाश्रम कर्त्तव्य है तो वह उस समय गृहाश्रम के ठीक २ चलाने की विधि उसी शास्त्र से लेवे उसके लिये वही सार है जिससे धर्मपूर्वक गृहाश्रम का सुख भोग ले और आगे को जन्म सुधरे प्रतिष्ठा बनी रहे इसी प्रकार ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य व्रत के निर्वाह का उपाय शास्त्र से मुख्य कर लेवे उस के लिये वही सार है अर्थात् जिस प्रकार का रोग हो वह चिकित्सा शास्त्र से उसी की ओषधि देखे उस को वही साररूप है इसी प्रकार ज्ञानी ब्रह्मज्ञान के विचार को सर्व शास्त्रों वा वेदों से देखे पर अन्य शास्त्रीय विषय सब को त्याज्य वा निन्दनीय नहीं हो सकते । हम को बड़ा आश्चर्य होता है कि ये ब्राह्म लोग स्वयं ज्ञानी बने हुए हैं । क्या मैं ज्ञानी हूं ऐसा मान बैठने से कोई ज्ञानी हो जाता है ? यदि ज्ञानी के लक्षण मिलाये जावें तो अनुमान है कि इन में एक भी नहीं निकलेगा । क्या ज्ञानी हो जाना साधारण बात है ? । गृहाश्रमादि को छोड़ २ लोग एकान्त वास करते बड़े २ क्लेश सह के तप करते हैं उन में भी कोई विरला ज्ञाननौका पर चढ़ता है सो ब्राह्म लोग वेद वा पुनर्जन्मादि का खण्डन करलेने मात्र से ज्ञानी हो गये ? । इन लोगों का ऐसे श्लोकों से यह आशय है कि हम ज्ञानी हैं सब शास्त्रों से सार लेने वाले हैं। सो अपने आप कहने से कोई वैसा नहीं बन सकता जो कोई वैसा हो और वह प्रसिद्ध न करना चाहे तो भी छिपता नहीं जैसे अग्नि के तेज को कोई छिपा नहीं सकता दूसरे लोग शीघ्र जान लेते हैं यदि ये लोग ज्ञानी होते तो जिन्होंने ज्ञान होने के उद्देश से शिर मुड़ाया है वे सैकड़ों जिज्ञासु इन लोगों की सेवा शुश्रूषा करने में पड़े होते ।

ज्ञानी होना सर्वोत्तम और बड़ा कठिन है ।

ब्राह्म०—युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि ।
अन्यत्तृणमिव त्याज्यमप्युक्तं पद्मजन्मना ॥

अर्थ—जो युक्ति के अनुसार है वह चाहे लड़के का भी कहा हुआ हो तो उसे ग्रहण करना चाहिये और जो युक्ति के विरुद्ध हो वह चाहे ब्रह्मा जी का ही कहा हुआ हो तो भी उसे घास के तिनके के न्यांयी त्याग करना चाहिये॥

उत्तर—यह वाक्य स्पष्ट ही आर्यसिद्धान्त के अनुकूल है और अन्य धर्मशास्त्रकारों के सिद्धान्त से सर्वथा मिलता है। पर इतना इसमें भेद है कि जो ब्रह्मा का कथित है वह युक्तियुक्त क्यों न होगा ?। ब्रह्मा जी चतुर्वेद वक्ता थे उन का वचन अयुक्त कैसे होगा ?। जो अयुक्त होगा वह ब्रह्मा का वचन कभी नहीं माना जा सकता किन्तु ब्रह्मा जी के नाम से अन्य किसी ने कल्पना की होगी अथवा हम जो ब्रह्मा जी आदि के वचन की परीक्षा करने वाले हैं वे ब्रह्मा जी की जैसी विद्या जानते हैं वा नहीं ? जब नहीं जानते तो हमने अपनी अल्प विद्या बुद्धि के कारण अयुक्त समझ लिया वा वास्तव में अयुक्त है ?। इस प्रकार अयुक्त समझना भी संशयग्रस्त हो जाता है क्योंकि कहीं २ जिस को प्रमाणयुक्त समझ लिया है वही अन्य विद्वान् के समक्ष अप्रमाण अयुक्त ठहर जाता है इसलिये मनुष्य को कोई मूल विद्या का पुस्तक मानना चाहिये जिस के आश्रय से युक्त अयुक्त का विचार कर सके इस लिये वेद ही ईश्वरीय अनादि विद्या मन्तव्य है। यदि ब्राह्म का आशय यह हो कि वेद का मानना युक्तियुक्त नहीं तो किन २ युक्तियों से विरुद्ध है यह लिखना चाहिये था। हम लोग वेद को ईश्वरीय विद्या युक्तियुक्त माननीय सिद्ध कर सकते हैं ॥

ब्राह्म०—केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो विनिर्णयः ।
युक्तिहीनविचारे तु धर्महानिः प्रजायते ।
(मनु १२ । २१३ टीकोद्धृतबृहस्पतेर्वचनम्)

अर्थ—केवल पुस्तकों से धर्म का निर्णय नहीं करना चाहिये। जो निर्णय युक्ति के विरुद्ध है उस से धर्म की हानि होती है ॥

उत्तर-यह वचन भी आर्यसिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल है। इससे पुस्तकाकार वेद मानने में कोई बाधा नहीं। जब वेद में युक्तिहीन कुछ नहीं है तो वेद का त्याग किसी अवसर पर नहीं हो सकता। हम ब्राह्म महाशयों से पूछते हैं कि इस पुस्तक के बनाने से आप का मुख्य उद्देश यही था कि वेद पुस्तकाकार जैसे माने जाते हैं वे नहीं तो ऐसे वचन प्रमाण में क्यों रक्खे क्या इन वचनों से कोई सिद्ध कर सकता है कि पुस्तकाकार ऋग्वेदादि वेद नहीं हैं ? वा ब्राह्मों की मानसिक कल्पना वेद हैं ?। फिर ऐसे वचनों के लिखने से क्या प्रयोजन था ?। प्रमाण में वह वचन लिखना चाहिये जो अपने पक्ष का साधक वा पर-पक्ष का बाधक हो सो इस में एक भी नहीं तो ऐसा प्रमाण लिखना ब्राह्म की व्यर्थ जगद्वाल रचना है। कदाचित् युक्ति से इनका यह विचार हो कि हम जिस को युक्ति समझते हैं वही युक्ति है अन्य युक्ति नहीं तो यह भी ठीक नहीं केवल शास्त्र वा युक्ति का निषेध करने वाले शास्त्रकार भी वेदमतानुयायी हैं। उनका क्या यह सिद्धान्त हो सकता है कि वेद कुछ नहीं ?। और युक्ति शब्द से भी तर्कानुकूल प्रत्यक्षादि प्रमाण समझे जाते हैं इन प्रत्यक्षादि के अनुकूल वेद भी हैं इसलिये वेद का मानना युक्ति सिद्ध है ॥

ब्राह्म-ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥
(श्वेताश्वतरोप० ४।८)

अर्थ-आकाश की व्यापी अविनाशी परमात्मा को जिस में सारे देवता रहते हैं जो नहीं जानता उसे ऋग्वेद की ऋचा क्या फल पहुंचा सकती है। जो उस परमात्मा को जानते वही अच्छे रहते हैं ॥

उत्तर-यह मंत्र ब्राह्म महाशय के लिखे अनुसार श्वेताश्वतर उपनिषद् में तो है पर वस्तुतः यह ऋग्वेद की संहिता का मूल मंत्र है। इसका अर्थ यह भी अनुचित नहीं जो ब्राह्म महाशय ने किया है केवल ऋग्वेद की ऋचा कहना इतनी भूल है ऋच् शब्द जब ऋग्वेद का पर्याय वाचक है तो ऋचा वा ऋग्वेद से एक ही अर्थ कहना ठीक है। मनुष्य को सब काम सफल करने चाहिये निष्फल कोई काम न

करे। बेद के पढ़ने का मुख्य फल ब्रह्मज्ञान है यदि वह फल न हुआ तो उस का बेद पढ़ना निष्फल है। यह हम भी मानते हैं। कदाचित् ब्राह्म का आशय यह हो कि ऋग्वेद पढ़े विना ब्रह्मज्ञान हो जावे (जैसा हमको होता है) तो उस को बेद पढ़ना व्यर्थ है तो हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि इन ब्राह्मों के तुल्य ब्रह्मज्ञानी किसी को न करे इन में ब्रह्मज्ञानी का कोई भी लक्षण नहीं पाया जाता केवल ऊपरी ढचरमात्र है क्या अपने मान लेने वा कहने मात्र से कोई ब्रह्मज्ञानी होता है? क्या जलते हुए अग्नि के देखने को अन्य प्रकाश की आवश्यकता पड़ती है? किन्तु उस को सभी नेत्रवाले विना किसी के कहने से जान लेते हैं वह पुरुष कभी छिप नहीं सकता ब्रह्मज्ञान के तेज के सामने सब कर्म निस्तेज हो जाते हैं जैसे सूर्य के उदय होने पर दीपक आदि तेज सब दबजाते हैं इसी लिये भगवद्गीता में श्रीकृष्ण जी ने कहा है कि ॥

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥

ज्ञानरूप अग्नि सब कर्मों को भस्म के तुल्य निस्तेज करदेता है। जो २ लोग इस संसार में कुछ ज्ञानी होते आये हैं उन की महिमा आज तक विद्यमान है छिपे कोई नहीं जैसे याज्ञवल्क्य जनक इत्यादि। ब्राह्मलोग में ज्ञान से विपरीत काम तो दीख पड़ते हैं जैसे शिवनारायण अग्निहोत्री कपड़े रंग के विरक्त साधु होगये और पीछे अपनी चेली के साथ विवाह कर लिया जिसको पढ़ाते थे उस को कन्या के तुल्य मानना चाहिये सो न मान कर स्त्री बनाया। यदि कहो कि उन एक ने बुरा किया तो सब दोषी क्यों कर होगये हम पूछते हैं कि अन्य ब्राह्म कौन २ विरक्त हैं सभी गृहस्थाश्रम का आनन्द भोग रहे हैं। ब्रह्मज्ञान होना बड़ा कठिन है।

और उस मन्त्र का अर्थ मुख्य तो यह होना चाहिये कि जो ईश्वर का ध्यान हृदय में नहीं करता भीतरी पट जिस के न खुले जिस को ईश्वर का पूरा विश्वास वा भक्ति नहीं वह वेद पढ़ के भी क्या करेगा क्योंकि वेद के पढ़ने का मुख्य फल ईश्वर का ज्ञान होना है सो जिसको न हुआ वह आगे वेद पढ़े वा न पढ़े एकसा ही है इस से वेद के होने का खण्डन नहीं निकलता कि ऋग्वेदादि पुस्तकाकार वेद नहीं वा ऋग्वेदादि की निन्दा भी सिद्ध नहीं होती कि ऋग्वेदादि निरर्थक

वा कुत्सित हैं किन्तु उस मनुष्यका दोष दिखाया गया कि जो वेद को पढ़े और उससे होने वाले फल को प्राप्त न हो वह मनुष्य मन्द है जैसे कोई पुरुष किसी कार्य को परिश्रम से करे और अपनी निर्बुद्धिता से फलका भागी न हो वह नीच समझा जाता है इसी प्रकार यहां भी पुरुष की निन्दा है। अर्थात् जिस अविनाशी आकाश के तुल्य व्याप्त परमात्मा में सूर्य चन्द्र पृथिवी अग्नि वायु आदि समस्त जगत् स्थित हो रहा है उसको जो नहीं जानता वह (ऋचा) वेदमंत्र से क्या करेगा उसका मंत्रपाठ जप सब व्यर्थ है। ऋच् नाम गायत्र्यादि छन्द का है किन्तु ऋग्वेद का ही नहीं है इसलिये ब्राह्म का किया अर्थ ठीक नहीं है यही इनका बड़ा दोष है कि ये समझें वा न समझें पर अपना पग अड़ाने को सर्वत्र उद्यत रहते हैं सो यह निष्फल है ॥

शब्दस्य हि ब्रह्मण एष पन्था यन्नामभिर्ध्यायति धीरपार्थैः।
परिभ्रमँस्तत्र न विन्दतेऽर्थान्मायामये वासनया शयानः ॥
(भागवते २ स्कन्ध २ अ०)

अर्थ—शब्द वेद की यह रीत है कि वृथा नामों में बुद्धि चक्कर करती रहती है और इन में घूमती हुई सिद्धि को प्राप्त नहीं होती और (उस से) वासना के साथ धोखे की राह में मनुष्य सोया रहता है ॥

उत्तर—जिन लोगों में कुटिलता का दोष बढ़ता है वे जहां तक बिना विचारे करें वह सब अज्ञान से असम्भव नहीं। इन लोगों को यह कैसे मालूम हुआ कि ऋग्वेदादि पुस्तकों को शब्दब्रह्म कहते हैं यदि किसी शास्त्रकार ने ऐसा साफ लिखा होता तो ये प्रमाण लिखते अन्य किसी प्रबल युक्ति से जाना होता तो वह लिखनी थी कोई कारण लिखे बिना किसी बात को लिख देना अज्ञानता नहीं तो और क्या कहाजावे। यह सर्वथा मिथ्या है ऋग्वेदादि पुस्तकों को शब्द ब्रह्म कोई नहीं कहता। शब्दब्रह्म शब्दशास्त्र के समुदाय को कहते हैं शब्दशास्त्र में मुख्य व्याकरण है जिस में मुख्यकर शब्दों का ही विचार किया जाता है शब्द के साथ ब्रह्म का अभिप्राय यह है कि शब्द अनन्त हैं इन का अन्त नहीं मिलता कि शब्द कितने हैं ब्रह्म शब्द का अर्थ भी बड़ा है जो सब से अधिक बड़ा हो

जिस का अन्त न मिले वह ब्रह्म है। इसी अर्थ को लेकर परमात्मा का नाम भी ब्रह्म है। ऋग्वेदादि शब्दशास्त्र नहीं किन्तु अर्थशास्त्र हैं। अर्थ समझ के उपयोग लेने के लिये वेद हैं यदि ऋग्वेदादि में शब्द हैं इस कारण उस को शब्दब्रह्म कहें तो न्यायादि सभी शास्त्रों में शब्द आते हैं शब्द के विना कोई व्यवहार भी नहीं चलता तो सब का नाम शब्दब्रह्म क्यों नहीं होता? इसलिये व्याकरण शास्त्र का नाम ऊपर लिखे अनुसार शब्दब्रह्म है यह सर्वतंत्र सिद्धान्त है सब विद्वान् ऐसा ही मानते हैं। जब ऋग्वेदादि का नाम शब्दब्रह्म है ही नहीं तो भागवत का श्लोक उस का प्रमाण क्योंकर होगा जब प्रतिज्ञारूप वाक्य बिगड़ जाता है तब उस पर हेतु वाक्य ऐसा है जैसे विना नींव जमाये भीत उठाना। और भागवत का यह अभिप्राय भी नहीं कि जो इस बचन से वेद की तुच्छता दिखलाई हो हम लोग भागवत को वेद का पोषक नहीं मानते हैं क्योंकि उस में अनेक विषय वेदादि सत्शास्त्रों के अभिप्राय से उलटे हैं पर यहां तो ब्राह्म से उस का अर्थ भी नहीं बना वे समझे ही नहीं कि इस का मुख्यार्थ क्या है। सो यह अविद्वानों का स्वाभाविक धर्म है कि वे अनर्गल विना विचारे बहुत कुछ कहते लिखते हैं। भागवत के श्लोक का मुख्य अर्थ यह है कि शब्द शास्त्र का यही मार्ग है कि बुरे अर्थात् ईश्वर भक्ति से विमुख अर्थों वाले नामों के साथ बुद्धि सब प्रकार भ्रमा करती है कि इस सूत्र के अमुक पद का ऐसा अर्थ कर लें तो यह विलक्षणता निकालेंगे तब किसी से तर्क करें दूसरे को उत्तर न आवेगा तो हमारा विजय होगा। इत्यादि प्रकार बुद्धि भ्रम में पड़ी रहती है और कर्त्तव्य प्रयोजनों को नहीं प्राप्त होती इस प्रकार मनुष्य वासनाओं के नशा से छलकपटरूप संसार के प्रपंचों में सोता रहता है। यह विचार उन मनुष्यों पर है जो व्याकरण के जगड्वाल ग्रन्थों में जन्म व्यतीत करते जन्म भर व्याकरण पढ़ते २ मरते हैं। ईश्वरविषयक भक्ति उपासना में कुछ भी चित्त नहीं लगाते और जो लोग व्याकरण को इस प्रयोजन से पढ़ते हैं कि व्याकरण से अन्य शास्त्र वा वेद के समझ सकने की योग्यता उत्पन्न करलें पीछे उन को पढ़ें देखें उन की यहां निन्दा नहीं है। इस प्रकार भागवत से यहां कुछ भी वेद की निन्दा नहीं निकलती और कदाचित् भागवत में ऐसा होता भी तो हमारी कोई हानि नहीं थी। भागवत कोई प्रामाणिक शास्त्र नहीं जिस के कहने से वेद में कोई दोष लग

जाता। मान लो कि ब्राह्मने जो अर्थ किया है वही भागवत के श्लोक का अर्थ है। तो भी वेद कोई वस्तु नहीं यह तो सिद्ध नहीं हुआ यदि यह आशय निकालो कि वेद की तुच्छता तो हुई सो भी अज्ञान है। वेद की कुछ भी तुच्छता नहीं हुई किन्तु उस मनुष्य की नीचता तुच्छता दिखाई गई कि जो वेद को पढ़ता रहे और उस के फल को प्राप्त न हो उन्हीं संसारी प्रपचों छल कपट ईर्ष्या द्वेषों में फसा रहे भक्ति उपासना कर वा ईश्वर का विश्वास श्रद्धा कर परमार्थ को कुछ न सुधारे इसी कर्त्तव्य पर मनुष्य का जन्म सफल होता है किसी प्रकार ब्राह्मों का अभीष्ट सिद्ध नहीं होता और न वेद पर कोई दोष आता है ॥

ब्राह्म—भगवद्गीता में भी लिखा है—

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥
(भगवद्गीता) २। ५३।)

अर्थ। अय अर्जुन। श्रुतियों से गड़बड़ाई हुई तेरी बुद्धि जब अचल हो स्थिर होगी और समाधि में अटल रहेगी तब तू योग को प्राप्त करेगा ॥

उत्तर—यहां तो ब्राह्म बहुत नीचे गिर गये विचार का स्थल है कि—श्रीकृष्ण जैसे मर्यादा पुरुषोत्तम महात्मा कभी वेद को ऐसा लिखेंगे कि श्रुतियों से बुद्धि गड़बड़ाती है अनेक स्थलों में श्रीकृष्ण महाराज ने वेद की विशेष कर प्रशंसा की है वे लोग ब्राह्म नहीं थे किन्तु वेद के मानने वाले थे इस लिये गीता के श्लोक का अर्थ वह नहीं है जो ब्राह्मने किया किन्तु उसका अभिप्राय यह है कि हे अर्जुन लौकिक जनों के अनेक प्रकार के विचार सुनने से जो तुम्हारी बुद्धि गड़बड़ाई अर्थात् अविद्या मोह के फन्द में फंस कर बिपरीत हुई है सो जब समाधि में निश्चल स्थिर होगी तब तुम योग को प्राप्त होगे। श्रुति शब्द का अर्थ व्याकरण और कोष के अनुसार श्रोत्र इन्द्रिय का नाम भी श्रुति है। वेद का नाम भी श्रुति है। जिन एक २ शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं उन में से जिस प्रकरण में जौन अर्थ ठीक २ घटता है जिस के होने से ग्रंथकर्त्ता का अभिप्राय नहीं बिगड़ता वही अर्थ वहां लेना चाहिये एक शब्द के सब अर्थ भी

सब स्थलों में नहीं लिये जा सकते इस प्रसंग में बुद्धि का विपरीत होना लिखा है विचार का स्थान है कि वेद के पढ़ने सुनने से कहीं बुद्धि विपरीत होती है किन्तु यह सब लोग जानते हैं कि वेदादि शास्त्रों के विना पढ़े लिखे अवश्य विपरीत होती है इसी लिये ऐसा उपदेश किया जाता है कि तुम विद्या पढ़ो जिससे बुद्धि ठीक रहे विद्याओं में सब का मूल वेद है उस से अन्य की अपेक्षा बुद्धि की निर्मलता अधिक इस लिये होगी कि वह ईश्वरीय विद्या है उस को ठीक २ समझने वा अभ्यास करने से आत्मज्ञान होता है जिस से मुक्त हो जाते हैं। वेद के पढ़ने से बुद्धि विपरीत होती है यह कहना ऐसा है जैसे दीपक जलने से अन्धेरा होने का कोई उपदेश करे इस से निश्चित है कि भगवद्गीता के उक्त श्लोक का अर्थ यह नहीं है कि वेद से बुद्धि विपरीत होती है किन्तु यहां श्रुतिशब्द का अर्थ श्रोत्र है कि अनेक प्रकार की बातें सुनने से बुद्धि विपरीत होती है सो ठीक है साधारण लोगों की बुद्धि इधर उधर की बातें सुन कर अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाती है। जब कर्त्तव्याकर्त्तव्य विषय पर मनुष्य अनेक प्रकार के उपदेश सुनता है तो किसी कर्त्तव्य पर उसकी बुद्धि स्थिर नहीं रहती और बुद्धि की ठीक २ प्रसन्नता पूर्वक स्थिति समाधि में होती है। इस प्रकार के उत्तम गम्भीर आशय को न समझ के मनमाना अर्थ कर मारा। यदि संस्कृत के शास्त्रकारों की मर्यादा का हाल कुछ ज्ञात होता तो ऐसा निर्बुद्धियों का सा अर्थ क्यों करते। श्रुति शब्द के अर्थ भी किसी पण्डित से पूछलेते वा अमरकोष में देखलेते तो ऐसे न गिरते। हम ब्राह्मों को सचेत करते हैं कि आगे आप किसी शास्त्रीय विषय पर हस्तक्षेप करें तो विचारपूर्वक कीजिये ऐसे प्रमाणों से आप की दाल नहीं गलेगी वा पहिले वार छः वर्ष किसी संस्कृतज्ञ विद्वान् की संगति कर वेदादि शास्त्र पढ़िये पीछे जो कुछ लिखो गे विचारपूर्वक लिख सकोगे ॥

ब्राह्म-यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।
(तथा २। ४६)

अर्थ—सब जगह पानी भर जाने से कुए की आवश्यकता जैसी (कम) रहजाती है वैसी ही ब्रह्म के जानने वाले ब्राह्मण के लिये वेदों की आवश्यकता (थोड़ी) रह जाती है ॥

उत्तर—इस श्लोक का अर्थ भी ब्राह्मसे ठीक नहीं बना किन्तु किसी टीका को देखकर किया होगा। इस अर्थ से श्लोक का आशय संकुचित हो जाता है और यदि इसी अर्थ को हम मान लें तो भी कोई दोष हमारे पक्ष में नहीं आता क्योंकि हम पहिले ही स्वीकार कर चुके हैं कि जब वेद के पढ़ने विचारने का जो फल है वह जिस को प्राप्त हो गया तब भी उस काम में फंसा रहे यह उचित नहीं पर तो भी उस फल की पुष्टि और रक्षा के लिये वेद का अभ्यास करता रहे। पढ़ते समय विद्यार्थी जिन २ व्याकरणादि शास्त्रों में जैसा परिश्रम करते हैं पीछे परीक्षोत्तीर्ण हो जाने पर वैसा ही परिश्रम नहीं करते रहते और न वैसे परिश्रम की आवश्यकता पड़ती है न वैसा प्रयोजन उन पुस्तकों से रहता है उसी पठित विद्या के संस्कार से संसार के सब काम चलाते हैं पर इतने से उन व्याकरणादि शास्त्रों की तुच्छता नहीं हो जाती न उन का खण्डन हो जाता है इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानरूप वेदाध्ययन से मनन का फल हो जाने पर वेद का प्रयोजन थोड़ा रह जाता है इस से वेदका खण्डन वा तुच्छता नहीं निकलती ॥

श्लोक का मुख्य अर्थ यह है कि सब प्रकार जलसे पूर्ण कूपादि जलाशय में मनुष्य का जितना प्रयोजन होता है उतना ही वह जल भर लेता है किसी को घड़ा भर चाहिये तो वह घड़ा भर लेता जिस को लोटाभर की आवश्यकता होती वह लोटाभर लेता है कूपादि में जितना जल है वह सब एक ही मनुष्य भर ले यह नहीं हो सकता और न ऐसा होना सम्भव है ज्यों २ कूप से जल भरोगे वैसा २ उस में शुद्ध नवीन जल आता जावेगा। इसी प्रकार जितनी जिस की आवश्यकता वेद से हो उसी विषय को वेद से जानकर निर्वाह करे एक समय में सब विषय जानने की बुद्धि सामग्री समय मिलना दुस्तर है तो जिस की जिस समय विशेष आवश्यकता हो तब उसी विषय के जानने वा आचरण करने का प्रयत्न करे। किन्तु संसार में बहुत से मनुष्य ऐसे होते हैं कि वे एक साथ ही अनेक प्रकार की धर्मादि विषयक अपार महिमा को तृष्णा के प्रवाह में पड़कर जानना चाहते हैं सो वैसा होना असम्भव है कि जैसे कुंआ वा नदी का सब जल घड़े में नहीं आसकता इसी प्रकार अल्पाशय अल्पात्मा अल्पज्ञ मनुष्य सब वेद के सिद्धान्त को एक साथ एक समय में नहीं जान सकता तो जिस उपयोगी विषय को तत्काल जान कर अनुमान करने से कुछ फल प्राप्त हो उस से भी वञ्चित रह जाता है अर्थात् किसी दीन का नहीं रहता इस का दृष्टान्त लोक में भी प्रसिद्ध है कि (एके साधे सबसधे सब साधे सब जाय)

आज कल बहुत से गृहस्थादि मनुष्य ऐसे होते हैं कि मुक्ति क्या वस्तु है इसपर विचार होना चाहिये कोई कहता है हम को ईश्वर के होने में सन्देह है ईश्वर कहां वा कैसा है ? तथा कोई कहता है फर्ज़ करो कलाम अल्लाह कौन है और क्योंकर साबूत हो सकता है इत्यादि अनेक प्रकार संकल्प विकल्प किया करते हैं। उन से कोई पूछे तुम पूछने वाले कौन हो वा कोई नहीं अर्थात् तुम अपने को जानते हो कि हम कौन वा क्या वस्तु हैं ? जानते हो तो बताओ नहीं जानते तो तुम को अपने में ही सन्देह है जब प्रश्नकर्त्ता में शंका हो गई तो प्रश्न भी शंकित हो गया जब सन्देह करने वाला कोई निश्चित हो तो प्रश्न करना बन सके। ऐसे मनुष्य वास्तव में अज्ञानी हैं उन को चाहिये कि जिस कृत्य वा आश्रम में हों उस के लौकिक वा पारमार्थिक कर्मों को अपने वेदमत का विश्वास कर श्रद्धा भक्तिपूर्वक ठीक २ करते जावें तो उन को अवश्य ज्ञान होसकता है। ऐसे मनुष्यों को उपदेश करने के लिये भगवद्गीता का (यावानर्थ०) श्लोक है कि जैसे कूप आदि से सब जल भर लेने का सामर्थ्य घड़े में नहीं ऐसे ही साधारण मनुष्य का आत्मा सब शास्त्रीय अगाध विषय को धारण नहीं कर सकता तो उस को चाहिये कि वेद से उस विषय को जाने जिस के सेवन करने वा जानने का जिस समय सामर्थ्य वा आवश्यकता हो जिस से किसी प्रकार के सुख फल को प्राप्त होवे। जैसे गृहस्थ को चाहिये कि मैं इस आश्रम में क्या २ काम धर्मसम्बन्धी करूं वा किस प्रकार करूं जिस से संसार परमार्थ में सुख का भागी बनूं तो उस को गृहाश्रम के पञ्चमहायज्ञ नित्यकर्म और गर्भाधानादि नैमित्तिक संस्कार तथा सत्याचरणादि वा स्त्री आदि के साथ वर्त्ताव धर्मशास्त्रादि से जानना और श्रद्धा भक्ति पूर्वक करना चाहिये ॥

यही मुख्य सिद्धान्त है इसी से मनुष्य कल्याण को प्राप्त हो सकता है अन्यथा नहीं ॥

ब्राह्म—साधारण लोग जिन्हें वेद मानते हैं वे शब्दवेद हैं और अपरा विद्या में गिने जाते हैं सत्य वेद आत्मा में हैं जैसा कि तंत्र में कहा गया है।

न वेदं वेदमित्याहुर्वेदब्रह्मसनातनम् ॥

अर्थ। (लोग) जिसे वेद मानते हैं वह वेद नहीं सत्य वेद वह हैं जो सनातन से हैं ॥

उत्तर—यद्यपि तंत्र के प्रमाण का उत्तर हम को कुछ देना इस कारण उचित नहीं कि इन ग्रन्थों के उद्देश्य मनुष्यों के कल्याणकारी नहीं किन्तु उलटे अनर्थ में झुकाने वाले हैं फिर ऐसे पुस्तकों में वेद की निन्दा होना असम्भव नहीं है तथापि उस ग्रन्थ के बनाने मानने वाले की और अन्यों की रथ्या (रास्ता) पर चलने को प्रवृत्त हुए ब्राह्मों की अज्ञानता दिखाने के लिये थोड़ा लिखना उचित समझा गया ।

वेद को वेद नहीं कहते इस में सन्देह होता है कि कौन नहीं कहते क्या तान्त्रिक लोग नहीं कहते वा उनके भाई ब्राह्म लोग नहीं कहते वा दोनों नहीं कहते क्यों कहें वेद को वेद कहने से स्वार्थ की लीला सिद्ध नहीं हो सकती । वेद को वेद नहीं कहते इस वाक्य से यह सिद्ध नहीं होता कि वेद वेद नहीं है किन्तु यह निकलता है जैसे कोई कहे कि हम मनुष्य को मनुष्य नहीं कहते इस वाक्य से मनुष्य का मनुष्य होना खण्डित नहीं होता किन्तु यह आता है कि हम किसी कारण से मनुष्य को मनुष्य नहीं मानते अन्य किसी को मानते हैं यदि मनुष्य को मनुष्य कोई भी न मानता वा कहता हो तो यह कहना भी नहीं बन सकता कि हम मनुष्य को मनुष्य नहीं मानते किन्तु मनुष्य का मनुष्य होना सिद्ध होने पर ही कहना बन सकता है यदि मनुष्य का होना सिद्ध न हो तो मनुष्य को मनुष्य नहीं कहते यह वाक्य भी निरर्थक और व्यर्थ है । वैसे ही वेद का वेद होना सिद्ध होने पर ही कह सकते हैं कि हम वेद को वेद नहीं कहते । यदि वेद का वेद होना सिद्ध न हो तो वेद को वेद नहीं कहते यह वाक्य भी प्रमत्त प्रलपित होना सिद्ध है । जब कुछ स्वार्थादि को विचार के कहा कि हम वेद को वेद नहीं मानते तो वेद का वेद होना स्वयं सिद्ध हो गया । अब रहा कि तान्त्रिक वा ब्राह्म वेद को वेद नहीं मानते यह उन की घरू बात है । ऐसे तो मैं भी कह दूं कि मनुष्य को मनुष्य मैं नहीं मानता तो क्या विद्वान् जन मुझे प्रमत्त न कहेंगे ?। उस वचन का अभिप्राय तो यह मालूम होता है कि वेद शब्द प्रशंसार्थ वाचक विवक्षित है उस वेद का भी वेद सर्वोत्तम परमात्मा है जिस से वेद उत्पन्न होते हैं । सो यह ठीक भी है विद्या की प्रशंसा के अवसर में वेद की प्रशंसा हो सकती है किन्तु परमेश्वर की अपेक्षा वेद की प्रशंसा नहीं है । ऐसा अभिप्राय हो तो कोई दोष नहीं परे (वेदब्रह्म-

सनातनम्) यहां वेद शब्द निर्विभक्ति होने से अशुद्ध है इस से ज्ञात होता है कि आज कल के वैरागियों के समान तंत्र का बनाने वाला भी व्याकरण शून्य था। जब उस को व्याकरण तक का ज्ञान नहीं था तो वेदविषय में उस के कथन पर क्या विद्वान् लोग विश्वास कर लेवें गे ?। फिर ऐसे के पीछे ब्राह्म चले वे भी वैसे ही शास्त्र, ज्ञान के शत्रु निकले जैसे को तैसे मिल गये फिर क्या था एक से एक ग्यारह हो गये ॥

ब्राह्म—महाभारत में भी लिखा है कि।

ऋचामादिस्तथा साम्नां यजुषामादिरुच्यते।
अन्तश्चादिमतां दृष्टो न त्वादिर्ब्रह्मणः स्मृतः ॥ १ ॥

अर्थ (ऋग) साम और यजुर्वेद की आदि है उन का अन्त भी देखा जाता है। सत्य वेद की आदि नहीं ॥

उत्तर—इस महाभारत के श्लोक का साधारण लोगों के समान अक्षरार्थ तो ब्राह्म ने कर दिया सो कहीं देख लिया होगा सो अक्षरार्थ कर लेने में कुछ बुद्धिमत्ता वा पाण्डित्य का काम भी नहीं साधारण बोध होने से टीका टिप्पण देख कर भी अक्षरार्थ लिख सकते हैं। भावार्थ वा सारांश कहने निकालने में पण्डिताई की आवश्यकता है सो ब्राह्म जैसे लोगों को अनेक जन्मों में भी प्राप्त होना दुस्तर है। इस महाभारत के श्लोक का अभिप्राय वेद वा अन्य शास्त्रकारों के अनुकूल है। आदि नाम कारण का है जो जिस वस्तु का आदि नाम कारण है वही उसका अन्त है जो वस्तु जिस से उत्पन्न वा प्रकट होता वह उसी अपने आदि कारण में तिरोभूत वा लीन हो जाता है यह सृष्टि का स्वाभाविक नियम है पृथिवी से उत्पन्न हुए अन्नादि से मनुष्य का वीर्यादि धातुमय शरीर बनता उसी वीर्यादि से पुत्रादि शरीर उत्पन्न होते पीछे शरीरों का अन्त भी भस्मादिरूप पृथिवी में ही मिल जाता है। इसी प्रकार कल्प के प्रारम्भ में परमेश्वर से वेद प्रकट होते हैं इस लिये वेद की प्रकटता का आदि ब्रह्म है और कल्पान्त में अर्थात् प्रलय समय में उसी परमेश्वर में वेद रह जाते हैं संसारी मनुष्यों में वेद का आदि अन्त है पर ईश्वर की अनादि विद्या होने से वेद अनादि कहाता है जब प्रलय समय जगत् में नहीं रहते तब भी ईश्वर के ज्ञान में बने रहते हैं। कल्प के आरम्भ में प्रकट मात्र हो जाते हैं उत्पत्ति और प्रादुर्भाव

में भेद यही है कि उत्पत्ति में पदार्थ का स्वरूप बदल जाता और प्रादुर्भाव छिपे से प्रकट होना मात्र है। इस लिये वेद का प्रादुर्भाव मानते हैं इसी लिये वेद अनादि अनन्त कहाता है सब कल्पों में वही मंत्र पद वाक्य क्रम बने रहते हैं। इस महाभारत के श्लोक से शास्त्रीय सिद्धान्त कहा गया है जिसको आर्य लोग प्राचीन काल से ठीक २ मानते आये हैं कुछ वेद की निन्दा परक श्लोक नहीं है किन्तु परमात्मा की प्रशंसा और वेद विषयक सिद्धान्त दिखाया गया है वेद का भी आदि अन्तरूप होने से परमात्मा सर्वोपरि है। आप लिखते हैं सत्यवेद की आदि नहीं। इस से दो प्रकार के वेद निकलते हैं। एक सत्य दूसरा मिथ्या। यह कहां का नियम है कि जिस का आदि कारण हो वह मिथ्या और जिस का आदि न हो वह सत्य क्या यही सत्य मिथ्या का लक्षण है? यदि यह ठीक है तो (वादी भद्रं न पश्यति) इस न्याय पर चलें तो ईश्वर को छोड़ अन्य सब का आदि तुम मानते ही हो तो तुम तुम्हारा कहना लिखना सब मिथ्या हो गया! यदि तुम कहो कि हम सत्य वेद परमात्मा को ही मानते हैं तो तुम्हारे इस (सत्य वेद परमात्मा को मानते हैं) वाक्य का आदि होने से यह भी मिथ्या हो गया। यह कथन तुम्हारे सत्य वेद कहने पर है यह दोष हमारे पक्ष में इस लिये नहीं आता कि हमारा सिद्धान्त ऐसा नहीं है। जब कोई मनुष्य अपनी मुख्य स्थिति वा घर को छोड़ देता और अपनी अज्ञानता से उस को बुरा कहने लगता है तब इधर उधर डमाडोल मारा २ फिरता है उस की स्थिति होना दुर्लभ है जैसे कोई बद्दल का टुकड़ा अपने समुदाय में से वायुवेग के कारण पृथक् हो जाता है तो वह इधर उधर वायु से उड़ा २ फिरता है थोड़े काल में नष्ट भ्रष्ट हो जाता है यही दशा आज कल आप्तों की हो रही है। वेदमतानुयायियों के समुदाय, अपने आश्रय को छोड़ कर च्युत हो गये कि जहां सुखपूर्वक स्थिति होती पर अब भी यह तो संस्कार बना है कि वेद कोई अच्छा माननीय पदार्थ है उस को मानना तो छोड़ा पर छोड़ा नहीं जाता तब इधर उधर बुद्धि को भ्रमाते हैं कभी कहते हैं हमारे शुद्ध संकल्प जो प्रतिभारूप उत्पन्न होते वे वेद हैं कभी परमात्मा को सत्य वेद मानते अन्य सब को मिथ्या कभी कहते अच्छे लोगों को जो२ अनुभव होता वह सभी वेद हैं कभी इतिहास पुराण कुरान बाईबल आदि सभी को वेद मानने लगते हैं कभी कहते नहीं २ भूल गये तीन वेद तो मन वाणी प्राण हैं। कोई जीभ को पकड़ ले तो जानो एक

वेद तो पकड़ा गया उस के लिये भागना न पड़ेगा शेष मन प्राणों को पकड़ना तो इन से सात जन्म में भी होना दुस्तर है। कभी कह सकते हैं कि अजी आंख नाक कान इन्हीं को तीन वेद मान लो जो तीनों एक शिर में विद्यमान हैं इन के लिये कहीं भटकना न पड़े गा ये तीनों अपने आधीन रहें गे। हमारी समझ में किसी की नाक कट जावे वा रोग से जाती रहे तो उस का एक वेद ही काटा गया इसी प्रकार किसी के दोनों वा तीनों वेद कट वा नष्ट हो सकते हैं तो वह ब्राह्म फिर भटके गा। नहीं जो किसी नाक वाले की नाक पकड़ लेगा तो वेद मिल जायगा। भला ऐसी हँसी की बातें ब्राह्मों पर क्यों कहनी पड़ती जो इन की बुद्धि डमाडोल न होती जीभ को वेद मानने पर यह लेख है। हमारी समझ में ईसाई आदि के तुल्य ये लोग भी वेद को छोड़ दें उस का नाम भी न लें तो अच्छा। यह सब दुर्दशा असली वेद को छोड़ कर इधर उधर भ्रमने से होती है"

ब्राह्म—सत्य वेद क्या हैं ? इस का वर्णन शतपथ ब्राह्मण में इस प्रकार लिखा है ॥

त्रयो वेदा एत एव। वागेवर्ग्वेदो मनो यजुर्वेदः प्राणः सामवेदः॥ (शतपथ ब्राह्मणे १४। ४। ३। १२)

अर्थ। तीन वेद ये हैं जिह्वा ही ऋग्वेद है, मन यजुर्वेद है, प्राण सामवेद है। जिह्वा मन प्राण से वेद प्रकाश होते हैं इस प्रकार के वेद को सद्धर्मी मानते हैं क्योंकि ऐसे वेद आप उन के भीतर हैं। सत्य पुस्तकों में बद्ध जो वेद हैं, वे इस वेद की छाया मात्र हैं,।

उत्तर—इस का अभिप्राय यह नहीं है कि वाणी मन और प्राण ये तीनों वेद हैं यदि ऐसा अभिप्राय हो तो तीन लोक तथा देव, पितृ, मनुष्य इत्यादि तीन २ वस्तुओं को भी वाणी आदि कहा है तो क्या देव आदि वाणी आदि हो गये वा देव आदि कोई न रहे अर्थात् यह नहीं हो सकता कि तीनों लोक का नाम वाणी मन प्राण हो जावे वाणी आदि से भिन्न तीन लोक कुछ न रहें अर्थात् अभिप्राय यह है कि जिस में वाणी चार दोषों से रहित शुद्धि प्रधान हो वाणी के चार दोष हैं एक कठोर बोलना दूसरा मिथ्याभाषण तीसरा चुगली चौथा व्यर्थ निष्प्रयोजन बकना ये चारो दोष जिन में न हों वेही देव हैं इसी

प्रकार मन के काम में ठीक हों अर्थात् जिन में परपदार्थ की इच्छा मन से दूसरे का अनिष्ट चिन्तन और सेखचिल्ली कासा व्यर्थ विचार ये मन के तीन दोष न हों और मन से अच्छा ध्यान और विचार किया करते हो वे पितृ और जो प्राण रक्षा को मुख्य कर्त्तव्य मानें अर्थात् स्वार्थसाधन को प्रधान समझें वे मनुष्य कहाते हैं ।

इसी प्रकार मन वाणी और प्राण में जो २ जिस २ में प्रधान है वही वह लोक कहाता है । तथा वाणी ऋग्वेद इस लिये है कि ऋच्नामपृस्तुति पदार्थों के गुणों का यथार्थ कथन जिस में हो इस वाणी के प्रधान कर्म से वाणी को ऋग्वेद कहा यजुर्वेद में कर्म प्रधान है वह विचार अर्थात् मीमांसा के आधीन है इस लिये मन का मुख्य उपयोग यजुर्वेद में होने से मन को यजुर्वेद कहा और प्राण को साम वेद इस लिये माना कि उपासना में प्राण प्रधान है प्राणायामादि योगाभ्यास से प्राण की शान्ति होना प्राणाधीन सामवेद का मुख्य प्रयोजन सिद्ध है । इस लिये प्राण को सामवेद कहा है ॥

जिह्वा आदि से प्रकाश होते हैं इस लिये यदि ऋग्वेदादि को वाणी आदि कहा तो हमारा कोई विरोध नहीं यदि कहें कि जिह्वा आदि से जो कुछ निकले वह सब वेद हैं तो जिह्वा से गाली आदि भी वाक्य निकलते हैं वे भी वेद होने चाहिये इत्यादि अनेक दोष हैं इस लिये शतपथ के पाठ का मुख्य प्रयोजन वही है जो ऊपर लिखा गया है ॥

॥ गङ्गादि नदियां ॥

अनेक मनुष्य गङ्गादि नदियों को पापनिवृत्ति का साधन और उन के स्नानदर्शनादि से मुक्ति वा स्वर्ग प्राप्ति मानते हैं । द्वितीय प्रकार के मनुष्य इस का सर्वथा खण्डन करते और गंगास्नान के लिये परिश्रम वा धन व्यय कर जाना सर्वथा निरर्थक मानते हैं हम इसी की विवेचना करते हैं कि इन दोनों पक्ष में थोड़ी २ भूल है । यदि स्नानदर्शनादि से मुक्ति हो जाती तो अब तक जिन २ मनुष्यों ने स्नानदर्शनादि निरन्तर किये और करते हैं उन की मुक्ति हो जानी चाहिये थी सो क्यों न हुई यदि कहो शरीर त्याग किये पश्चात् मुक्ति होगी तो उन में जीवन्मुक्ति के लक्षण रागद्वेष लोभ मोह क्रोध का त्याग वैराग्य ध्यान समाधि आदि लक्षण होने चाहिये जिस से निश्चय हो कि इन की मुक्ति शरीरान्त समय हो जायगी ॥

यदि कहो कि पापों से मुक्ति होने का अभिप्राय है तो विचारना चाहिये कि पाप क्या वस्तु है ? क्या शरीर के ऊपरी मैल के समान हैं जो गङ्गा में धोये जायगे ? संचित पापों का स्थान अन्तःकरण है जिस में दुष्ट वासनारूप से पाप रहते हैं उन का पूरा २ शोधन तप करने से ही हो सकता है जलादि से नहीं मनुस्मृति में कहा भी है कि—

क्षान्त्या शुध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः ।
प्रच्छन्नपापाजप्येन तपसा वेदवित्तमाः ॥

विद्वान् लोग शान्ति से शुद्ध होते न करने योग्य कामों के करने वाले दान अर्थात् विद्यादि के देने वा अनाथ दीन वा सुपात्र विद्वानों को अन्नादि उत्तम पदार्थ देने से शुद्ध होते जिन के पाप छिपे हुए हैं वे गायत्री आदि वेद मन्त्रों के निरन्तर विधिपूर्वक जप करने से और वेद के ज्ञाता तप करके शुद्ध होते हैं यदि जलादि के स्नानदर्शनादि से पाप छूटते तो धर्मशास्त्रकार ऐसे कठिन उपाय क्यों कहते ? । इस से नदियों का स्नान पापनिवृत्ति वा मुक्ति का उपाय नहीं है । मुक्तिविषय में वेद से भी विरुद्ध है कि आत्मज्ञान हुए विना मुक्ति नहीं हो सकती (तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय) उसी एक सर्वसाक्षी परमात्मा को जानकर जन्ममरण से छूट सकता है अन्य कोई भी मुक्ति का मार्ग नहीं है । इस से भी गङ्गादि नदियां मुक्ति देनेवाली नहीं हो सकतीं । इस प्रकार पहिला मन्तव्य शास्त्र और युक्ति दोनों से विरुद्ध है ।

द्वितीय प्रकार के लोग जो गङ्गादि के स्नान को सर्वथा व्यर्थ मानते हैं सो भी ठीक नहीं क्योंकि प्रथम तो चिकित्सा शास्त्र में स्नान के अनेक अच्छे २ गुण लिखे हैं सो सर्वथा व्यर्थ नहीं हो सकते युक्ति सिद्ध प्रत्यक्ष फलदायक होने से सब विद्वानों को मन्तव्य हैं फिर कूप आदि की अपेक्षा सामान्य नदियों का स्नान उत्तम है इस में धर्मशास्त्र की भी साक्षी हैः—

नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरस्सु च ।
स्नानं समाचरेन्नित्यं गर्तप्रस्रवणेषु च ॥ मनु० ४ । २०३

नदियों, श्रेष्ठ महात्माओं के निर्माण कराये तलाबों और झरनों आदि में नित्य स्नान करे इन में स्नान करने से आरोग्यता और चित्त की प्रसन्नता अन्य

की अपेक्षा विशेष होती है । फिर सब नदियों में गङ्गा का जल सर्वोत्तम है इस के गुणों की प्रशंसा अनेक लोगों ने वर्ण कर की है तो स्नान भी व्यर्थ नहीं और द्वितीय पक्ष वाले मुक्ति आदि फल समझते हैं सो भी ठीक नहीं अर्थात् स्नान करना उत्तम गंगाजल पीने को मिले यह और भी उत्तम है पर मुक्ति के साधन जो वेदादि शास्त्रों में लिखे हैं वे अवश्य करने चाहिये इस भूल में जन्म व्यतीत न कर देना चाहिये कि गंगा मुक्ति दे देगी ॥

अनेक लोगों को ऐसा भी भ्रम है कि गङ्गा का ऐसा माहात्म्य फैला है कि लाखों मनुष्य मानते हैं सो निर्मूल नहीं अर्थात् वेद में गङ्गा आदि की महिमा का प्रमाण है । देखो—इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि० इत्यादि में गङ्गादि नदियों का माहात्म्य कहा है फिर क्यों न मानें ?

उत्तर—हमारा अभिप्राय यह नहीं कि गङ्गादि नदियां कोई वस्तु नहीं उन को न मानना चाहिये किन्तु हम भी मानते हैं गङ्गादि नदियां हैं उन को मानना चाहिये हम मानते भी हैं । पर वेद में गङ्गादि शब्द आजाने से यह कैसे सिद्ध होगया कि गङ्गादि में स्नान करने से मुक्ति हो जाती है इस लिये इस मन्त्र का अर्थ भी समझना आवश्यक है हम लोग यह ठीक २ मानते हैं कि वेद में गङ्गादि नाम हैं शब्द सब अनादि हैं अर्थ के न होने वा बिगड़ने बनने पर भी शब्द बने रहते हैं । महाराजा दशरथ के पुत्र होने से पहिले भी रामचन्द्र शब्द विद्यमान था उस से पहिले अन्य किसी का नाम रामचन्द्र रक्खा गया होगा अब भी बहुतों का नाम रामचन्द्र रक्खा गया वा रक्खा जाता है वे सब जन्मते मरते चले आये और ऐसे ही जन्मते मरते रहेंगे पर रामचन्द्र शब्द ज्यों का त्यों बना है और बना रहेगा और सृष्टि के आरम्भ में जब तक किसी का निज नाम नहीं रक्खा गया तब भी रामचन्द्र शब्द विद्यमान था तो इस से यह सिद्ध हुआ कि वैदिकशब्द अनादि नित्य हैं इन के अर्थ (संसार के कार्य पदार्थों) के उत्पन्न नष्ट होते रहने से वेदों में कोई दोष नहीं आता । यह तो सभी को मानना पड़ेगा कि गङ्गादि शब्द वाच्य नदियों की उत्पत्ति से पहिले भी गङ्गादि शब्द अवश्य विद्यमान थे आज कल भी जब कोई अपने उत्पन्न पुत्रादि वा अन्य वस्तु का नाम रखता है तो नाम को उत्पन्न नहीं करता किन्तु सब नामी पदार्थों की उत्पत्ति और नाम रखने से पहिले ही नाम सब विद्यमान रहते हैं । जब २

पदार्थ उत्पन्न होते हैं तब २ उन के स्वामी अपनी इच्छानुसार वा उन २ पदार्थों के गुण कर्म स्वभाव देख कर उन के नाम रखलेते हैं कि इस शब्द के बोलने से इस अर्थ को समझेंगे। इसी प्रकार गङ्गादि शब्द वेद में अनादि काल से विद्यमान हैं उन का अर्थ संकेत विचार के वेदवेत्ता लोगों ने सामान्य वा विशेष नदियों का नाम रख लिया किन्तु यह अभिप्राय नहीं है कि गङ्गादि नदियों की रचना होने पश्चात् वेद में नाम लिखे गये हों ॥

और इस विचार को छोड़ कर यह मान भी लिया जाय कि किसी प्रकार सही—जिन को आज कल गङ्गादि नदी मानते हैं उन्हीं का नाम वेद में है तो भी कुछ दोष नहीं वेद में यह नहीं लिखा कि इन गङ्गादि नदियों में स्नान करने से मुक्ति होती वा पाप छूटते हैं क्योंकि इस मन्त्र का अर्थ देख लो विचार लो क्या है। यह मन्त्र ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ७५ मं० ५ है।

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या। असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयाऽऽर्जीकीये शृणुह्या सुषोमया ॥

पदानि—इमम्। मे। गङ्गे। यमुने। सरस्वति। शुतुद्रि। स्तोमम्। सचत। परुष्णि। आ। असिक्न्या। मरुत्ऽवृधे। वितस्तया। आर्जीकीये। शृणुहि। आ। सुऽसोमया ॥

यत्र यत्र वेदेषु प्रत्यक्षपदार्थवर्णनाय मन्त्राः सन्ति तत्र तत्र मध्यमपुरुषप्रयोगः कृतोऽत्रनिरुक्तम्। तास्त्रिविधऋचः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च तत्र प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना। निरु० अ० ७। खं० २। एतन्मन्त्रार्थं चैवमाहुर्नैरुक्ताः—

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि परुष्णि स्तोममासेवध्वमसिक्न्या च सह मरुद्वृधे वितस्तया चार्जीकीय आ शृणुहि सुषोमयाचेति समस्तार्थः। अथैकपदनिरुक्तम्। गङ्गा गमनाद्यमुना

प्रयुवती गच्छतीति वा । सरस्वती सरइत्युदकनाम सर्तेस्तद्वती । शुतुद्री शुद्राविणी क्षिप्रद्राविण्याशुतुन्नेव द्रवतीति वा इरावतीं परुष्णीत्याहुः पर्ववती भास्वती कुटिलगामिनी । असिक्न्यशुक्ला-ऽसिता सितमिति वर्णनाम तत्प्रतिषेधोऽसितम् । मरुद्वृधाः सर्वा नद्यो मरुत एना वर्द्धयन्ति । वितस्ता विदग्धा विवृद्धा महाकूला । आर्जीकीयां विपाडित्याहुर्ऋजूकप्रभवा वर्जुगामिनी वा विपाड्विपाटनाद्वा विपाशनाद्वा विप्रापणाद्वा पाशा अस्यां व्यपाश्यन्त वसिष्ठस्य मुमूर्षतस्तस्माद्विपाडुच्यते पूर्वमासीदुरुञ्जिरा सुषोमा सिन्धुर्यदेनामभिप्रसुवन्ति नद्यः सिन्धुः स्यन्दनात् । निरुक्तदैवतकाण्डे अ० ३ ख० २६ ॥

इमाः सर्वा नद्यः स्तोमं सचतोदकसमूहं सेवन्ते समवयन्ति वेति त्वमाशृणुहि मनुष्येणेदं श्रूयते ज्ञायते वा यन्नदीषूदकसमुदायः समवेतो भवतीति सिद्धानुवादः । नात्र किमपि पदमेवं प्रकारकमस्ति येन नदीनां मोक्षप्रदत्वं पापमोचकत्वं वा प्रतीयेत यादृशं वर्णनं गङ्गापदवाच्यस्य तादृशमेवान्यासां नात्र गङ्गाया वैलक्षण्यं विशिष्टफलप्रदत्वं वा प्रतिपाद्यते यादृशं स्नानजन्यफलं गङ्गायां सम्भवति तादृशमेवान्यासु कुतो न मन्यते यदि गुणकृतो विशेषः स त्वस्माभिरप्यूरीक्रियत एव तत्र न काचित्क्षतिरस्ति ॥

भाषार्थः—वेदों में प्रायः यही नियम है कि जहां २ प्रत्यक्ष पदार्थों के वर्णन करने वाले मन्त्र हैं उन में मध्यम पुरुष का प्रयोग किया गया है चाहे वे पदार्थ जड़ हों वा चेतन। और लौकिक ग्रन्थों में यह नियम है कि चेतन प्रत्यक्ष पदार्थों में ही मध्यम पुरुष का प्रयोग करते हैं सो वेद का अभिप्राय प्रत्यक्ष होने पर है किन्तु जड़ वस्तु चेतन नहीं हो सकती यह निरुक्तकार के (तास्त्व०) इत्यादि वचन का अभिप्राय है। शीघ्रगामिनी होने से गङ्गा । धीरे बहने से यमुना, चूने

वाले जल से युक्त होने से सरस्वती, शुतुद्री (शतगला वा शतलज) इरावती को परुष्णी कहते हैं। असिक्नी कालीनदी, वितस्ता बड़े २ तटों वाली, आर्जीकीया का नाम विपाशा पड़ा है, सुषोमा सिन्धु नदी अर्थात् समुद्र के समान बड़ी है ये सब नदियां वायुवेग से अधिक बढ़ती वा चलती हैं और सब जल के समुदाय को बहाती हैं यह मनुष्य को जानना चाहिये अर्थात् सब नदियों में जल इकट्ठा होता है यह मनुष्य को ज्ञातव्य है ॥

इस प्रकार गङ्गादि नदियों का नाम इस मन्त्र के अर्थ को विचार के रक्खा गया किन्तु नदियों की विद्यमानता में मन्त्र की उत्पत्ति नहीं हुई अर्थात् मन्त्र की विद्यमानता में नदियां रची गयी थीं और न इस मन्त्र में कोई ऐसा पद है जिस से नदियां मोक्ष देने वा पाप छुड़ाने वाली प्रतीत हों तथा जैसा सामान्य वर्णन गङ्गा शब्द का है वैसा ही अन्य नदी नामों का भी है इस से अन्य की अपेक्षा गङ्गा का विशेष महत्त्व भी सिद्ध नहीं होता जिस से गङ्गा को तीर्थ मानें अन्यों को न मानें। गङ्गा के स्नान में भी कुछ विशेषगुण नहीं लिखा जैसा सब का स्नान वैसा गङ्गा का भी निकलता है। यदि कहो कि गङ्गाजल में आरोग्यादि अनेक गुण विशेष हैं तो ऐसे गुण हम भी मानते हैं इन से कोई हानि नहीं सो हम पूर्व भी लिख चुके हैं कि कूप आदि की अपेक्षा नदियों और नदियों की अपेक्षा गङ्गा का स्नान उत्तम है पर पापों की निवृत्ति वा मुक्ति उस से कभी किसी की नहीं हो सकती। परन्तु पहिले के तुल्य गंगाजल में उत्तम गुण अब नहीं रहे कारण यह है कि पहिले इस भारतवर्ष में जङ्गल अधिक थे और नगर तथा ग्रामों की ऐसी वृद्धि नहीं थी जैसी अब होगयी और प्रतिदिन आबादी बढ़ती जाती है क्योंकि विषयासक्ति के अधिक बढ़ जानेसे निकम्मे मनुष्य सर्वतो भ्रष्ट अधिक उत्पन्न होते हैं। इसी कारण गंगा का जल मलीन होगया नीरोग होने के बदले रोगकारक होगया। हरद्वार से लेकर कलकत्ता तक सहस्रों मनुष्यादि प्राणियों के मुर्दा शरीर प्रतिदिन गंगा में डाले जाते हैं जिन का मांस मल मूत्रादि जल में घुल २ कर मिलता जाता है तथा अनेक नगर जो गङ्गातट पर बसते हैं उन का मलमूत्र प्रायः सभी गंगा में ही जाकर घुल जाता है इस प्रकार सहस्रों मन मल भी प्रतिदिन गंगा में पड़ता है तथा निकटवर्त्ती शहरों की मोरीं जिन में सब प्रकार का दुर्गन्धयुक्त पानी निकलता वे भी प्रायः गंगा में ही गिरती हैं। और अनेक (सहस्रों) मलीन मनुष्य प्रतिदिन सब प्रकार

का मैल गंगा में अधिक धोते हैं इत्यादि अनेक मलीनताओं से अब गंगा का जल पहिले की अपेक्षा बहुत बिगड़ गया। इस से भिन्न एक और भी बड़ा कारण है कि गंगा का सब जल अनेक नहरों में खींच लिया जाता है और वह ऐसी जगहों में फिरा कर फिर गंगा में छोड़ा जाता है जहां की पृथिवी का अवगुण उस जल में चला आता तथा अन्य अनेक नदियां जो बीच २ में मिलती गयीं हैं उन के जल में जो २ दोष हैं वे भी गंगाजल में आजाते हैं। यदि काशी वा प्रयाग में वा और पूर्व में कोई विचारपूर्वक निश्चय करे तो असली गंगाजल दशांश भी ठहरना दुस्तर है किन्तु अन्य नदियों का जल ही मुख्य है इस कारण उसी का गुण प्रधान समझो तिस में भी अनेक प्रकार के मलमूत्र मिलते हैं फिर शोचिये कि इस दशा में गंगाजल की उत्तमता कहां रही। अब भी यदि कुछ गंगाजल में उत्तमता है तो हरद्वार में वा उस से भी ऊपर पहाड़ों में है जहां गंगा के निर्मल जल के प्रवाह को देख कर ही एक प्रकार की प्रसन्नता होती और बिना प्यास भी पीने को चित्त चाहता है। इस प्रकार बिगड़ी हुई दशा में भी गंगा में बालू के अधिक होने और शीघ्रप्रवाह होने के कारण अन्य नदी कूप तड़ागादि की अपेक्षा गंगाजल को कुछ उत्तम कह सकते हैं क्योंकि बालू मट्टी प्रायः जल के दोषों को खींच कर शोधती रहती है। और जिस में शीघ्रप्रवाह होता उस जल में पड़े मलमूत्रादि प्रवाह के बल से एक जगह ठहरते नहीं उस नदीमें प्रायः नया २ जल आता जाता है इसी कारण सुश्रुत में शीघ्रप्रवाह वाले जल को मन्दप्रवाह वाले से कुछ उत्तम माना है इस कारण गंगाजल को कुछ उत्तम कह सकते हैं किन्तु परमार्थ वा ज्ञान का हेतु किसी युक्ति वा प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता ॥

सनातनधर्मसिद्धान्त ॥

ऐसे पदार्थों को भी पूज्य मानना पड़ेगा जिन को देखकर दूर २ भागते हैं। और सर्वरूप को नमः कहने वालों का यदि यह आशय होगा कि सब पदार्थों की मूर्त्ति बना कर पूजनी चाहिये तो अब तक संसार में सब की मूर्त्ति पूजने की परिपाटी क्यों नहीं चली? क्यों पत्थर काष्ठ मट्टी आदि थोड़े वस्तुओं की ही मूर्त्ति पूजते रहे?। और यदि सर्वरूप की मूर्त्ति बना कर वा जिन २ पदार्थों के नाम

गिनाये हैं उन की साक्षात्पूजा करने पर अभिप्राय हो तो (नमो वञ्चते परिवञ्चते) इत्यादि मन्त्रों में लिखे ठगते हुए वा विशेष कर ठगते हुए मनुष्यों की भी पूजा होनी चाहिये सो यह विरुद्ध है ठग आदि दुष्टों की पूजा पुष्प धूप दीपादि से कोई नहीं करता किन्तु उपानहों से भले ही कोई उनकी पूजा करता हो ।

सनातनधर्मसिद्धान्ते-यजु० अ० १६ मं० ४२ नमस्तीर्थ्याय च । याने तीर्थ में जो पैदा भये हों याने नम् ईश्वर शालग्राम वा द्वारिका गोमती चक्रादिरूप को नमस्कार है ये सब चारों वेद ब्रह्मा के मुख से निकले हैं परमेश्वर आप ही प्रतिमा को नमस्कार करता है देखो ऐसे को वेदार्थ ज्ञान रहित अन्धा कहना चाहिये और लोक में भी प्रतिमा देख कर जो दयानन्द प्रतिमा देवतन की न मानी वेद से तो उस की चारों आंखें फू: गई मालूम होता है कि आर्यमत वाले भी अन्धे अन्ध को पकड़ कर महामोह अज्ञान में पड़े हैं ॥

उत्तर-यह १६ अध्याय के ४२ मन्त्र का एक वाक्य है इस का अर्थ महीधर ने लिखा है कि (तीर्थे प्रयागादौ भवस्तस्मै) इस से पत्थर आदि की बटिया लेना महीधर का भी आशय नहीं है (तीर्थे भवस्तीर्थ्यः) यह अर्थ तो महीधर का भी ठीक है केवल तीर्थ के साथ जो प्रयागादि शब्द विशेषण लगाया यह विचारणीय है । प्रयागादि का नाम तीर्थ है ऐसा किसी ने नहीं लिखा किन्तु महीधर ने वर्त्तमान परिपाटी को देख कर लिख दिया है । अमरकोष वाले ने लिखा है कि—

निपानागमयोस्तीर्थमृषिजुष्टजले गुरौ ॥

कूपादि के पास जो जलाशय जल का कुण्ड बनता उस, वेदादि शास्त्र, ऋषि—वेदपाठी ब्रह्मचारी लोग जिस जल का सेवन करते उस जल और गुरु को तीर्थ कहते हैं । इस से भिन्न अन्य लोगों ने यज्ञ और घाट आदि को भी तीर्थ कहा है पर प्रयागादि को तीर्थ किसी ने नहीं माना तो ऐसा अर्थ करना निर्मूल है । कदाचित् प्रयागादि अर्थ किसी प्रकार कोई मान भी ले तो पत्थर को नमस्कार किसी प्रकार नहीं आसकता क्योंकि प्रयागादि में सभी पदार्थ होते हैं उन में से जिन को नमस्कार की योग्यता हो उन को करना चाहिये ऐसे विद्वान् वेदवेत्ता धर्मनिष्ठ ब्राह्मण हो सकते हैं यदि कोई कहे कि हम प्रयागादि में हुए सब पदार्थों को नमस्कार करेंगे तो क्या प्रयागादि के विष्ठादि को भी

नमस्कार करना चाहिये ? इस लिये योग्यता देखना आवश्यक है जो नमस्कार करने योग्य विद्वान् ऋषि हों उन को नमस्कार करना चाहिये ॥

और तीर्थ में पैदा भये यह अर्थ तो हंसी का सा है तीर्थ में कौन पैदा होता है क्या पत्थर की बटियां तीर्थ में ही पैदा होती हैं ? क्या तीर्थ में अन्य मनुष्यादि पैदा नहीं होते ? उन को नमस्कार क्यों नहीं और भव जो तद्धितार्थ है उस का उत्पत्ति अर्थ भी नहीं है यदि पं० रघुनन्दन जी कुछ व्याकरण पढ़े होते और जात भव अर्थों का भेद समझा होता तो ऐसा ऊटपटांग अर्थ कभी न करते । जात करके उत्पत्ति और भव का विद्यमान अर्थ लिया गया है यह बात पाणिनीय व्याकरण पढ़े विद्वान् अच्छे प्रकार जानते हैं इन पं० रघु० जी ने कुछ पढ़ा भी होगा तो सारस्वतादि कल्पित वेदविमुख ग्रन्थ पढ़े होंगे उनसे ऐसी बातें क्यों कर जानी जातीं अस्तु आगे शालग्रामादि अर्थ और अनेक प्रकार की कल्पना लिखी है उस का मन्त्रार्थ से कुछ भी सम्बन्ध नहीं इसलिये उसपर कुछ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है आगे स्वामीदयानन्द सरस्वती जी महाराज को वा आर्यों को गाली दी हैं इस पर हम कुछ उत्तर नहीं दे सकते यह उन्हीं महाशय को शोभा देती है हम को ईश्वर कुवाच्य लिखने से बचावे।

चारो वेद ब्रह्मा के मुख से निकले क्या ग्रास के समान वेद के पुस्तक वा पत्रे ब्रह्माने उगल दिये वा मन्त्रों का उच्चारण ढोल की पोल से नाद के समान हुआ यदि उच्चारण हुआ तो किसी ने निकलते समय शीघ्र २ लिख लिये वा कण्ठ कर लिये और ब्रह्मा जी ने विचार पूर्वक उच्चारण किये वा विना विचारे अकस्मात् शब्द निकलने लगा इस की क्या व्यवस्था है ? हम लोग इस प्रकार नहीं मानते जिस में ऐसे प्रश्न उत्पन्न हों ऐसा किसी को मानना भी नहीं चाहिये आगे लिखते हैं कि (परमेश्वर आप ही प्रतिमा को नमस्कार करता है) हम पूछते हैं किस की प्रतिमा को नमस्कार करता है प्रतिमा नाम छाया का है परमेश्वर किस की छाया को नमस्कार करता है ? यदि अपनी को कहो तो ऐसा काम कोई अज्ञानी भी नहीं करता कि हे मेरी छाया तुझ को नमस्कार है क्योंकि छायावान् से भिन्न छाया कोई पदार्थ नहीं जिस से नमस्कार कहा जाय तो परमेश्वर ऐसा करे यह कभी सम्भव नहीं है । यदि कहो इन्द्रादि देवताओं की प्रतिमाओं को नमस्कार करता है तो इन्द्रादि क्या परमेश्वर के अफसर

(अफसर) हैं जिन को नमस्कार करता है ? । ऐसी बातें लिखना बुद्धिमानों में हास्य कराना है । हम पं० रघुनन्दन भट्टाचार्य्य जी से प्रार्थना करते हैं कि अच्छे प्रकार आर्यसिद्धान्तों का खण्डन करें और हम के प्रतिपक्षी बने रहें पर लेख सभ्यतापूर्वक लिखें और विचार करें कि सभ्यता किस चिड़िया का नाम है इस शब्द के अर्थ पर किन को आरूढ़ होना चाहिये सभ्य होना किस का काम है ऐसा भी विचार करना चाहिये । मेरी समझ में सभ्य होना मुख्य काम पण्डितों का है द्वितीय यह कि जो कुछ लिखा जाय उस के साथ पुष्ट प्रमाण और युक्ति भी रहें जिस से तुच्छता न समझी जावे ॥

ओ३म्

निम्नलिखितप्रश्नानाश्चोत्तरं सव्यासं लेख्यम् ?

(१) जीवो व्यापक आहोस्विद्व्याप्यः ? आद्यश्चेदोमिति ब्रूमः । तथा च वैशेषिकनये—"विभुर्महानाकाशस्तथा चात्मा" । द्वितीयश्चेत् तत्र किं मानम् ? कियत्प्रमाणकश्च ?

(२) "अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः" अस्य मन्त्रस्य कोर्थः ? यदि ब्रह्मणो निःश्वसितं वेदस्तर्हि किमधुना तदभावः ? नास्तिचेत्कथं चत्वारो वेदा यावन्तः सन्ति तावन्तएवेति वक्तुं शक्यते अधुनापि तदुत्पत्तिसम्भवात् ।

(३) श्रीस्वामिभिः सत्यार्थप्रकाशे मुक्तस्य पुनरावृत्तिः कथिता परन्तु वेदान्तदर्शने "अनावृत्तिः शब्दा—दनावृत्तिः शब्दात्" इति निश्चितम् । तत्कथं सङ्गतिः करणीया ? किञ्च वेदेपि "न स पुनरावर्त्तते न स पुनरावर्त्तते" अत्र श्रीमद्भिर्यन्निश्चितं तल्लेख्यम् ।

तत्रभवत्पत्राकाङ्क्षी चन्द्रदत्तशर्म्मा ।

(१) जीव व्यापक है वा व्याप्य । यदि व्यापक है तो ठीक है क्योंकि वैशेषिकदर्शन में लिखा है कि आकाश और आत्मा महत्परिमाण और विभु (व्यापक) हैं। यदि कहो कि जीवात्मा व्याप्य है तो क्या प्रमाण। और कितना लंबा चौड़ा है ।

(२) शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि ऋग्वेदादि चारो वेद इस महान् भूत के श्वास से निकले इस का क्या अभिप्राय है । यदि ब्रह्म का श्वास रूप वेद हैं तो वह श्वास इस समय क्यों नहीं निकलता और यदि ऐसा नहीं है तो चारो वेद जितने हैं उतने ही कैसे कह सकते हैं क्योंकि इस समय भी ब्रह्म से वेदों की उत्पत्ति होनी चाहिये ।

(३) श्री स्वामी जी महाराज ने सत्यार्थप्रकाश में मुक्ति से लौट आना लिखा है परन्तु वेदान्तदर्शन में व्यास जी ने (अनावृत्तिः०) इत्यादि सूत्र से निश्चित किया है कि मुक्ती से फिर नहीं लौटते हैं । सो इस की संगती कैसे लगानी चाहिये और वेद में भी लिखा है कि वह मुक्त पुरुष संसार में फिर नहीं आता इस विषय में आप ने जो कुछ निश्चय किया हो सो लिखिये ॥

भगवन्! मदनुमतौ जीवो व्याप्यः। न तु व्यापकः। इदं च विप्रतिषिद्धम्। यद्व्यापकस्य जीवत्वं जीवस्य वा व्यापकत्वं योहि व्यापको नासौ जीवो यश्च जीवो नासौ व्यापकः। जीवत्वं नाम प्राणधारकत्वं न च प्राणक्रिया सर्वत्र दरीदृश्यते शवादिष्वदर्शनात्। यदि जीवो व्यापकः स्यात्तर्हि शवादिष्वपि प्राणधारणमुपलभ्येत। नास्ति चेत्कथं व्यापकत्वं जीवस्य स्वीक्रियते? एकस्मिन्प्राणिनिकाये स्वशक्त्या व्याप्तो जीव इति सम्भवति। वैशेषिकसूत्रे जीवशब्दो नास्ति नच तच्छास्त्रमात्मन इयत्तानिर्णायकम्। तत्रात्मशब्देन योऽसौ व्याप्त आत्मा ब्रह्म स व्याख्येयः। यदि वैशेषिके कश्चिदात्मसामान्येन जीवस्यापि ग्रहणं कुर्य्यात्तथापि नायं दोषः स्वरूपेण व्याप्यसम्भवाज्जात्या जीवो व्याप्त

इति व्याख्यास्यते । नहि किञ्चित्प्रदेशान्तरमस्ति यत्र जीवव्यक्तीनामभावः । सर्वप्रदेशेषु जीवा जातिरूपेण व्याप्ता इति कथनं सम्भवति । स्वरूपेण व्याप्तानामनेकत्वमप्यसम्भवम् । अतो न व्यापका जीवा इति राद्धान्तः सम्यक् । अत्राध्यात्मविद्यायामुपनिषत्स्वपि प्रामाण्यं दृश्यते तद्यथा ॥

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥

नात्रव्याख्येयमस्ति किमपि पदं स्पष्टत्वात् । अतो मन्ये स्वशरीरादिस्थूलकायवस्तुनि व्यापको ब्रह्मापेक्षयाल्पो व्याप्यश्च ॥

२—वेदा ईश्वरस्य निःश्वासभूता इत्यस्याशयोऽयमस्ति यथा पुरुषस्य प्राणभृत उच्छ्वासनिःश्वासौ स्वभावादेव प्रवर्त्तेते न कश्चित्प्रयत्नविशेषः श्वासावसरेऽपेक्षितो भवत्येवं सर्गारम्भे ब्रह्मणः स्वभावादेव वेदाः प्रादुर्भवन्ति न तत्र प्रयत्नविशेषस्यापेक्षा ग्रन्थनिर्माणेऽस्मदादिवद्ब्रह्मणो जायते । वेदादिशास्त्रेषु ब्रह्मणो मुखाद्यवयवानां निराकृतत्वात् । अतस्तदानीमपि वास्तविकश्वासस्याभावएव ब्रह्मणि मन्तव्यइत्यर्थः ॥

३—वेदान्तदर्शन उपनिषत्सु च यत्र यत्र पुनरावृत्तिर्मुक्तस्य प्रतिषिद्धा तत्र तत्र पुनर्जन्मादिवत्प्रतिषेधस्य तात्पर्य्यमस्ति । यथा कश्चित्कथयेत् । तुभ्यमेतद्दीयतेऽस्माभिः पुनर्न ग्रहीष्यामः । तत्र यावज्जीवनं दानस्य तात्पर्य्यमस्ति नहि जन्मान्तरेऽपि कश्चित्तद्दातुमर्हति बहुकालाय कृतं कार्यमपि सदार्थं व्यवहारे वदन्ति तथैव तत्रापि योज्यम् । योहि नित्यामपुनरावृत्तिं मन्यते तेनैतत्समाधेयम् । जन्ममरणप्रबन्धोऽनादिः सादिर्वा । यद्यनादिः

कथं सान्तो भविष्यति । न कश्चिदनादि सान्तं भवतीत्युपपादयितुं समर्थः । सादिश्चेत्कथं केन कारणेन शरीराद्युत्पत्तिः । जीवा नित्या अनित्या वा नित्यानां मुक्तावेव सत्यां कदाचित्सर्वमोक्षे संसारोच्छेदप्रसङ्गस्तदा च बन्धाभावे मोक्षाभाव आपद्येत सापेक्षसिद्धत्वात् ॥

भाषार्थ–यद्यपि पूर्वोक्त तीनों प्रश्न शास्त्रसम्बन्धी गम्भीर विषयों पर हैं उन का विवेचन करने के लिये अधिक समय और पण्डिताई की आवश्यकता है तथापि मैं संक्षेप से अपनी सम्मति लिखता हूं जीवात्मा व्याप्य है किन्तु व्यापक नहीं क्योंकि यह बात परस्पर विरुद्ध है कि जो व्यापक हो वह जीव कहावे जो व्यापक होता है वह जीव नहीं हो सकता और जो जीव है वह व्यापक नहीं होसकता जैसे परिच्छिन्न सब पदार्थ क्रियावान् होते हैं और विभु-व्यापक जो द्रव्य हैं वे निष्क्रिय होते हैं जीव का लक्षण भी क्रिया है अर्थात् व्याकरण में (जीव प्राणधारणे) धातु है इसी से प्राणों का धारण करने रूप अर्थ वाला जीवशब्द बनता है जब तक शरीर में प्राण की चेष्टा दीख पड़ती अर्थात् श्वास चलता है तब तक मानते हैं कि जीव है और जब श्वास बन्द हो जाता है तब कहते हैं कि जीव निकल गया यदि जीव व्यापक होता तो सर्वत्र होने से मुर्दों में भी बना रहता और जैसे आकाश में व्यापक होने से निकलना पैठना आना जाना आदि क्रिया नहीं बनसक्ती वैसे जीवात्मा में भी नहीं बनेगी तो किसी का मरण न होना चाहिये और यदि मरते समय शरीर से निकल जाता है तो व्यापक कदापि नहीं हो सकता जैसे आकाश व्यापक है तो उसके लिये कोई नहीं कह सकता कि यहां का आकाश अन्यत्र चलागया। और वैशेषिक सूत्र में जो लिखा है कि आत्मा महत्परिमाणविशिष्ट और विभु है उस में आत्मशब्द पढ़ा है किन्तु जीवशब्द नहीं पढ़ा वहां व्यापक जो ब्रह्म है उसी का ग्रहण आत्मशब्द से होना चाहिये । सामान्यतौर पर यह कह सकते हैं कि अपनी शक्ति से एक शरीर भर में जीव व्यापक है और उस सूत्र में आत्मशब्द से जीवात्मा परमात्मा दोनों का सामान्य ग्रहण किया जाय तो भी जीव के व्याप्य होने में दोष नहीं आता क्योंकि अतिसूक्ष्म होने से जीव सर्वत्र रहते हैं अनेक

प्रकार के शरीरधारी होते हैं जलवनपर्वतादि अतिकठिनस्थानों में जहां मनुष्य का गम्य नहीं वहां भी अनेक प्रकार के जीव रहते हैं अर्थात् जातिरूप से जीव सर्वत्र व्याप्त हैं यह कहना बन सकता है और जो कोई स्वरूप से जीव को व्यापक माने उस के मत में अनेक जीव नहीं हो सकते हैं जैसे आकाश व्यापक होने से एक ही है एक प्रकार के व्यापक पदार्थ अनेक नहीं हो सकते इस से यह सिद्ध हुआ कि जीव स्वरूप से व्यापक नहीं ॥

और अध्यात्म विद्या अर्थात् उपनिषदों में भी जीव का स्वरूप लिखा है (बालाग्रशत०) यह श्वेताश्वतर उपनिषद् का वचन है इस का अभिप्राय यह है कि बाल के अग्रभाग के हजारवें अंश के बराबर जीवात्मा का स्वरूप है इस से भी यह सिद्ध होता है कि जीव अपने स्थूलशरीरादि में व्यापक और ब्रह्म की अपेक्षा अल्प वा व्याप्य है ॥

प्र० २–(महतो भूतस्य निःश्वसितम्) यह मंत्र नहीं है किन्तु शतपथ ब्राह्मण का पाठ है इस का अभिप्राय प्रश्नकर्त्ता महाशय यह समझे होंगे कि वेद ईश्वर का श्वासरूप है और श्वास कभी बन्द होता नहीं तो सदा वेदों की उत्पत्ति होनी चाहिये सो यह आशय नहीं है किन्तु जैसे मनुष्य के शरीर से सोते जागते सब समय में विना परिश्रम किये स्वभाव से ही श्वास चलता है किन्तु श्वास लेते समय किसी प्रकार का विशेष प्रयत्न नहीं करने पड़ता वैसे ही सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर के सहज स्वभाव से ही वेद प्रकट होते हैं किन्तु ग्रन्थ बनाने में हम लोगों के समान ईश्वर को परिश्रम नहीं करने पड़ता । वेदादिशास्त्रों में परमेश्वर के मुखादि अङ्गों का निषेध किया है जब उस के मुख नहीं तो श्वास लेना भी नहीं कह सकते इस लिये ऊपर लिखा अभिप्राय ठीक है ॥

प्र० ३–वेदान्तदर्शन वा उपनिषदों में जहां२ मुक्त पुरुष की पुनरावृत्ति का निषेध किया है वहां २ वार २ जन्म होने के तुल्य निषेध किया है जैसे मनुष्य वार २ जन्मता मरता है वैसे मुक्त पुरुष नहीं । जैसे कोई कहे कि तुम को यह पदार्थ मैं देता हूं इस को फिर न लूंगा वहां भी उस के जीवन पर्यन्त देने से तात्पर्य है क्योंकि जन्मान्तर में कोई पदार्थ किसी को नहीं दिया जासकता लोक में बहुत काल के लिये जो काम किया जाता है उस को भी व्यवहार में सदा के लिये कहते हैं वैसे ही बहुत काल के लिये हुई मुक्ति सदा के लिये कही गई

है जो पुरुष मुक्ति को नित्य मानता है उस को जन्म मरण का प्रबन्ध सादि मानना पड़ेगा सादि होने में पहिला जन्म किस कारण हुआ यह सिद्ध करना दुस्तर है यदि अनादि माने तो उस का सान्त सिद्ध करना कठिन होगा और उस के मत में जीवों को नित्य मानना भी नहीं बनेगा क्योंकि नित्य जीवों को धीरे २ मुक्ति हो जाने से संसारदशा का अभाव होने से बन्ध न रहेगा और बन्ध के अभाव में मोक्ष भी कोई वस्तु नहीं क्योंकि ये दोनों सापेक्ष सिद्ध हैं जैसे अधर्म कोई वस्तु नहीं तो धर्म किस को कहें अथवा अन्धकार कुछ न हो तो प्रकाश किस को मानें इसी प्रकार बन्ध के न रहने से मुक्ति भी नहीं बन सक्ती मुक्ति से पुनरावृत्ति होने के विषय में पहिले भी कई वार लिखा गया है इस लिये यहां अधिक नहीं लिखता ॥

धर्मसभा फर्रुखाबाद

फर्रुखाबाद की धर्मसभा कई वर्ष से नियत हुई है। आज कल अनेक नामों से सभा वा समाज नियत किये जाते हैं इन की प्रथम प्रक्रिया परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमद्दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने चलाई। पीछे धर्मसभा, मित्रसभा, धर्मान्वेषिणी सभा, अनेकजातीयसभा वा सार्वजनिक सभा इत्यादि नामों से नियत हुई और होती जाती हैं। इन में अधिकांश तो ऐसी सभा हैं जिनका उद्देश किसी की हानि वा किसी मत का खण्डन वा किसी सभा समुदाय वा मत के प्रतिपक्ष में विरुद्ध सेना खड़ी करने का नहीं है किन्तु जातीय सामाजिक वा आत्मिक शक्ति को उत्तेजित करने का उद्देश है वे सभा अवश्य अपने उद्देश को सिद्ध कर लें यह सम्भव है। पर कोई २ सभा ऐसी हैं जिन का मुख्य उद्देश स्वार्थसिद्धि है अर्थात् कई मनुष्य इकट्ठे होकर जैसे ठग वा चोर अपने कर्त्तव्य को पुष्ट करने के लिये धर्मात्मा परोपकारी लोगों को क्लेश देने के अर्थ कि जिस से हमारा धर्म विरुद्ध व्यवहार बना रहे सभा करते हैं और चाहते हैं कि सामाजिक सर्वहितकारी नियमों में बाधा डालने की यथाशक्ति चेष्टा भी करें पर धर्मका पक्ष प्रबल है धर्मात्मा लोग निर्भय निःशङ्क होते हैं उन के सामने धर्मध्वजी लोगों की कुछ चलती नहीं है। धर्म अधर्म का देवासुरसङ्ग्राम अनादि काल से चला आया और बना रहेगा पर धर्म का पक्ष इसलिये बलवान् है कि एक तैजस छोटीसी दीप ज्योति के होने से घर भर का अन्धकार दूर हो जाता है इसी प्रकार एक सूर्य

ज्योति से ब्रह्माण्ड भर का अन्धकार चला जाता है यहां दीप और सूर्य देव पक्ष में और अन्धकार असुर पक्ष में है ॥

इसी प्रकार एक प्रतापी धर्मात्मा के सामने आत्मचोर मिथ्यावादी स्वार्थी धर्मध्वजी लोगों का कभी साहस नहीं हो सकता कि वे अपने जाल को ठीक२ फैला सकें इस का उदाहरण प्रत्यक्ष लोग देख चुके कि परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमद्दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने विद्यारूप तेज का प्रकाश फैलाने का संकल्प किया उस के विरोधी प्रायः देश भर रहा पर किसी का साहस न हुआ कि जो उस परोपकारी के संकल्प में बाधा डाल सकता वह संकल्प प्रतिक्षण संसार में फैलता जाता है जिस का परिणाम कुछ काल में सब को प्रकट हो जायगा। इस लेख से मेरा प्रयोजन यही है कि धर्मात्मा लोग सदा अपने कर्त्तव्य पर सन्नद्ध रहें और यह न समझें कि प्रतिपक्षी हमारे कर्त्तव्य में बाधा डाल सकते हैं पर अपने कर्त्तव्य को कभी न भूलें यदि कर्त्तव्य का ध्यान छोड़ निःशङ्क सोवें गे तो प्रमादरूप असुर अवश्य बाधा डालेगा।

इस लिये धर्मात्माओं को सचेत होना चाहिये आज कल सब सभाओं में धर्मसभा वा भारतधर्ममहामण्डल के नाम से जो सभा हैं वे प्रायः स्वार्थरक्षा और सर्वोपकारिणी सभाओं के कर्त्तव्य में बाधा डालने के लिये नियत हुई हैं। मेरा अभिप्राय इस प्रसंग में यह नहीं है कि किसी सभा वा समुदाय में सभी मनुष्य धर्मात्मा वा अधर्मी हो सकते हैं किन्तु अधिकों वा मुख्यों का प्रवाह बलवान् होता है जिस ओर को प्रवाह की धारा चलती है उसी के साथ पराधीन हो कर निर्बल वा गौण भी बहजाते हैं जैसे किसी नदी का प्रवाह पूर्व को निरन्तर चल रहा है तो जो जीव जन्तु उस में पड़ के पश्चिम को चलना चाहे उस का प्रयत्न सफल होना कदापि सम्भव नहीं। इसी प्रकार किसी सभा वा समुदाय का प्रवाह धर्म परोपकार आदि वा अधर्म विरोध आदि की ओर चलता हो उस में पड़ने वाला अधर्मी वा धर्मात्मा उसी प्रवाह में पड़ कर बह जाता है पर कभी कोई ऐसा भी वीर उसी समुदाय में उत्पन्न हो जाता है जो प्रवाह के वेग को दूसरी ओर अपने पुरुषार्थ से लौट देता है और प्रवाह के साथ नहीं बह चलता। इस प्रसंग में अभिप्राय यह है कि आर्यसमाज वैदिकधर्म की दृढ़ स्थिति करने के लिये एक समुदाय है इस का प्रवाह धर्म परोपकार की ओर चल रहा

है तो भी यह नहीं कह सकते कि इस समुदाय में सभी धर्मात्मा हैं। जिन की निष्ठा ईर्षा द्वेष स्वार्थ वा अन्य के अनिष्टचिन्तन पर हो ऐसे भी कुछ मनुष्य आर्यसमाजरूप समुदाय में हों पर वे उस प्रवाह से विरुद्ध चलकर धर्म परोपकार में कुछ बाधा नहीं डाल सकते किन्तु उसी प्रवाह के साथ उन को चलने पड़ता है और चलना पड़ेगा। इसी प्रकार धर्मसभा वा धर्ममहामण्डल का उद्देश जैसा कि उन के नियमों से झलकता है आर्यसमाज के कर्त्तव्य में बाधा डालने का प्रतीत होता है सो केवल उन के नियमों से ही अनुमान नहीं किया गया है किन्तु प्रत्यक्ष में उन की कार्यप्रणाली से भी सब को यही प्रतीत है कि ये लोग एक समुदाय के कर्त्तव्य में बाधा डालना चाहते हैं परन्तु उन के अभीष्ट से विपरीत प्रतिदिन आर्यसमाज की वृद्धि होती है। यद्यपि धर्मसभाओं का मुख्य प्रवाह परोपकार में बाधा डालने का है पर तोभी उस समुदाय में सब मनुष्यों का यही अभीष्ट नहीं उन में सब धर्म के विरोधी नहीं किन्तु अनेक अच्छे भी हैं पर उसी प्रवाह के साथ बहे चले जाते हैं।

सभा वा समाजों का जब तक आरम्भ नहीं हुआ था उस से पहिले भारतवर्ष निवासियों का एक प्रवाह उलटा चलने लगा था इसी समय में एक प्रबल प्रतापी दृढोत्साही श्रीमद्दयानन्द सरस्वती जी उत्पन्न हुए वे उस प्रवाह में न चल कर अपने तपोबल के प्रताप से प्रवाह के वेग को शिथिल किया और दूसरी ओर को प्रवाह का मुख फेरा।

यह भी एक सृष्टि का नियम है कि सब कार्य वस्तु नये पुराने होते रहते हैं नये का प्रवाह बलरूप प्रतिदिन बढ़ता और पुराने के सब अवयव शिथिल होते जाते हैं सो अब आर्यसमाज चढ़ती हुई बाल्यावस्था का नवीन है और शैव वैष्णवादिमत अब वृद्ध होने को आये काष्ठपाषाणादि की मूर्त्ति बना कर पूजना जलस्थलादि में तीर्थबुद्धि होना ये सब पुराने हुए आगे प्रतिदिन शिथिल होगे और आर्यसमाज नवीनप्रणाली युवावस्था को प्राप्त होता जायगा। इस लिये उस मूर्त्ति पूजनादि अपने स्वार्थ की रक्षा करने के अभिप्राय से आर्यसमाज के कर्त्तव्य में बाधा डालने की चेष्टा करना निष्फल है अब यह आशा उन को तोड़ देनी चाहिये कि मूर्त्तिपूजादि पाखण्ड किसी प्रकार रख सकते हैं अब यह नहीं बचेगा यदि कहो कि आर्यसमाज बाल्यावस्था में है इस में पूरा बल नहीं बालक

को सहज में धमका के दबा ले सकते हैं वा विषादिप्रयोगद्वारा मार सकते हैं तो उत्तर यह है कि एक दो वा दश बीश मनुष्यों को कोई धमका भी सकता है परन्तु धमका लेने मात्र से उन का आन्तरिक विचार लौटना असम्भव है विषादिप्रयोगद्वारा कुछ मनुष्यों के शरीर नष्ट हो सकते हैं आर्यसमाज का सिद्धान्त तो अजर अमर है वही वास्तव में आर्यसमाज है उस का नवीन होना केवल यही है कि उस का आविर्भाव तिरोभाव होता है इस से यह सिद्ध हुआ कि आर्यसमाजस्थों को सदैव दृढोत्साह बढ़ाना चाहिये और प्रतिपक्षियों को अपना प्रयत्न निष्फल समझ के शिथिल करना और आर्यसामाजिक सिद्धान्त के सहायकारी बनने का उद्योग वा साहस करना चाहिये। यद्यपि इस समय आर्यसमाजरूप वृक्ष पर ठीक २ पत्ते नहीं इसलिये इस का आश्रय लेने वालों को पूरी छाया नहीं मिल सकती तो भी निम्नलिखित किसी कविराज के वचन का स्मरण कर आश्रय अवश्य लेना चाहिये ॥

छायामपास्य बृहतीमपि वर्त्तमानामागामिनीं जगृहिरे जनतास्तरूणाम् ॥

अर्थात्—दो प्रकार मनुष्यों के झुण्ड बैठे थे उन में बुद्धिमान् वे थे जिन्हों वृक्षों के तले घनी वर्त्तमान छाया को छोड़ के जहां बहुत काल के लिये छाया आने वाली थी और वहां वर्त्तमान में घाम भी था उस स्थल का आश्रय लिया है इसी प्रकार आर्यसमाजरूप वृक्ष के नीचे चिरस्थायिनी छाया आने वाली है विचारशील जान सकते हैं ॥

धर्मसभा अनेक हैं इन सब के नियम और सम्मति भी एक नहीं है। मैं इस प्रसङ्ग में धर्मसभा फर्रुखाबाद के मासिकपत्र की समालोचना करना चाहता हूं उस में जो २ वेद मन्त्र शैववैष्णवादि सम्प्रदाय वा पाषाणादि की मूर्त्तिपूजन में लगाये हैं उन की समालोचना करूंगा इस से पहिले उन के उद्देश वा नियमों पर कुछ समालोचना लिखता हूं ॥

१ नियम—यह सभा परमेश्वर की इच्छा से नियत हुई है ॥

क्या सब सभा वा समाज परमेश्वर की इच्छा से नियत होते हैं वा कोई २? यदि कहो कि सब, तो आर्यसमाज ईसाई मूसाई मुहम्मदी जैन बौद्ध सभी की सभा कमेटी ईश्वर की इच्छा से नियत होनी चाहिये यदि ये सब ईश्वर का ही

की इच्छा से नियत हुई तो इन में परस्पर विरोध लड़ाई करना भी ईश्वर का ही काम हुआ । बुद्धिमान् लोग ऐसे बखेड़िया को इष्टदेव नहीं मान सकते । ऐसा ईश्वर संसार में विरोध फैलाने वालों का हो सकता है । यदि कहें कि हमारी यही सभा ईश्वर की इच्छा से नियत हुई है तो इस में क्या प्रमाण है । ऐसे तो सभी कह सकते हैं कि हमारी सभा वा अमुक कार्य ईश्वर की इच्छा से नियत हुआ है ॥

और नियम बांधने का प्रयोजन वास्तव में यह होता है कि उस के अनुसार सभा का सब प्रबन्ध किया जावे उन से विरुद्ध सभा का कोई सभासद् न चले न माने सो इस पहिले नियम को विचारने से कुछ भी प्रयोजन नहीं निकलता किन्तु एक प्रकार की उदासीनता प्रकट होती है कि जिस की इच्छा से सभा नियत हुई यदि सभासद् किसी प्रकार शिथिलता करें वा विपरीत चलें अथवा सभा टूट जावे तो यह भी उसी ईश्वर की इच्छा से समझा जायगा । सभा से कोई दुष्कर्म होजावे तो ईश्वर की इच्छा से हुआ समझना चाहिये इस लिये धर्मसभा किसी प्रकार का प्रयत्न वा उत्साह नहीं कर सकती क्योंकि सभासदों की इच्छा से न सभा नियत हुई न वे अपनी इच्छा से सभासद् हुए न अपने पर कर्त्तव्य का भार समझ सकते हैं इसलिये पहिला नियम सभासदों के उत्साह और सभा के कर्त्तव्य को शिथिल करने वाला है इस से प्रकट होता है कि इस नियम के बनाते समय स्वार्थरूपी ताख में बुद्धि रख दी गयी होगी । इस पहिले ही नियम से धर्मसभा फर्रुखावाद की परीक्षा बुद्धिमान् लोग करलेंगे ॥

द्वितीय नियम में सभा के नियत होने का समय लिखा है तृतीय में प्रतिपौर्णमासी को होती है चौथे में तीन बजे से ६ बजे तक समय है ये वास्तव में कोई नियम नहीं किन्तु नगर में विज्ञापन देनें योग्य विषय हैं जिस से नगर के लोग उस सभा में उस तिथि वा समय पर उपस्थित हो सकें ऐसी बातें नियमों में सर्वसाधारण के लिये छपाने से कुछ उपकार नहीं है। पांचवां नियम देखो!

५–सभा के दिन प्रातःकाल गणेशादिकों का पूजन होके हवन हो ब्राह्मण पूजन होता है दो २ बजे से वेदपाठ होके ३ बजे से व्याख्यान प्रारम्भ होता है॥

प्रातःकाल सब से पहिले गणेशादिकों का पूजन होता है वे गणेशादि कौन हैं ? यदि कोई गणेशादि मनुष्य हैं तो मनुष्यों में ब्राह्मण से ऊपर कोई नहीं

इसलिये पहिले ब्राह्मणों का पूजन होना चाहिये। यदि वे गणेशादि कोई ब्राह्मण हैं तो ब्राह्मण पूजन में उन का भी पूजन आगया फिर अलग गणेशादि का पूजन कहना व्यर्थ है यदि ईश्वरपक्ष में हैं तो ईश्वर अनेक नहीं हो सकते गणेशादि आप अनेक मानते हैं। जैसे एक देशमें अनेक राजा नहीं हो सकते और जब होते भी हैं तो लड़ाई होकर एक सब के ऊपर बलवान् हो जाता है वही राजा माना जाता है इसी प्रकार अनेक ईश्वर हों तो उन में भी परस्पर लड़ाई होवे यदि पुराणों में लिखे समान गणेशादि देवता मान कर पूजन करते हो तो क्या जैसे पुराणों में उन के स्वरूप लिखे हैं वे आप के पास आजाते हैं? यदि मट्टी की डेली आदि धर के उन का गणेशादि नाम से पूजन करते हो तो मिथ्या क्यों लिखते बोलते हो कि गणेशादि का पूजन करते हैं क्या भील को भोजन करावे और कहे ब्राह्मण को भोजन कराया ऐसा कोई बुद्धिमान् सत्य मानलेगा? इसलिये मट्टी की डेली को गणेशजी मानकर पहिले पूजना और चेतन ब्राह्मणों को पीछे पूजना सर्वथा अयुक्त और मिथ्या है। हमारी समझ में सब से पहिले वेद का पाठ होना चाहिये जिस को तीसरे नम्बर में रक्खा है उस वेद के पाठ से परमात्मा की स्तुति प्रार्थना उपासना की जावे सब सभासद् श्रद्धा भक्ति से वेद का पाठ वा अभिप्राय सुनें पीछे वेदमन्त्रों से होम होना चाहिये ये दोनों कर्म परमेश्वर की पूजा निमित्त हैं इस का नाम देवपूजा भी है तब तृतीय कक्षा में ब्राह्मणों को भोजनादि सत्कार से प्रसन्न किया जाय तो बहुत अच्छा हो। सो ऐसा न होने से इन का पांचवां नियम भी ठीक नहीं बना। पहिले आर्यसिद्धान्त में एक वार इस विषय पर कुछ लिखा गया था कि गणेश जी का पूजन सब कर्मों के प्रारम्भ में विघ्नों का नाश होने के लिये करना चाहिये इस बात को प्रायः पौराणिक लोग मानते हैं उन से पूछना चाहिये कि जब तक गणेश जी उत्पन्न नहीं हुए थे तब तक विघ्नविनाशार्थ किस का पूजन होता था? महादेव जी जो गणेश जी के पिता माने जाते हैं उन की निर्बलता भी प्रतीत होती है कि पुत्र का पूजन हो पिता का न हो। इस पर एक महाशय ने उत्तर दिया था कि गणेशादि सब अधिकारियों के नाम हैं वे सदा बने रहते हैं अर्थात् गणेश जी किसी निज मनुष्य का नाम नहीं किन्तु जैसे मजिस्ट्रेट, तहसीलदार कोटपाल आदि पदवी हैं वैसे गणेशादि भी अधिकारियों के नाम हैं। यह उत्तर अवश्य

कुछ बुद्धिमानी से दिया था। परन्तु विचार कर देखें तो इस से उन के पक्ष का कुछ भी समाधान नहीं बनता। जैसे लौकिक राज्य प्रबन्ध के लिये कलट्टर आदि अधिकारी नियत किये जाते हैं इसी प्रकार गणेशादि राजकर्मचारी माने जावें तो उन के स्थान में मट्टी की डेली आदि का पूजन कैसे बन सकता है? क्या आज कल राजकर्मचारियों की मूर्त्ति बना कर पूजी जाती हैं? नहीं २ क्योंकि वे सदा साक्षात् बने रहते हैं। यदि ईश्वर पक्ष में गणेशादि अधिकारी माने जावें तो उत्तर देना चाहिये कि गणेश जी को क्या अधिकार मिला और ये अधिकार किसने नियत किये गणेश जी अपने अधिकार का काम ठीक २ करते हैं वा नहीं यदि अन्यथा करें तो इन का देखने वाला कौन है? अब गणेश जी किसी नियत स्थान पर रह कर अपना काम चलाते वा दौड़ा पर रहते हैं अर्थात् अधिकारी सदा से चले आये तो अब भी प्रत्यक्ष में गणेशादि अधिकारियों को दिखाना चाहिये और शास्त्रीयप्रमाणों से भी सिद्ध करना चाहिये कि गणेशादि किस २ को क्या २ अधिकार मिला किसने दिया वे क्या २ काम करते हैं अम्बिकादत्त व्यास तो व्यास जी के अधिकार पर हैं ही पर इस समय गणेश जी कौन हैं? इस का उत्तर अभी किसी ने नहीं दिया आशा है कि अब धर्मसभा फर्रुखाबाद से अवश्य उत्तर मिलेगा॥

६-नियम इस सभा में श्रुति स्मृति पुराण द्वारा धर्मोपदेश होता है॥

इस नियम पर विशेष लिखने की आवश्यकता इस लिये नहीं कि इस में धर्म के उपदेश का नाम लिया है। यद्यपि धर्म की गति अतिसूक्ष्म है उस का विवेचन करने वाले वा ठीक २ समझने वाले मनुष्य संसार में विरले ही होते हैं तो भी जो वेद वा स्मृति का नाम लेता वा पाठ करता उस को पढ़ना समझना अपना कर्त्तव्य समझता है वह भी अवश्य धर्म की ही ओर झुका माना जायगा। श्रुति वेद और वेदार्थ का स्मरण कर वेदमूलक जो पुस्तक ब्रह्मर्षियों ने बनाये हैं उन स्मृतियों के द्वारा धर्म का उपदेश अवश्य हो सकता है परन्तु पुराणों से और धर्म से कुछ भी सम्बन्ध नहीं और धर्म की व्यवस्था भी पुराणों से नहीं दी जा सकती महर्षि वात्स्यायन जी ने अपने न्याय भाष्य में लिखा है कि—

लोकव्यवहारव्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः।
लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य॥

अर्थात् लोक के व्यवहार की व्यवस्था करना धर्मशास्त्र का अर्थात् स्मृति का विषय है और संसार की बीती हुई बातें जिन में मनुष्यों के चरित्रों का वर्णन हो वे पुराण उन में लौकिक वृत्तान्त विषय रहता है जैसे कहानी। अब विचारना चाहिये कि जब पुराणों का विषय ही धर्म नहीं तो धर्मसभा वाले पुराणद्वारा क्या धर्मोपदेश करेंगे। हां शैववैष्णवादि मतों की परस्पर विरुद्ध मिथ्या प्रशंसा भले ही किया करें। इस प्रसंग में मेरा अभिप्राय इन पुराणों से नहीं है जिन मतवाद के जाल ग्रन्थों को ये लोग पुराण मानते हैं किन्तु जिन में लौकिक जनों के सत्य सम्भव चरित्रों का वर्णन हो उन को पुराण कहना चाहिये भागवतादि वास्तव में पुराण नहीं हैं। और सत्य २ तो यह है कि इन की सभा में धर्मोपदेश होता ही नहीं क्योंकि पूर्व लिखे अनुसार इन का उद्देश भी धर्म नहीं है किन्तु ये लोग धर्मध्वजी हैं सो इन के लेख से सज्जन लोग जानते होंगे और मैं भी आगे कुछ उदाहरण मात्र दिखाऊंगा ॥

७—मूर्त्तिपूजन, गंगादिस्नान, गयादि श्राद्ध, गोरक्षा, दान, हवनादि वेद और शास्त्र के प्रमाणों से वर्णन किये जाते हैं ॥

यह इन का सप्तम नियम है इस का अभिप्राय यह है कि छठे नियम में जो श्रुति स्मृति पुराण द्वारा धर्मोपदेश होना लिखा वह धर्म यही मूर्त्तिपूजन आदि है परन्तु इन से कोई पूछे कि मूर्त्तिपूजादि किसी वर्ण का विशेष धर्म है वा साधारण धर्म है इस का कोई प्रमाण तो दीजिये ! तो वैयाकरणखसूचि के तुल्य बैठने के सिवाय कुछ न बनेगा क्योंकि धर्मशास्त्रों में जितने वचन धर्म के लक्षण विषय में मिलते हैं उन में ऐसा कोई वचन नहीं जिस में यह मूर्त्तिपूजनादि धर्म कहा हो। हां माता पिता आचार्य इन तीनों की चेतन मूर्त्तियों का पूजन तो अवश्य मनुस्मृति आदि में लिखा है यदि इसी प्रकार के मूर्त्तिपूजन से इन लोगों का अभिप्राय है तब तो वेद वा धर्मशास्त्र के अनुकूल है। और जैसा पाषाणादि की लिङ्गादि मूर्त्तियों का पूजन आज कल दुकन्दारी के समान चल रहा है उस का विचार है तो वह निर्मूल है उस के लिये वेद वा शास्त्र में कहीं भी आज्ञा नहीं। इस मूर्त्तिपूजन के विषय में सामान्य लेख पहिले भी मैं कईवार लिखचुका हूं इसलिये यहां विशेष नहीं लिखता। अब गङ्गादिस्नान को धर्म माना यह इन के धर्म का द्वितीय लक्षण है। हां धर्मशास्त्र में शौच एक धर्म का

लक्षण अवश्य लिखा है सो बाह्यशरीर के मल की शुद्धि स्नान से होती है यह सर्वसम्मत है पर शौच का केवल स्नान ही से तात्पर्य नहीं किन्तु आभ्यन्तर और बाह्य दो प्रकार की शुद्धि है आभ्यन्तर शुद्धि राग द्वेष लोभ क्रोध ईर्ष्यादि के त्याग और सत्याचरण से होती है और बाह्य शुद्धि के कई भेद हैं। रहने का स्थान शरीर और वस्त्र वर्त्तन आदि जितने पदार्थ काम में आते हैं सब की ठीक २ शुद्धि होना चाहिये और मुख्य कर शरीर की शुद्धि में बाहर के मल जो प्रतिसमय शरीर से निकलते हैं उन की शुद्धि करने की आज्ञा धर्मशास्त्र में है ॥

वसा शुक्रमसृङ्मज्जा मूत्रविट् घ्राणकर्णविट्।
श्लेष्माश्रुदूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः ॥

वसा, वीर्य, रुधिर, मज्जा, मूत्र, विष्ठा, नासिका का मल (रेंट) कान का मल (ठेंठ) थूक, आंसू, नेत्र का मल (कीचर) और पसीना आदि नाम वाले १२ प्रकार के मल शरीर से निकला करते हैं इन की सब समय में शुद्धि करनी चाहिये। यह शुद्धि केवल स्नानमात्र से नहीं हो सकती किन्तु मल निकलने के स्थान छिद्रों को बार २ (जब २ मल निकले) धोना चाहिये। बहुत से मनुष्य गङ्गादि में भक्तिपूर्वक स्नान करते हैं परन्तु दातोन वा मञ्जन से दांतों की शुद्धि नहीं करते क्या वे शौच धर्म के अनुष्ठानी समझे जा सकते हैं। मेरी समझ में कदापि नहीं। और शरीरादि की बाह्य शुद्धि से अन्तःकरण वा व्यवहार (लेन देन) की शुद्धि प्रधान है जो बाह्य शरीरादि की शुद्धि करे और व्यवहार की वा अन्तःकरण की शुद्धि न करे वह भी शौचधर्म का पालन कर्त्ता नहीं कहा वा माना जायगा क्योंकि धर्मशास्त्र में लिखा है कि–

योऽर्थे शुचिः स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः ॥

जो मनुष्य अर्थ में अर्थात् व्यवहार में शुद्ध हृदय से वर्त्तता है मिथ्या व्यवहार नहीं करता वह पवित्र है और मट्टी जल से शरीरादि मांजकर शुद्ध होने वाला वास्तव में शुद्ध नहीं इस समय में बाह्यशुद्धि अर्थात् निर्मल वस्त्रादि से अपने को शुद्ध समझने वाले मनुष्य अधिक हैं और मुख्य शौचधर्म का पालन करने वाले बहुत न्यून पुरुष हैं।

अभिप्राय यह है कि गङ्गादिस्नान का कुछ शौच धर्म से भी सम्बन्ध नहीं किन्तु बाह्य शुद्धि के एक अंश में कूपादि सभी का स्नान सम्बन्ध रखता है सो

जैसा अभिप्राय शौच का है वह इन का नहीं किन्तु ये गङ्गादि में जहां विष्ठा वा मूत्र घुल जाता है उस में स्नान को भी धर्म समझते हैं । कभी गङ्गा में जल न रहे किन्तु थोड़ा जल रहे उस में कीच हो जावे तो उस को लपेट लेना भी धर्म समझेंगे पर यह धर्म के लक्षण शौच से विपरीत (अधर्म) है किन्तु शुद्ध निर्मल गङ्गाजल से स्नान करना अवश्य कुछ शौच से सम्बन्ध रखता है ।

अब तृतीय गयादिश्राद्ध को भी ये लोग एक प्रकार का धर्म मानते हैं । पर शास्त्र के सिद्धान्तानुसार जिस प्रकार का श्राद्ध होना चाहिये उस को तो पूर्व काल से ही सब आर्य लोग धर्म मानते आये और अब भी सदसद्विवेकी विद्वान् आर्य लोग मानते ही हैं उसी प्रकार के श्राद्ध को यदि ये लोग भी धर्म मानते तो विवाद ही क्या था ? आर्य लोग शास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार श्रेष्ठ धर्मात्मा सदसद्विवेकी वेदपाठी परोपकारशील विद्वानों का श्रद्धापूर्वक भोजनादि उत्तम पदार्थों से सत्कार करने को श्राद्ध मानते हैं। यदि ऐसे उक्त विद्वान् किसी निज प्रान्त में विशेष कर रहते हों तो वहां जा कर उन का पूजन करना भी श्राद्ध है और उस श्राद्ध कर्म का फल कर्त्ता को होता है किन्तु मृतपित्रादि को पिण्डादि नहीं पहुंचता क्योंकि वे पित्रादि अपने २ कर्मों के अनुसार किसी योनि में जन्म लेकर भोग करते हैं यदि किसी के पिता ने अपने वर्त्तमान में अनेक प्रकार के दान पुण्य परोपकार अनाथ पालन विद्याप्रचार आदि धर्म किया और उस के कोई सन्तान न हो वा हों तो अधर्मी अयोग्य हों जो मरने पश्चात् पिता का श्राद्ध न करें वा पिण्ड न दें तो क्या कोई कह सकता है कि उस धर्मात्मा पुरुष की सुगति न हो ? और वह पुत्रों के दिये पिण्डदान वा जलदान के विना दुःखी रहे ? यदि ऐसा हो तो धर्मशास्त्र के वे वचन मिथ्या हो जायंगे जिन में यह सिद्ध किया है कि—

नहि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥

श्रीकृष्ण जी अर्जुन से कहते हैं कि हे तात ! अच्छे योगाभ्यास ईश्वरोपासनादि कर्म करने वाला कोई पुरुष कदापि दुर्गति को प्राप्त नहीं होता क्योंकि अच्छे कर्म धर्म करने से भी यदि दुःख हो तो अधर्म से भी सुख होना मानना चाहिये यदि ऐसा हो भी तो हम यही कहेंगे कि नहि अधर्म से दुःख को सुख माना तो मिथ्याज्ञान है यदि वास्तव में सुख हुआ तो धर्म को अधर्म मान लिया

यह भी मिथ्याज्ञान है क्योंकि धर्म अधर्म का लक्षण ही यह है कि जिस का फल सुख है वह धर्म और विपरीत अधर्म है इस से यह सिद्ध हुआ कि यदि पित्रादि ने अच्छे कर्म किये हैं और उन को मरने पश्चात् कोई पिण्डादि न दे तो भी उन की सुगति होगी। इसी प्रकार जिस ने पाप अधिक किये हैं उन के पुत्रादि लोग मरने पर पिण्डादि दें तो भी अपने कर्मानुसार उस की दुर्गति होगी इन दोनों प्रकार से मृतक के लिये पिण्डादि देना निष्फल होता है। और यदि पिण्डदान जलदान से मृतक पितादि को जन्मान्तर में सुख पहुंचता है तो जिन के कोई पिण्डादि देने वाला न हो उन को दुःख पहुंचे उन की सद्गति न होनी चाहिये परन्तु मनु महाराज अपने मानवधर्मशास्त्र में इस से विपरीत लिखते हैं कि—अ० ५

अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम् ॥
दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम् ॥ १ ॥

इस प्रवाह से अनादि कल्प कल्पान्त सृष्टि में अनेक सहस्रों तपस्वी ऋषि लोग आबाल वृद्ध कुमारब्रह्मचारी रहकर जिन्हों ने जन्मभर विवाहादि संसारी कृत्य कुछ न करके और जिन के कोई कुलसन्तति न हुई वे जन्मभर तप करते २ शरीर छोड़ उत्तमगति (स्वर्ग) को प्राप्त हुए। इस से भी सिद्ध हुआ कि ब्रह्मचर्यादि आश्रमों में कर्त्तव्य वेदाध्ययनादि शुभकर्मों के अनुष्ठान से जब विना सन्तान के भी सद्गति होती है तो सन्तान होकर पिण्डदान जलदान से मृतपित्रादि को स्वर्ग पहुंचाने की आवश्यकता नहीं। इत्यादि विचारों से मृतकोद्देश से श्राद्ध की आवश्यकता नहीं किन्तु जैसे विद्वान् का सत्कार पूर्व लिखा है वैसा करना चाहिये यद्यपि इस श्राद्ध प्रसंग में विशेष लिखने की आवश्यकता है तो भी पुनः किसी अवसर पर लिखूंगा यहां वैसा प्रसंग नहीं है। गयादि श्राद्ध से धर्मसभा वालों का अभिप्राय यह है कि जैसे आज कल गयादि में जाकर जौकी भूसी के पिण्ड दे आते और वहां के पण्डा लोग जो पक्के दुकन्दार हैं जिन को देने से उलटा अधर्म होता है उन को दान न देना चाहिये। मनुस्मृति में लिखा है। मनु०अ० ४

यथा प्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन्।
तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ ॥

जैसे पत्थर की नौकापर बैठ कर जलाशय के पार पहुंचने का अभिलाषी जल में डूब जाता है वैसे ही वेदादिशास्त्रों के अनुसार धर्म की व्यवस्था न जानने वाले मूर्ख दाता और दान लेने वाले दोनों दानरूप पत्थरशिला के सहित अगाध दुःखसागर में डूबते हैं। यह बात भी प्रत्यक्ष है कि गयाप्रयागादि के पण्डा कैसे निरक्षरभट्ट हैं कि जिन को संकल्प भी शुद्ध पढ़ना असम्भव है। जब कनागतों में प्रयागादि के पण्डा लोग मूर्खों को तर्पण कराते हैं तब बोलते हैं (तेरे दादा तृप्यन्ताम्) (परदादा तृप्यन्ताम्) (नाना परनाना तृप्यन्ताम्) इत्यादि आधा असम्बद्ध संस्कृत और आधी भाषा बोलते हैं। ऐसे लोगों को आज कल श्राद्धादि का दान दिया जाता है तो वे देने लेने वाले दोनों धर्मशास्त्र की आज्ञा के अनुसार दुःखसागर में क्यों न डूबें। इसी कारण इस देश की महादुर्गति हो रही और होती जाती है। यदि प्रयागादि के किसी पण्डा से वेद के मन्त्र का भी शुद्ध उच्चारण कोई करा ले तो दान देना किसी प्रकार बने सो मन्त्रों की दुर्दशा भी पण्डों को ही करनी आती है। ये पण्डा धर्मशास्त्र के अनुसार तीन प्रकार के निषिद्ध दानपात्रों में ही आजाते हैं। एक वकव्रतिक वे हैं जो बगुला के समान परपदार्थ पर ध्यान लगाये बैठे रहें दाव लगते ही यजमान को मच्छी के समान गपक लें। द्वितीय वैडालव्रतिक वे हैं जो बिल्ली के समान ध्यान लगाये ताकते रहें थोड़ा सा प्रमाद होते ही मूसे के तुल्य यजमान के पदार्थ वा धनादि के लोभ से शरीर तक को लेने को तत्पर हो जावें। और तीसरे वेद और शास्त्र से विमुख निरक्षरभट्ट महामूर्ख होते हैं। इन में पहिले दो वेदादिशास्त्रों के ज्ञाता हों तो भी दानपात्र नहीं हो सकते। आज कल प्रायः ये ही तीन प्रकार के दान लेने वाले इस भारतवर्ष में हो रहे हैं और ऐसे ही दाता लोग भी अज्ञ हैं जो नहीं जानते कि किस को दान देना चाहिये। देखो धर्मशास्त्र में इन तीनों को दान का निषेध किया है। मनु० अ० ४ ॥

न वार्य्यपि प्रयच्छेत्तु वैडालव्रतिके द्विजे।
न वकव्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित् ॥
त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम्।
दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥

धर्मात्मा पुरुष को चाहिये कि उक्त तीनों पुरुष को जल भी न देवे। क्योंकि धर्मपूर्वक परिश्रम से उपार्जित किया भी धन इन तीनों को देने से अनर्थ अर्थात् दुःख मिलने का हेतु होता है। धर्मबुद्धि से किया अज्ञान से अधर्मरूप हो कर दुःखदायी हो जाता है और दान का लेने वाला भी जन्मान्तर में दुःखभागी होता है। इसलिये श्राद्धादिसम्बन्धी दान ऐसों को न दिया जाय किन्तु धर्मात्मा परोपकारी शान्तशील विद्वान् पुरुषों को दिया जाय कि जो उस को खाकर अच्छा काम करें। और बचे सो परोपकार में खर्च करें ॥

यदि कोई कहे कि पण्डा लोग विद्वान् हों तो देना चाहिये? हां अवश्य देना चाहिये परन्तु यदि विद्वान् होगे तो पण्डा कहाने और घाटों पर बैठ कर सब प्रकार का दान लेने से अवश्य डरेंगे। इसी कारण पण्डा महाब्राह्मणादि जितने लोग विना परिश्रम किये परधन लेने वाले हैं वे कोई भी विद्वान् वा धर्मात्मा नहीं हैं इस लिये गयादि में पण्डादि का श्राद्ध करना धर्म से बाह्य है॥

यदि गोरक्षा दान हवनादि वेद शास्त्र के प्रमाणों से वर्णित किये जाते हैं तो बहुत उत्तम है सब आर्य सज्जनों को ऐसा ही करना चाहिये परन्तु ये लोग वास्तव में ऐसा करते नहीं जैसा लिख मारा है वेद और शास्त्रों का नाम लेते और पुराणाभासोंका कोई ऊटपटांग श्लोकादि पढ़कर कह देते हैं कि देखो यह सिद्ध हो गया। दानधर्म इन लोगों का प्रसिद्ध ही है जैसा उदाहरणमात्र पूर्व दिखाया। गोरक्षा यदि ये लोग करते होते तो आज यह दशा न होती अच्छे पुरुष सब चिल्ला रहे हैं कोई सुनता नहीं। मूर्ख स्वार्थी लम्पटियों को अन्धा धुन्ध दान दिया जाता है वैसे वे पात्र नहीं जैसे सेर भर के पात्र में दो सेर जल भरा जाय तो वह अवश्य बाहर निकल कर वह चलेगा ऐसे ही आज कल पण्डा पुरोहितादि अयोग्यों को अनेक गौओं का दान दिया जाता है वे उन सब का स्वयं पालन नहीं कर सकते उन को तो धनसे प्रयोजन है तत्काल किसी प्रकार धन मिलना चाहिये। और वे गौएं भी ऐसी नहीं होतीं जिन के अनेक ग्राहक खड़े हों किन्तु अधिक कर वेकाम गौयें गोदान में दी जाती हैं। उन के ग्राहक कसाई लोग होते हैं। अनेक कसाई लोग ब्राह्मणादि का रूप धारण करके ऐसी गौओं को खरीद लाते अनेक लोग अहीर आदि को नौकर रखते हैं और बहुत से पुरोहितादि भी जान कर उन गौओं को दान के लोभ से कसाइयों को देते हैं। अर्थात् गोहिंसा का बड़ा कारण ये ही लोग हैं यदि उन गौओं की रक्षा

नहीं कर सकते तो दाता लोगों से क्यों नहीं कह देते कि हम नहीं पाल सकेंगे। और दाता लोग भी जो समझते हैं कि हम ने गोदान किया हम को गोदान का पुण्य होगा वे भी उन पुरोहितादि के साथ उलटे गोहत्या के पापभागी होते हैं। इस लिये हमारी सम्मति यह है कि यदि गोरक्षा करना अपना धर्म समझते हैं तो दाता ग्रहीता ऐसा प्रबन्ध करें कि जिस से दान की गौएं कसाई का घर न देख सकें जो उन का पालन नहीं कर सकता वह न गोदान लेवे और न कोई उस को देवे। और जो कोई अजान मनुष्य के वा रोजगारी के हाथ गौ वेंचे उस पर जातीयदण्ड नियत करें ऐसी २ कारवाई धर्मसभा से की जावे तो नियमों में न लिखने पर भी वे गोरक्षक हो सकते हैं। और प्रयत्न कुछ न करके केवल लिख देने वा हल्ला कर देने से गोरक्षक नहीं हो सकते। अब ८ नियम देखिये ॥

(८) इस में सम्पूर्ण काम धर्मसम्बन्धी किये जाते हैं ॥

इस के दो अभिप्राय हो सकते हैं कि इस में जो कुछ किया जाता है वह सब धर्मसम्बन्धी ही है अथवा जितने धर्मसम्बन्धी काम हैं वे सब इस सभा में किये जाते हैं इस में पहिला तो यों नहीं बन सकता कि कोई मनुष्य सर्वथा धर्मसम्बन्धी काम करे अन्य कुछ न करे यह असम्भव है क्योंकि अशिष्टाप्रतिषिद्ध तीसरे प्रकार के कर्म धर्म अधर्म से भिन्न कहाते हैं वे सभी को करने पड़ते हैं। जिन के करने का विधान वा निषेध शास्त्र में नहीं होता उन को अशिष्टाप्रतिषिद्ध कहते हैं जैसे (हिक्कितहसितकण्डूयितानि) हिचकी लेना हंसना खुजलाना सिद्धानुवाद बोलना आंख का पलक चलाना इत्यादि प्रकार के कर्म सब सभा आदि में प्रत्येक मनुष्य को प्रतिक्षण करने पड़ते हैं पर ये धर्मसम्बन्धी नहीं हैं तो यह कहना नहीं बनता कि इस सभा में धर्मसम्बन्धी ही काम किये जाते हैं। और द्वितीय पक्ष तो ऐसा असम्भव है कि जैसे कोई दो चार वा दश बीश मनुष्य कह दें कि हम एक कुए का सब जल भरलें वा पीलें। इसी प्रकार धर्म के सब लक्षणों का सेवन कोई सभा वा समुदाय नहीं कर सकता। हम प्रत्यक्ष में दिखा सकते हैं कि धर्मसभा की ओर से कोई अनाथालय नहीं कोई सदावर्त्त वा दश बीश प्रपा (प्याऊ) नहीं तो धर्म के सब विषय का सेवन धर्मसभा में होता है यह कैसे ठीक हो सकता है हमारी समझ में धर्म के किसी एक लक्षण का भी पूरा अनुष्ठान इन की सभा में नहीं है तो यह आठवां नियम कदापि सार्थक नहीं हो सकता ॥

(९) इस का व्याख्यान पत्र सब देश देशान्तरों में सम्पूर्ण सज्जन पुरुषों के समीप भेजा जाता है ॥

इस का व्याख्यान जिन२के पास जाता है वे सभी सज्जन हैं यह कभी नहीं हो सकता ग्राहक होते समय परीक्षा नहीं की जाती कि ये सज्जन हैं वा नहीं यदि कोई सज्जन न हो और इन का पत्र लेना चाहे तो क्या नहीं देंगे? और यह भी इस से निकलता है कि जो लोग इस पत्र के ग्राहक नहीं वे सब दुर्जन हैं भला यह कभी कोई विचारशील पुरुष कह सकता है कि जो हमारी दुकान से वस्तु ले वही सज्जन है अन्य नहीं हमारी समझ में धर्मसभा के सब सभासद् भी इस पत्र को कदापि नहीं लेते होंगे तो वे भी सज्जन न रहे। और देश देशान्तर कर के सप्तद्वीप पृथिवी का बोध होता है क्या इन के पत्र के यूरुप आदि में अंगरेज लोग भी ग्राहक हैं?। हमारी समझ में भारतवर्ष के भी सब प्रान्तों में नहीं जाता तो सब देश देशान्तर में जाना लिखना व्यर्थ है ॥

इस से आगे चार पांच नियमों में द्रव्यादि की सहायता मांगी है इस का अभिप्राय स्वार्थसाधन है ऐसी बातें नियमों में नहीं लिखी जाती न लिखनी चाहियें। अब उदाहरण मात्र इन के नियमों की समालोचना लिखदी इसी प्रकार व्यर्थ इबारत से २२ नियम बनाये हैं अब आगे इन की पण्डिताई देखोः—

इस प्रकार की कारखाई से और भी निश्चय हुआ कि ऐसे मनुष्य के साथ लिखा पढ़ी करने का काम सुबोधों का नहीं। ऐसों को सभी बुद्धिमान् निर्बुद्धि समझेंगे परन्तु न्यूनता केवल इतनी है कि आज कल अन्य विद्याओं के पढ़े वा नागरी मात्र के जानने वाले जो लोग हैं वे प्रायः यह नहीं जान सकते कि जो शास्त्र के मन्त्र वा श्लोकादिप्रमाण का अर्थ किया गया वह मूल से कुछ सम्बन्ध रखता है वा नहीं और संस्कृत में किस को कितनी योग्यता है। परन्तु जो अधिक विचारशील हैं और वेदादि शास्त्रों को अच्छा मानते हैं वे अर्थ देख कर मूल की योग्यता का है–वा नहीं यह जानलेते हैं पर मूल से विरुद्ध कैसे है यह नहीं बता सकते और जिन लोगों ने शास्त्र नहीं पढ़ा वा अच्छे महात्मा सज्जनों के सत्संग से मुख्यसिद्धान्त वा कर्म धर्म नहीं जाना उन को भ्रम जाल में डालने के लिये यह धर्मसभा का मासिकपत्र बड़ा उपयोगी है। यदि ऐसे लोगों की धूर्त्तता न दिखाई जाय तो संसार में अन्धकार फैलता जावे। सर्वसाधारण लोग इन की लीला को न जान सकें इत्यादि विचार से मैंने कुछ लिखना प्रारम्भ

किया है। मैं इन की प्रत्येक बात पर वा जाल ग्रन्थों के प्रमाणाभासों पर कुछ न लिखूंगा किन्तु श्रेष्ठ मान्य वेदादि के प्रमाणों पर वा किसी प्रबल युक्ति पर संक्षेप से लिखूंगा ॥

धर्मसभा फर्रुखाबाद से जो मासिकपत्र निकलता है उस को मैं कुछ योग्य नहीं समझता था इसी लिये कई महाशयों के सूचित करने पर भी मैंने लेखनी नहीं उठाई थी। पीछे इस पत्र के सम्पादक ने आर्यसमाज कामठी को एक पत्र लिखा उस के अन्त में यह संस्कृत लिखा था कि (अग्रेबुद्ध्याद्विचारणीयम्) इस को देख मुझ को हंसी भी आई और शोक इस बात का हुआ कि जो संस्कृत विद्या के अभिमानी देवता हैं उन की यह दशा हुई तो भी वेद का अर्थ कर२ उस का सिद्धान्त लोगों को जताया चाहते हैं तो अन्धे के साथ अन्धे चल कर सभी कूप में गिरेंगे !। जिन लोगों को इतना संस्कृत का ज्ञान नहीं कि बुद्धि शब्द का प्रयोग पञ्चमी विभक्ति में कैसा होगा वे लोग मासिकपत्र के सम्पादक होकर वेदशास्त्र के सिद्धान्त को कहना चाहें यह कैसा आश्चर्य है। वेद का अर्थ करने में बड़े २ पण्डित लोग चकराते हैं पर ऐसे लोगों की बुद्धि मारी गई है इसी से बुद्धि शब्द के प्रयोग का भी ज्ञान नहीं। वह पत्र कामठी समाज से यहां प्रयाग में आया तब पण्डितबलदेवप्रसादशर्मा जी ने एक पत्र संस्कृत में उस का उत्तर लिख भेजा जिस का प्रत्युत्तर लौटकर आज तक न मिला।

धर्मसभा फर्रुखाबाद के प्रथमभाग के प्रथम अङ्क में पण्डिताई की परीक्षा शीर्षक (हेडिङ्ग) में देखिये–(उक्तं च ब्रह्मोपनिषधेध्यानं) इस में दो अशुद्धि बहुत बड़ी हैं एक उपनिषद् शब्द का प्रयोग सप्तमी के एक वचन में उपनिषदि होता है इस से ब्रह्मोपनिषदि लिखना चाहिये था द्वितीय अवसान में अनुस्वार लिखना सर्वथा अशुद्ध है किन्तु ध्यानम् लिखना चाहिये ये लेखक दोष नहीं हैं जिन को इतना ज्ञान नहीं वे जब सम्पादक बनें तो यह भारतवर्ष क्यों न डूबेगा? यदि कहो कि संस्कृत न जानने वाले अन्य भी नागरी भाषा के पत्र सम्पादक हैं जिन से लोगों को विशेष उपकार पहुंचता है तो हम यह कह सकते हैं कि वे अच्छे हैं अपना अनुभव लिखते समयोपयोगी अपना विचार प्रकट करते हैं वेदादिशास्त्रों में पग नहीं अड़ाते और ये उस भाषा को न जान कर पग अड़ाते हैं कि दिल्ली के पांच सवारों के तुल्य हमारी भी संस्कृतज्ञ पण्डितों में गणना हो जावे इस लिये इन की शोचनीय दशा है ॥

उपनिषद् दश तो मुख्यकर सर्वमान्य वेदान्तविद्या के मूल और हैं किन्हींर आचार्यों ने १२ भी माने हैं इस से आगे सब नवीन कल्पित हैं उन को किसी विद्वान् पुरुष ने ठीक नहीं माना । ऐसे तो एक गर्दभोपनिषद् भी बन सकती है । इसी विचार से ऐसे प्रमाणाभासों पर कुछ नहीं लिखता ।

अब इन की पखिलाई और भी देखिये कहते हैं:—

और जो कोई केवल एकही स्थल वेद का अपनी बुद्धि से कल्पना करके सूचन करते हैं कि इतना ही वेद है और उस का अर्थ भी मनमाना करते हैं उन को कदापि यह वार्त्ता नहीं मिल सकती है क्योंकि वे तो एक हलदी की गिरः से पंसारी बने हुए हैं श्लोकों की गणना प्रमाण मौजूद हैं यथाह चरणव्यूहे—

लक्ष्यं चतुरो वेदा लक्ष्यं भारतमेव च ।
लक्ष्यं व्याकरणं प्रोक्तं चतुरलक्ष्यन्तु ज्योतिषम् ॥

यह फर्रुखाबादी मासिकपत्र धर्मसभा का लेख है। संस्कृत विद्या के विद्वान् देखते ही समझ लेंगे कि इस श्लोक का लिखने वाला संस्कृत विद्या का कैसा महाशत्रु है। आज कल ऐसी भेड़चाल चल रही है कि किसी प्रतिष्ठित ग्रन्थ के नाम से किसी ने एक प्रमाण लिख दिया तो उसी को देख कर अन्य लोग भी उस प्रमाण को लिखने वा कहने लगते हैं प्रत्यक्ष निश्चय कोई नहीं करता कि यह प्रमाण अमुक पुस्तक का है वा नहीं। उक्त श्लोक को देखकर मुझे पूर्ण सन्देह होगया कि चरणव्यूह जैसे प्रतिष्ठित पुस्तक में ऐसा अशुद्ध श्लोक क्योंकर होगा। इस कारण पुस्तक मंगाकर आद्योपान्त देख डाला कहीं इस श्लोकका नाम निशान नहीं अब पाठकों को विचारना चाहिये कि ये लोग सीधे मनुष्यों को कैसा धोखा देते हैं कि चरणव्यूह जैसे प्रतिष्ठित पुस्तक का झूट नाम लिख दिया इतनी भी शङ्का न हुई कि कोई उस पुस्तक को देखेगा तो क्या कहेगा मैं पाठकों को सचेत करता हूं कि सम्पादक से इस का उत्तर मांगे और चरणव्यूह पुस्तक स्वयं भी तलाश कर के देखें। अब इस श्लोक की अशुद्धियां देखिये—प्रथम तो लक्षशब्द के स्थान में लक्ष्यशब्द लिखा सम्पादक का अभिप्राय था कि चारो वेद की लाख संख्या है सो अज्ञानग्रस्त होने से लक्ष्य का अर्थान्तर होगया कि चारो वेद विचारणीय दृष्टि देने योग्य वा साध्य हैं। जब अर्थ बदल गया तो जिस प्रयोजन के लिये प्रमाण दिया था वह भी भ्रष्ट होगया। जैसे संस्कृतविद्या

का ठीक बोध वा उच्चारण प्रक्रिया का ज्ञान न होने से किसी ने कहा कि (शकृत्कुरु) कहने वाले का अभिप्राय था कि एकवार कर ऐसे अभिप्राय में (सकृत्कुरु) वाक्य बोलना चाहिये था सो तालव्य शकार बोलने से सुनने वाले ने विष्ठा कर दी सकृत् नाम एकवार का और शकृत् नाम विष्ठा का है इसी प्रकार यहां भी लक्ष को लक्ष्य कर डाला ॥

परन्तु यह अशुद्धि श्लोक बनाने वाले की भी नहीं किन्तु सम्पादक की है। आगे (चतुरोवेदाः) पद व्याकरण की रीति से महाअशुद्ध है किन्तु (चत्वारोवेदाः) लिखना चाहिये था सो ऐसा लिखने से छन्द नहीं बनता यह अशुद्धि श्लोक बनाने वाले की है और सब से बड़ी भारी अज्ञानता यह है कि यदि लक्ष शब्द वेद का विशेषण करें चार वेद लाख हैं तो यह निश्चय नहीं हो सकता कि वेद के पुस्तक लाख हैं वा शब्द वाक्य अक्षर मन्त्र अध्याय आदि क्या लाख हैं? यदि कहो कि लाख श्लोकों का प्रमाण है तो यह कैसे मान लिया जावे कि लाख श्लोक हैं जैसे यह कल्पना है वैसे कोई यह भी कल्पना करे कि लाख मन्त्र वा लाख पद हैं क्या प्रमाण है कि पहिली कल्पना सत्य है?। यह श्लोक किसी स्वार्थी ने रचा है कि वेद की लाख संख्या बताकर जो विषय चलाना अभीष्ट होगा वह मतादि परोक्ष वेद में लिखा कह देंगे वेद के नाम से सब चल जायगा। यदि फर्रुखाबादीयधर्मसभामासिकपत्र के सम्पादक को अपना लेख सत्य ठहराना हो तो इस श्लोक को चरणव्यूह में दिखावें नहीं तो अब से सब विद्वान् वा बुद्धिमान् इन के लेख पर विश्वास न करेंगे सत्य को भी मिथ्या जानेंगे ॥

धर्मसभा फर्रुखाबाद का लेख—अब सुश्रुत से मूर्त्तिपूजन का प्रमाण दिया जाता है। सुश्रुत ग्रन्थ वैद्यक का है जो अटक से कटक तक व्याख्यात है और साक्षात् धन्वन्तरि जी का कहा हुआ है और धन्वन्तरि परमेश्वर के २४ अवतारों में हैं और सुश्रुत को श्री स्वामी दयानन्दसरस्वती जी ने भी माना है उस के सूत्रस्थान के दूसरे अध्याय में ऐसा कहा है:—

शुचौ देशे स्थण्डिलमुपलिप्य गोमयेन दर्भैः संस्तीर्य-पुष्पैर्लाजभक्तैरत्नैश्च देवताः पूजयित्वा विप्रान् भिषजश्च तत्रोल्लिख्याभ्युक्ष्य च दक्षिणतो ब्राह्मणं स्थापयित्वाग्निमुपसमाधाय खदिरपलाशदेवदारुविल्वानां समिद्भिश्चतुर्णां दधिमधुघृ-

ताकाभिः स्रुवेणाज्याहुतीर्जुहुयात् सप्रणवाभिर्महाठ्याहृति-भिस्ततः प्रतिदैवतमृषींश्च स्वाहाकारं कुर्यात् शिष्यमपिकारयेत् ॥

भा०—इस सुश्रुत प्रमाण के आगे फर्रुखाबादीयभाष्यकार ने लिखा है कि "अस्यव्याख्यानम्" विद्वान् लोग इस पाण्डित्य पर भी अवश्य ध्यान देवें। और सुश्रुत के मूल पाठ में पांच छः बड़ी २ अशुद्धि लिखी थीं जिन पर ध्यान न देकर मैंने शुद्ध पाठ लिख दिया है। फर्रुखाबादीय महात्मा ने लिखा है कि "अब सुश्रुत से मूर्त्ति पूजन का प्रमाण दिया जाता है" इस प्रतिज्ञा के अनुसार सुश्रुत के प्रमाण में से एक भी ऐसा पद न दिखाया कि पाषाणादि से बनी मूर्त्तियों का पूजन इन २ प्रमाणों वा इस पद से इस प्रकार निकलता है। इस प्रमाण में एक भी पद ऐसा नहीं जिस से इनकी अभीष्ट पूजा सिद्ध हो जावे। बड़े आश्चर्य का स्थान है कि जहां कहीं इन लोगों ने देव वा देवता पद का गन्धमात्र भी पाया तो झट पाषाणादि मूर्त्तियों को समझ लेते हैं यह ऐसा अन्धेर है कि जैसे मनुष्यशब्द का अर्थ कोई मट्टी वा लकड़ी समझ लेवे। यह केवल अन्धपरम्परा है। देव वा देवता शब्द मनुष्यों से ऊपरी कक्षा का वाचक है जो मनुष्यों में पूर्ण धर्मात्मा वेद शास्त्र के ज्ञाता विद्वान् पुरुष हैं वे देव वा देवता कहाते हैं। और पौराणिक लोग इन्द्रादिनामवाचक लोकान्तरवासी व्यक्ति विशेषधारियों को देवता मानते हैं इस पर विवाद चलाने का यहां प्रसंग नहीं किन्तु हम यह पूंछते हैं कि देव वा देवता शब्द पाषाणादिमूर्त्तियों का वाचक है ऐसा किस स्थल में लिखा है इस पर किसी कोष वा व्याकरणादि आर्षग्रन्थ का प्रमाण देना चाहिये। यदि प्रमाण नहीं तो दन्तकथामात्र रह गई सो जैसा चाहो दन्तकटाकट किया करो। हम फर्रुखाबादीय धर्मसभा के सम्पादक को फिर सचेत करते हैं कि यदि पाषाणादिमूर्त्तियों की पूजा सिद्ध करने का दावा रखते हो तो किसी प्रमाण से सिद्ध करो कि देव वा देवताशब्द किस प्रकार वा कहां पाषाणादिमूर्त्तियों का नाम है अन्यथा मिथ्या लिख कर लोगों को धोका देने वाले समझे जावोगे। यदि कहो कि हमने देवताशब्द से मूर्त्ति पूजा नहीं समझी तो सिद्ध करो कि अन्य किन २ पदों से मूर्त्ति पूजा निकली इसी सुश्रुत के प्रमाण से सिद्ध करो! इस प्रमाण में मूर्त्तिपूजा का नाम निशान तक नहीं है। इस स्थल में देवता पद विप्र का विशेषण है नियतस्त्रीलिङ्ग होने से लिङ्ग भेद बनाही

रहेगा मिट नहीं सकता । इस सुश्रुत के प्रमाण का अर्थ सीधा है:—

शुद्ध प्रदेश में गौके गोबर से पृथिवी लीप कर पुष्प चन्दन चावल आदि से धर्मात्मा विचारशील विद्वान् ब्राह्मणों और वैद्यों का पूजन कर पंचभूसंस्कार करे पश्चात् वेदी के दक्षिण भाग में ब्राह्मण को स्थापित कर अग्न्याधान करे पीछे खैर ढांक देवदारु और बेल इन चार वृक्षों की समिधा दही सहत और घी में भिगो कर अग्नि में चढ़ावे और पीछे ओंकार सहित व्याहृतियों का उच्चारण कर घी की आहुति देवे पीछे प्रत्येक इन्द्रादि नाम वाले मन्त्रों से स्वाहान्त में लगा कर होम करे और शिष्य को भी करावे ॥

यहां स्पष्ट वैदिक होम का विधान है यदि पाषाणादि मूर्त्तियों का प्रसंग होता तो जहां ब्राह्मण को स्थापित करना लिखा वहां पाषाण की मूर्त्तिस्थापन करना क्यों नहीं लिखा ? । इन लोगों की बुद्धि पत्थर पूजते २ पथराय गयी है जिस से सर्वत्र इन को यही सूझता है । वैद्य का सत्कार करना धर्म शास्त्र में निषिद्ध है (चिकित्सकान् देवलकान्) इत्यादि और यहां वैद्य का पूजन विद्वान् ब्राह्मणों के साथ लिखा है इस की व्यवस्था यह है कि जो वैद्यकविद्या के अधिकारी नहीं संस्कृत विद्या के मर्म को यथावत् नहीं जानते वे पूज्य ब्राह्मणों में नहीं लिये जांयगे । उन्ही का निषेध मनुस्मृति में किया है । ऐसे लोगों को सुश्रुतकार ने भी निन्दित कहा है—

एकं शास्त्रमधीयानो न विद्याच्छास्त्रनिश्चयम् ।
तस्माद्बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयाच्चिकित्सकः ॥

एक शास्त्र अर्थात् चिकित्साशास्त्र के पढ़ लेने मात्र से कोई वैद्यकशास्त्र के अभिप्राय को यथावत् नहीं जान सकता इस लिये न्यायादि सब शास्त्र पढ़ के चिकित्सा शास्त्र पढ़े तो ठीक २ जान सकता है (अल्पज्ञ) अल्पमति वैद्य अज्ञानी होने से विरुद्ध चिकित्सा कर अनेकों को मार डालता है इस लिये पापी है उस की पूजा सर्वत्र निषिद्ध है और सर्व शास्त्रज्ञ पूर्ण विद्वान् वैद्य का सत्कार सब प्रसङ्गों में होना चाहिये । हमारे फर्रुखाबादीय सम्पादक भी वैद्य हैं जिन को संस्कृत विद्या के शिर पैर की खबर नहीं । इन्हीं ने एक चिट्ठी के अन्त में कामठी को लिखा था (अग्रेबुद्ध्याद्विचारणीयम्) विशेष क्या लिखें विद्वान् लोग आपही जान लेंगे ॥

ध० स० ऐसाही देवपूजन यानी मूर्त्तिपूजन और हवन करना मनुस्मृति में भी कहा है उक्तंच +

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम् ।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥

उत्तर—इस श्लोक में भी अज्ञान से पांच अशुद्धि लिखीं थी उस को मैंने इस लिये शुद्ध लिखा कि मुझे द्विबारा शुद्ध भी लिखने पड़ता बड़े शोक की बात है कि जो लोग संस्कृत विद्या के कान पूंछ नहीं जानते वे कैसे वेद शास्त्र के सिद्धान्त से किसी विषय के सिद्ध करने को तत्पर हो जाते हैं ! ऐसे हुड़दंगा लोगों का उत्तर क्या किसी विचारशील पुरुष को देना चाहिये ? कदापि नहीं तो भी अनेक मित्रों की सम्मति से मुझे लिखने पड़ा। अब देखिये इस मनुस्मृति के श्लोक में एक देवताभ्यर्चन पद है जिस से पाषाण पूजा मान बैठे मैं अभी लिख चुका हूं कि देव शब्द का पाषाण अर्थ किसी प्रमाण से नहीं हो सकता यदि हो सकता हो तो सिद्ध करें। मनुस्मृति में तो अग्निहोत्र का नाम देवपूजा इस विचार से रक्खा है कि स्तुति प्रार्थना के मन्त्रों से देव नाम परमेश्वर की पूजा होती और उस की वेदाज्ञा का पालन होने से भी वह पूजित होता है । मनु के तृतीयाध्याय में लिखा है किः—

दैवो होमो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥

देवयज्ञ वा देवपूजन अग्निहोत्रादि होम है । अब जैसे हम ने उसी धर्मशास्त्र के प्रमाण से सिद्ध कर दिया कि देवपूजा अग्निहोत्र का नाम है तो उपरि लिखित देवताभ्यर्चन शब्द से भी उसी का ग्रहण होगा यदि सामर्थ्य हो तो धर्मसभा वाले सिद्ध करें कि पाषाणपूजा का नाम इस प्रकार देवपूजा है ।

अब इन की और पंडिताई देखनी चाहियेः—

धर्मसभाः—और देवता पूजा ऐसे शब्द करके प्रतिमा पूजा नहीं है और अग्नि के विषय में पूजा है तो यह कहना उन अनर्गल वादियों का असत्य है क्योंकि मनुस्मृति के ४ अध्याय में इस की प्रौढ़ता का वचन यह कहता है । उक्तंच

मृदङ्गान् दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम् ।
प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ॥

न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन ॥
देवतानां गुरोराज्ञः स्नातकाचार्ययोस्तथा ।
नाक्रामेत्कामतश्छायां बभ्रुणो दीक्षितस्य च ॥

उत्तर—इन श्लोकों के आगे बहुतसी अट्टपट्ट भाषा (जो मूल से कुछ सम्बन्ध नहीं रखती) लिखी है उस का अनुवाद करने से लेख बहुत बढ़ता है इस कारण उस का यहां अनुवाद नहीं किया इन श्लोकों से धर्मसभा सम्पादक का अभिप्राय यह जान पड़ता है कि इन प्रमाणों से पाषाणादि की पूजा निकलती है। इन श्लोकों का यदि वही अर्थ मानलिया जावे जो कुल्लूकभट्टादि टीकाकारों ने किया है तो भी मूर्त्तिपूजा करनी चाहिये उस के करने से मनुष्य का कल्याण होता है न करने से दुःख हो यह कदापि सिद्ध नहीं होता कुल्लूकभट्टादि ने दैवत शब्द से पाषाणादि की प्रतिमा ली है सो प्रतिमा मट्टी पाषाणादि सभी की प्राचीन समय से बनती है। जिस मनुष्यादि प्राणी वा अप्राणी की प्रतिमा बनाई जाती है उस का यही प्रयोजन होता है कि वह मनुष्यादि का मुख्य शरीरादि पदार्थ नष्ट होजावे वा किसी प्रदेशान्तर में हो तो सर्वत्र के लोग उस की आकृति देख सकें और हाथी घोड़े आदि अनेक वस्तुओं की प्रतिमा बालकों के खेलने के लिये भी बनाई जाती हैं इस से यह नहीं सिद्ध हो सकता कि इष्ट सिद्धि के लिये चन्दनादि से उन की पूजा करनी चाहिये। और वास्तव में देव देवता वा दैवत शब्दों का अर्थ पाषाणादि की प्रतिमा संस्कृत के किसी श्रेष्ठ प्रमाण से नहीं हो सकता यह पहिले भी लिखा गया है इस लिये बार २ लिखने की आवश्यकता नहीं। अब विचारणीय यह है कि मनु० के (मृदंगा०) श्लोक का अर्थ क्या है?

अर्थः—मट्टी का ढेरा (टीला वा खेराआदि) गौ, यज्ञशाला, बुद्धिमानों का समुदाय, घी, और सहत की मक्खी वा समुदाय और चौराहा वा चौक इत्यादि वस्तुओं को तथा बड़े २ पीपल-वट आदि वनस्पतियों के बाईं ओर होकर निकले और इन को दहिने हाथ पर छोड़ता जावे यह कथन दोनों ओर निकलने का अवकाश मिलने पर सम्भव है यदि बाईं ओर से मार्ग ही न हो तो यथेष्ट दहिनी ओर से चले। यह तो इस का मुख्यार्थ है अब ऐसा क्यों करे ऐसी शंका में उत्तर यही है कि इस चतुर्थाध्याय में प्रायः ऐसे कर्त्तव्य कहे हैं जिन के करने में द्वितीय प्रकार की अपेक्षा से कुछ विशेष लाभ वा सुख है। इस श्लोक से पूर्व श्लोक में

लिखा है कि पशु की रस्सी को न नांघे और वर्षा होते में न दौड़े इस का प्रयोजन स्पष्ट है कि पशु जिस रस्सी में बन्धा है उस को नांघेगा तभी यदि पशु उठ गया तो उलझ कर गिर जाना सम्भव है। वर्षा होते समय भागने सेरपट कर गिरजाना सम्भव है। इसी प्रकार यहां भी अनेक प्रयोजन हैं। टीला आदि के दक्षिण भाग में प्रायः श्मशान वा अन्य दुर्गन्धादि के कार्य इसलिये किये जाते हैं कि जिस से दुर्गन्धादि न आवे क्योंकि ठीक दक्षिण का वायु प्रायः नहीं चलता इसी कारण मन्दिर वा घर आदि के द्वार उत्तराभिमुख प्रायः बनाये जाते हैं। गौ आदि के बाईं ओर होकर निकलने से यह प्रयोजन है कि मनुष्य का दहिना हाथ इन गौ आदि की ओर इसलिये रहना आवश्यक है कि मनुष्य का लेन देन का व्यवहार खाना पीना वा अपने शरीर की रक्षा करना ऐसे प्रायः काम दहिने हाथ से किये जाते हैं यही हाथ सीधा माना जाता है बायां हाथ उलटा है सो जब इन से बाईं ओर होकर निकलेगा तो उस का दहिना हाथ उन गौ आदि की ओर रहेगा जिस से अपनी रक्षा और लेन देन का व्यवहारादि सुगमता से कर सकता है। और इस कथन की पुष्टि के लिये इसी प्रकरण में आगे एक श्लोक है। तद्यथाः—

अग्न्यागारे गवां गोष्ठे ब्राह्मणानां च सन्निधौ।
स्वाध्याये भोजने चैव दक्षिणं पाणिमुद्धरेत् ॥ मनु०

अग्निहोत्रादि यज्ञ में गौओं के स्थान में विद्वान् ब्राह्मणों की सभा में वेद पढ़ते और भोजन करते समय दहिना हाथ उठावे अर्थात् दहिने हाथ से काम लेवे। इस का पूर्वोक्त प्रयोजन तो है ही परन्तु यह भी एक प्रयोजन है कि बायें हाथ से गुदा आदि धोते हैं इस लिये उस की अपेक्षा दहिना हाथ अधिक शुद्ध रहता है सर्वत्र अच्छे कार्यों में वा अच्छे पुरुषों वा गुरु आदि के सामने दहिने हाथ से ही उन के सम्बन्धी कार्य करे यह व्यवहार उन की प्रतिष्ठा का सूचक है। पुरुष की अपेक्षा स्त्री न्यून और पुरुष मान्य है इसी लिये शास्त्रमर्यादा के अनुकूल पुरुष की वामाङ्गी स्त्री कहाती है अर्थात् स्त्री का दहिना हाथ पुरुष की ओर रहना चाहिये यह शिष्ट व्यवहार है ॥

अब (न जीर्णदेवायतने०) इस का अभिप्राय सुनिये—पुरानी यज्ञशाला और कीड़े आदि के बिल में विष्ठा वा मूत्र न करे जीर्ण कहने से प्रयोजन यह है कि

जो स्थान टूट फूट जाता है उसमें कोई मनुष्यादि प्राणी नहीं रहता और विष्ठा मूत्र करने वाले प्रायः ऐसे ही स्थल को खोजा करते हैं जहां कोई न रहता हो इसलिये निषेध किया जिस स्थान में अच्छा काम होता रहा वहां उस से विरुद्ध करना बुराई है इसलिये ऐसा न करे । बिल में मूत्रादि जाने से उस में रहने वाले जीव अण्डे बच्चों को दुःख और सर्पादि हो तो निकल कर काट लेना सम्भव है इस कारण बिल में मूत्रादि न करे । देव वा देवायतन शब्दों के अर्थ विषय में हम लिखचुके हैं कि देव नाम पाषाणादि की मूर्त्ति का किसी प्रमाण नहीं से हो सकता यदि किसी को सिद्ध करनेकी शक्ति हो तो प्रमाणों से सिद्ध करे। और यज्ञ का नाम देव है इसी कारण मनुस्मृति के अध्याय ११ में लिखा है कि:-

यद्धनं यज्ञशीलानां देवस्वं तद्विदुर्बुधाः ॥

जो यज्ञशीलों का यज्ञार्थ धन है उस को देवस्व वा यज्ञधन कहते हैं उस को खाने वा चुराने वाला देवल कहाता है उस का श्राद्धादि में सत्कार न करना चाहिये । इसी कारण देवायतन वा देवालय नाम यज्ञशाला का है ।

(देवतानां गुरोराज्ञः०) यह श्लोक भी चतुर्थोध्याय में १३० संख्या का है । इस अध्याय में गृहस्थ के लिये व्यवहार की शिक्षा है कि निषिद्ध को छोड़ने और विहितानुकूल करने से धर्मपूर्वक व्यवहार कहावेगा । इस का अर्थ यह है कि सर्वसाधारण विद्वान् ब्राह्मण, गुरु, राजा, स्नातक (जिस ने विधिपूर्वक ब्रह्मचर्याश्रम को समाप्त कर गृहाश्रम धारण किया हो) आचार्य और यज्ञ में प्रतिष्ठा पाये वृद्ध पुरुष की छाया का उल्लङ्घन न करे यह भी शिष्ट व्यवहार उन सज्जन मान्य पुरुषों की प्रतिष्ठा का सूचक है । यहां धर्मसभा वाले देवता पद से पत्थरादि की मूर्त्ति की छाया नांघने का निषेध करते हैं सो प्रथम तो देवता शब्द का अर्थ पत्थर किसी प्रमाण से हो नहीं सकता और यह भी इन बुद्धि के शत्रुओं से पूछना चाहिये जो पदार्थ चौड़े में ऊंचा खड़ा हो उस की छाया हो सकती है तुम्हारी छोटी२ मूर्त्ति तो एक मन्दिर में रक्खी रहती हैं वहां ऐसा घाम भी नहीं पहुंचता जो कहीं मार्ग में उन की छाया पड़े जिस का लंघना सम्भव हो और किसी प्रकार यह हो भी जावे तो उस जड़ मूर्त्ति को ज्ञान नहीं कि मेरी छाया कोई नांघता है वा नहीं मेरी प्रतिष्ठा करता है वा अप्रतिष्ठा । ये लोग कैसी हंसी की बातें लिख मारते हैं । बुद्धि पर तनिक भी बल नहीं देते ॥

आगे धर्मसभा वाले महात्मा ने मनु और महाभारत का श्लोक-

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः ।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते ॥
महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥

लिखा है और इस का अर्थ यह समझे हैं कि जैसे हम लोगों के पिता दादे आदि मूर्त्ति पत्थरपूजादि करते रहे वही हम को भी करना चाहिये यही धर्म है । हम कहते हैं:-

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम् ? ।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ? ॥१॥

यह चाणक्यनीति का वचन है जिस को स्वयं सत् असत् को विचारने समझने की बुद्धि नहीं उस के लिये शास्त्र से भी कुछ उपकार नहीं हो सकता जैसे दर्पण नेत्रहीन [अन्धे] को रूप नहीं दिखा सकता इसी प्रकार बुद्धिहीन को शास्त्र ज्ञानी नहीं कर सकता । पाठकगण ! शोचिये मनु धर्मशास्त्र के द्वितीयाध्याय में मुख्यकर धर्म के चार लक्षण किये हैं । तद्यथाः-

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षात् धर्मस्य लक्षणम् ॥

वेद, स्मृति धर्मशास्त्र, श्रेष्ठ सदसद्विवेकी पुरुषों का आचार वर्त्ताव और अपने आत्मा को प्रसन्न करने वाला काम जिस से आत्मा को लज्जा शङ्का भय सङ्कोच न हों जिसके करने से और विचार से आत्मा में प्रसन्नता वा उत्साह उत्पन्न हो ये चार धर्म को दिखाने वाले कारण हैं इन में पहिले दो तो मुख्यकर विद्वानों के लिये ही हैं क्योंकि वेदादि शास्त्रों को सर्वसाधारण मनुष्य नहीं जान सकते और पिछले दो सर्वसाधारण के लिये अर्थात् जो धर्मसभा फर्रुखावाद के सम्पादक आदि के तुल्य अधकचरे शास्त्रानभिज्ञ हैं उनके लिये हैं कि वे पूर्वज पितृपितामहादि का इतिहासादि द्वारा वृत्तान्त सुन जानके वैसा आचरण करें । सदाचार में जो श्रेष्ठ पुरुष लिये जाते हैं वे राजा रामचन्द्रजी राजायुधिष्ठिर, महर्षिव्यासजी श्रीकृष्णचन्द्र जी आदि विशेष पुरुषों का ग्रहण होता है जिन को वर्त्तमान में हजारहों मनुष्य जानते मानते हैं उन्होंने जैसा आचरण किया वा करते हों वैसा

सब को करना चाहिये । अब ध्यान देकर देखा जावे कि राजा रामचन्द्रादि के विषय में कहीं लिखा हो कि वे पत्थर आदि की मूर्त्तियों को देवता मान के पूजते रहे हों वाल्मीकीय रामायण में राजा रामचन्द्र जी ने सन्ध्यादि वैदिककर्म नियमपूर्वक किये ऐसा प्रायः लिखा है पर उन्हों ने कहीं भी पत्थर की पूजा की ऐसा नहीं लिखा इस लिये उन्ही सज्जनों के अनुसार आचरण करने की आज्ञा (येनास्य पितरो०) श्लोक में भी है । इसी लिये इस श्लोक में भी (सताम्) पद पढ़ा है अन्यथा पितादि के सब आचरण न कोई करता न कर सकता और न करने चाहिये। किन्तु वेद विरुद्ध किसी के अनुकूल आचरण न करना चाहिये और पितादि के अनुकूल आचरण करे ऐसा कहे वह क्या निवाह सकता है ? ऐसा हो तब तो जिस का पिता विद्या न पढ़ा हो उस के पुत्र को भी न पढ़ना वा न सन्ध्यादि करने चाहिये । इत्यादि दोष आते हैं इस लिये वही पूर्वोक्त अभिप्राय माननीय है ॥

अब इन की और भी समालोचना करता हूं पाठक लोग ध्यान देकर देखें। धर्मसभाफर्रुखाबाद का मासिक पत्र भाग २ अं० १४ पृ० ४ में लिखा है कि परमेश्वर हयग्रीवादि—महाकाल्यादिरूप धारण कर प्रतिमाओं में विद्यमान रहते हैं—जैसा कि वेद मन्त्रों से दर्शित है—

(अश्माश्च मे मृतिकाश्च मे गिरियःश्च मेति)

उ०—वास्तव में यह मन्त्र यजुर्वेद के अ० १८ का है परन्तु सम्पादक संस्कृत विद्या और वेद का ऐसा बड़ा शत्रु है कि मन्त्र के एक भाग लिखने में छः अशुद्धि की हैं। विद्वान् लोग स्वयं समझ लेंगे उन का व्याख्यान करने की आवश्यकता नहीं मन्त्र का पाठ ज्यों का त्यों अशुद्ध ही ऊपर मैंने लिख दिया है ॥

अब इस मन्त्र के अर्थ पर दृष्टि दीजिये तो सम्पादक की पोल पाल शीघ्र ही ज्ञात हो जायगी विशेषार्थ छोड़कर सीधा अक्षरार्थ कर लिया जावे तो यही निकलता है कि मेरा पत्थर मेरी मट्टी और मेरे पर्वत यज्ञ से समर्थ हों । इस अक्षरार्थ में किसी विद्वान् वा साधारण का विवाद कदापि नहीं हो सकता किसी से पूछा जाय तो इस अक्षरार्थ को ठीक ही बतावेगा और कोई भी इस अक्षरार्थ में से यह अर्थ नहीं निकाल सकता कि परमेश्वर हयग्रीवादि रूप धारण कर प्रतिमाओं में विद्यमान रहता है । इन अर्थों में पृथिवी आकाश का सा

भेद है इस मन्त्र में विशेष विचार यह रहा कि मेरे पत्थरादि यज्ञ से समर्थ हों यह कौन कहता है किस से कहता है और किस लिये कहता है ? यदि मान-लिया जाय कि यह परमेश्वर ही कहता है तौ भी पत्थर आदि परमेश्वर के हुए उन के साथ स्वस्वामिभाव सम्बन्ध हुआ तो इस अर्थ से भी परमेश्वर पत्थरादि में है यह नहीं बन सकता क्योंकि (देवदत्तस्य गौः) देवदत्त की गौ है ऐसा कहने से यह अर्थ नहीं निकल सकता कि देवदत्त गौ में विद्यमान रहता है। इस लिये यह अर्थ निकालना मिथ्या है। और प्रथम तो यह कहना भी नहीं बनता कि परमेश्वर ऐसा कहे। परमेश्वर क्यों कहे और किस से कहे क्या उस से कोई बड़ा है ? जिस की प्रार्थना करे इस से सिद्ध होगया कि यह कथन मनुष्य की ओर से है। हां परमेश्वर प्रत्येक पदार्थ का स्वामी है पर स्वामी जैसा चेतन का वैसा जड़ का जिन पदार्थों का स्वामी परमेश्वर है उन की पूजा करनी चाहिये तो पूजा करने वाला भी पूज्य हो जाने से पूजक बचता ही नहीं फिर कौन पूजा करे इस से इस प्रमाण का देना ऊप पटांग वा अविचार से है ॥

अब आगे इन की गप्प सप्प सुनियेः—

१—देखो सत्यार्थ प्रकाश के पृष्ठ ३०३ पंक्ति २४ में लिखा है कि कितनी मूर्खता की बात है कि आंख के अश्रुपात (यानि आंसू से) भी कहीं वृक्ष उत्पन्न हो सकता है। क्या परमेश्वर के सृष्टि क्रम को कोई अन्यथा कर सकता है ? जैसा जिस वृक्ष का बीज परमात्मा ने रचा है उसी से वह वृक्ष उत्पन्न हो सकता है अन्यथा नहीं ॥

(यह लेख स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का है)

अर्थात् महादेव के आंसू से रुद्राक्ष उत्पन्न नहीं हुआ और न महादेव जी में अमरत्व था किन्तु मनुष्य थे। अब न्यायी पुरुष विचार करें कि कितनी मूर्खता और उन्मत्तता दर्शायी है कि जिस का कुछ वारापार नहीं क्योंकि सत्यार्थप्रकाश में सुश्रुत को प्रमाण किया है और उस के प्रमाण अपने ग्रन्थों में बहुधा दिये हैं। परन्तु समस्त सुश्रुत को अवलोकन न किया और उस को (पंचमामः) में भ्रम से लिख दिया यह खबर न रही कि जिन २ ग्रन्थों को हम स्वीकार करें गे वुही ग्रन्थ हमारा अग्र पृष्ठ खोल कर लज्जित कर हमारे अनुयायियों की खाक उड़ावें गे तो कहिये यह हमारे उन्मत्तता नहीं तो और क्या है ? ॥

अब पूर्व लिखित वचन की दुर्दशा सुश्रुत से दर्शाई जाती है। देखो सुश्रुत के कल्पस्थान के अ० ८ में—

विश्वामित्रो नृपवरः कदाचिद्दृषिसत्तमम् ।
वसिष्ठं कोपयामास गत्वाश्रमपदं किल ॥ १ ॥
कुपितस्य मुनेस्तस्य ललाटात्स्वेदबिन्दवः ।
अपतन्दर्शनादेवमवस्तात्तीक्ष्णवर्चसः ॥ २ ॥
लूने तृणे महर्षीणां धेन्वर्थं सम्भृतेऽपि च ।
ततो जातास्त्विमा घोरा नाना रूपा महाविषाः ॥३॥

किसी एक समय राजा विश्वामित्र वसिष्ठ मुनि के स्थान पर गये और उस से युद्ध किया। उस समय वसिष्ठ जी को क्रोध उत्पन्न हुआ ॥१॥ क्रोध के कारण से वसिष्ठ जी के मस्तक से पसीने की बूंद गिरी। वह बूंद अति तीक्ष्ण विष समान जिस घास पत्थर पर गिरी उन में विष का गुण उत्पन्न हुआ और उसी से नानाप्रकार के घोर विष उत्पन्न हुए। और वुह घास यानि तृण जिस२ जीव ने यथा लूता इत्यादि ने भक्षण किया वे जहरीले होगये। अतएव विचारना चाहिये कि जब वसिष्ठ जी के पसीने से विष उत्पन्न हुआ और वे एक तपस्वी ऋषि थे तपोबल से सब कुछ हो सकता है तो फिर महादेव जी के आंसू से जो रुद्राक्ष का वृक्ष उत्पन्न हुआ तो उस में क्या सन्देह है क्योंकि महादेव जी तो साक्षात् ब्रह्मस्वरूप थे इत्यादि ॥

यह सब लेख धर्मसभा के पत्र का है यह इतना बड़ा लेख मैं ने यहां इस लिये लिखदिया कि जिस से उन का पूरा अभिप्राय पाठकों को ज्ञात हो जावे और मैं एक वार इस प्रकार के विषय की समालोचना भी कर दूं पीछे वार २ ऐसे विषयों पर मैं नहीं लिखूंगा किन्तु वेद मंत्रों से जो कुछ आर्यसिद्धान्त विरुद्ध कल्पना की होगी उसी पर यथासम्भव लिखूंगा ॥

अब उत्तर सुनियेः—यदि इन महात्मा को स्वामी दयानन्दसरस्वती जी महाराज का सिद्धान्त ज्ञात होता वा सत्यार्थप्रकाशादि पुस्तकों में नेत्र खोल के देखा होता वा किसी का सिद्धान्त समझने की बुद्धि रखते होते तो ऐसा अनर्गल लेख

कदापि न लिखते। स्वामी जी महाराज ने अपने प्रत्येक सत्यार्थप्रकाशादि पुस्तक में स्पष्ट लिख दिया है कि पांच परीक्षा के अनुकूल जो २ सत्य हो वह मान्य और इस से विपरीत अमान्य है। वेद से भिन्न सब पुस्तक परात्रय हैं अर्थात् वेद मूलक वा वेद से अविरुद्ध होने पर माननीय अन्यथा अमान्य हैं। जब यह साफ लिखा है तो स्वामी जी पर क्यों कर दोष आसकता है अर्थात् दूषण दाता स्वयं दोषी ठहर सकता है। हम लोग स्पष्ट सिद्ध कर सकते हैं कि वेद से भिन्न प्रायः आर्ष ग्रन्थों में भी पौराणिक मतवादियों ने कुछ २ अपने मत की असम्भव कथा उस मत की पुष्टि के लिये मिला दी हैं कि जिस से हमारे मत की पुष्टि हो। इसी लिये स्वामी जी महाराज ने वेदानुकूल ठहरने पर प्रमाण मानना स्वीकार किया है।

अब सुश्रुत की महिमा देखिये कि सुश्रुतकार न्यायादि सब शास्त्रों की अपेक्षा आयुर्वेद ज्ञाता के लिये बताते हैं और अनेक स्थलों में युक्ति विरुद्ध बातों का खण्डन भी करते हैं तो क्या स्वयमेव असम्भव लिखेंगे ?। सुश्रुत के कल्पस्थान में आठ अध्याय मात्र हैं। इस कल्पस्थान में केवल विषों का ही वर्णन है इस में सभी प्रकार के विषों का वर्णन किया है। यदि वसिष्ठ जी के पसीना से सब विषों की उत्पत्ति धन्वन्तरि जी को कहनी अभीष्ट होती तो कल्पस्थान के प्रारम्भ में प्रथमाध्याय में ही कहते क्योंकि लक्षणों से पहिले ही उत्पत्ति कही जाती है उत्पत्ति कहे विना लक्षण किस का कहा जावे और जहां २ किसी रोगादि की विशेष उत्पत्ति आदि कही है वहां पहिले सुश्रुतादि शिष्यों ने प्रश्न भी किया है कि इस अंश को सुनाइये। सो यहां न तो प्रकरण के आरम्भ में ऐसा प्रश्न न कोई प्रसंग न किसी अध्याय के प्रारम्भ में उत्पत्ति कही किन्तु कल्पस्थान की समाप्ति के अष्टम अध्याय के मध्य में ऊटपटांग किसी मतवादी ने साढ़े चार श्लोक पसीना से विष उत्पन्न होने के लिये मिला दिये हैं। सो निष्पक्ष विद्वान् को स्पष्ट दीख पड़ेंगे कि ये प्रकरणविरुद्ध श्लोक हैं। सुश्रुत में अन्य २ भी कई असम्भव बातें अनेक स्थलों में लिखी हैं जैसे उत्तरतन्त्र में ज्वर की उत्पत्ति में विना पूछे ही असम्भव कथा लिख मारी है अर्थात् शिष्य ने कुछ और ही पूछा उत्तर उस से भिन्न ही दिया गया। यह सब पीछे की मिलावट है उस अंश के निकाल देने से उस प्रकरण की कुछ हानि नहीं होती यदि धन्वन्तरिकृत होता

तो क्रमबद्ध इबारत से एक पद निकालते ही क्रम बिगड़ जाता इस से सिद्ध हुआ कि वह ऐसे ही पोप लोगों की मिलावट है ॥

और पसीना से विष होना यह युक्ति से भी विरुद्ध है। जो वस्तु कारणरूप है उस का कार्य भी वैसा ही होगा जैसा कि उस का कारण है। [कार्यकारणयोः सारूप्यम्] यह न्यायशास्त्र का वाक्य है कि कार्यकारण का गुण कर्म स्वभाव मिलता ही रहता है। यह कैसे आश्चर्य की बात है कि पसीने के बिन्दु जिस घास वा पत्थरादि पर पड़े वे सब विष बन गये ! अब शङ्का होती है कि वे पत्थर कितने बड़े थे वही पसीना से गला पत्थर का विष आज तक चला आता है क्या वहां विष की खानि हो गई है जो निबटती नहीं ? क्या उस पसीना से अनन्त परिमाण विष बन गया। ऐसा कदापि नहीं हो सकता कि वह अनन्त विष बन जावे किन्तु दो एक पत्थर पसीना से भीग सकता है पसीना कोई नदी नाले के तुल्य नहीं निकला फिर वे भीगे पत्थर निबट गये तो आगे विष की परम्परा कैसे चली ? और जिन २ जीवों ने वह घास खायी वे जहरीले हो गये तो मकरीरूप कीट किसी घास को नहीं खाता वह क्यों विषधारी हुआ ? और यह भी शंका है कि वह घास अब भी है वा नहीं यदि है तो क्या अब कोई पशु आदि जीव उस को नहीं खाता यदि खाता है तो वे सब विषधारी बनते जाते होंगे और नहीं खाते तो कौन रोकता है यदि वह घास अब नहीं है तो किस कारण नष्ट हो गई ? और यह भी विचारणीय है कि वसिष्ठ जी के पसीना से विष हुआ तो उस से पहिले विष नहीं होगा तो फिर सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा ने सर्पादि रचे यह कथा मिथ्या होगी और कश्यप की १३ स्त्रियों में एक से सर्पादि हुए यह कैसे बनेगा। और महादेव जी ने किस विष को निगल लिया और कब निगला ? क्या वसिष्ठ जी के पसीना से हुए पत्थर महादेव जी ने कण्ठ में धर लिये। वा पहिले ही। यदि पहिले कहो तो विष कहां था और पीछे निगला तो अब तक विष कहां से आया ? ऐसे ही इन की ये सब बातें मिथ्या हैं ॥

आगे सम्पादक धर्मसभा कहते हैं कि—

पंचमहायज्ञविधि और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका आदि पुस्तकों में लिखा सज्जन ब्रह्मचारी न्यायाधीश आदि पुरुषों को बुलाकर भोजनादि सत्कार करना श्राद्ध तर्पण कहाता लिखा है कि मनुष्य ही को देवता ऋषि पितृ माना गया है और मनु की जहां तहां शिक्षा दी है किन्तु मनुस्मृति में जो इन का समय लिखा

है। क्या वुह दृश्य में न आया जो ऐसी अनर्थक वार्त्ता घरघसीटी (बाह) मनु का लेख प्रकट किया जाता है ॥

पित्रो रात्रिहनी मासा प्रविभागस्तु पक्षयोः ॥

अर्थात् पित्रों का रात्रि दिन एक मास का होता है जिस का विभाग दो पक्षों का है कृष्ण पक्ष का दिन—शुक्ल पक्ष की रात्रि है ॥

उत्तर—मैंने इन का पूरा अनुवाद इस लिये नहीं लिखा कि बहुत से व्यर्थ बकवाद से पत्रे भरना अच्छा नहीं किन्तु पहिले कुछ आशयमात्र संक्षेप से लिख दिया है इन की भाषा की अशुद्धियां असंख्य हैं उन पर इस लिये ध्यान नहीं देता कि असली विषय पर लिखने में बाधा पड़े परन्तु संस्कृत वा शास्त्रों के प्रमाणों पर अवश्य शुद्धाशुद्ध का विचार होना चाहिये उस के बिना प्रकरण का अर्थ भी बिगड़ जाता है। अब देखिये मनुस्मृति के प्रथम अध्याय का आधा श्लोक लिखा जिस में तीन अशुद्धि बहुत बड़ी हैं मैंने भी पूर्व वैसा ही अशुद्ध पाठ लिख दिया है जिस की इच्छा हो वह इन के अंक से मिला लेवे ॥ मनु० के श्लोक का शुद्ध पाठ ऐसा है:—

पित्र्ये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तु पक्षयोः ॥

अब मुझे यह भी लिखना आवश्यक नहीं कि क्या अशुद्धि हैं पाठक लोग दोनों प्रकार को देखकर शुद्धाशुद्ध जान लेंगे ॥

अब मुख्य बात सुनियेः—ये कहते हैं कि पितृ मनुष्य नहीं, तो पूछना चाहिये कि क्या पशु हैं। विचारिये तो सही दो पक्ष हैं ?। एक तो पितृयों को मनुष्यों में माननीय ज्ञानी बतलाते हैं। और दूसरे लोग एक भिन्न ही प्रकार से मानते हैं। अब मनु का आशय लिखने से पहिले मुझे दूसरे पक्ष में सन्देह है उन का उत्तर देना सम्पादक धर्मसभा फर्रुखाबाद का काम है ॥

१—प्र०—आप लोग पितृ किन को मानते हो।

२—उन के शरीर कैसे हैं किस देश गांव बन वा लोक में वे पितृ लोग रहते हैं ॥

३—जब मनुष्य मरता है तो वह जीव कहां जाता है ? यदि कर्मानुसार किसी योनि में जन्म लेता है तो मनुष्य पशु पक्षी कुत्ता बिल्ली आदि सभी का नाम क्या पितृ होना चाहिये ? क्योंकि वे सभी पूर्वजन्म में किसी न किसी के पिता रहे ॥

४—अथवा जब मनुष्य मरता है तब वह जीव ऐसा ही होला करता है जैसा कि तुम लोग मानते हो कि वह प्रेत है यदि ऐसा है तो कर्मानुसार सहस्रों योनि में जन्म होने का प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों की क्या दशा होगी ? ॥

५—यदि शास्त्र मर्यादा के अनुसार शरीर छोड़े हुए जीवात्माओं को अपने २ कर्मानुकूल जाति आयु और भोग मिलता है। जैसा कि योगशास्त्र के साधनपाद में लिखा है:—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥

मरते समय यदि अविद्यादि पांच क्लेशसंचित रहते हैं तो उन का फल किसी योनि में जन्म आयु और भोग, संचित संस्कारों से हुई वासनाओं के अनुसार उत्तम मध्यम निकृष्ट होता है यदि यह सत्य है तो तुम अपने पितादि को सुख कैसे पहुंचाते हो। और यदि पहुंचाते हो तो यह सत्य कैसे है ? । क्योंकि यदि उन के कर्म अच्छे नहीं थे और उन कर्मों के अनुकूल उन को नीच योनि आयु और भोग मिलना है और तुमने उत्तम पहुंचाने का यत्न किया और पहुंच गया तो कर्मानुकूल नीच मिलना फिर कैसे सत्य हो सकता है ? ॥

६—और एक शङ्का यह बहुत बड़ी है कि पिता पुत्रादि का सम्बन्ध शरीरों के साथ है वा आत्मा के साथ ? यदि शरीर के साथ मानो तो वह शरीर तुमने प्रत्यक्ष देखते २ जला कर भस्म कर दिया फिर तुम्हारा पिता रहा ही नहीं अब किस को पितृ मानोगे! यदि आत्मा को पितृ मानो तो यह कभी मरता जीता नहीं फिर ऐसा व्यवहार क्यों करते हो कि हमारा पिता मर गया। और यह शास्त्रों से भी विरुद्ध है उपनिषदों में लिखा है कि:—

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ॥

न वह आत्मा स्त्री न पुरुष न नपुंसक और न किसी का पिता वा पुत्र आदि होता है किन्तु जैसा २ शरीरधारण करता वैसा २ कहा जाता है। पिता पुत्रादि सम्बन्ध मुख्य कर शरीर के साथ है इसी कारण इस के पुत्र नहीं इस के पुत्र हुआ इत्यादि व्यवहार बन सकता है। क्या इन शास्त्रीय वचनों से आप का मत विलक्षण है तो क्या मत है ? ।

७—न्यायशास्त्र के वात्स्यायन भाष्य में लिखा है कि:-

नाऽशरीरस्यात्मनो भोगः कश्चिदस्तीति ॥

शरीरधारण किये विना केवल आत्मा को सुख दुःख का भोग कुछ नहीं होता सो यदि तुम लोग पितृयों को शरीररहित मानते हो तो वे सुख दुःख कुछ नहीं भोग सकते फिर किस को श्राद्धादि का फल सुख पहुंचाया चाहते हो ? । यदि शरीरधारी मानते हो तो पशु आदि नीच योनियों को छोड़ के मनुष्य शरीर में जो भोग होता है वहां कुछ वर्त्तमान कर्म भी सहकारी होते हैं वर्त्तमान जन्म और पूर्वजन्म के कर्मफल के सुख दुःखादि भोग होता है उस में तुम्हारे श्राद्ध से क्या उपयोग हुआ इत्यादि अनेक प्रश्न हो सकते हैं जब पौराणिक लोग इन प्रश्नों के उत्तर युक्ति प्रमाण सहित देंगे तब फिर शेष प्रश्न किये जावेंगे ॥

अब मनुस्मृति के (पित्र्येरात्र्यहनी०) श्लोक का अभिप्राय सुनिये । मनुस्मृति में यह श्लोक काल के विभाग विषय में लिखा है दिन रात्रि पक्ष मासादि काल की संज्ञा चार प्रकार की है मनुष्य, पित्र्य, दैव, ब्राह्म ये चार ही मुख्य कक्षा हैं इन्हीं के साथ चार नाम वर्णों के भी यथासंख्य लग आ सकते हैं जैसे मनुष्य शूद्र, पितृवैश्य, देवक्षत्रिय, ब्रह्मा ब्राह्मण, । इन में मनुष्य से पितृ पितृ से देव और देव से ब्रह्मा उत्तम कक्षा में हैं इन्हीं चार नामों से काल का विभाग इस लिये रक्खा गया कि अच्छे पुरुष विद्वानों वा ज्ञानियों का समय अच्छे कामों और ईश्वर सम्बन्धि ध्यान समाधि आदि में महीनों वा वर्षों तक दिनों के तुल्य कट जाता है उन को अधिक समय थोड़ा ही जान पड़ता है । और मूर्ख निकम्मे लोगों को वा कैदियों को थोड़ा समय बहुत जान पड़ता है जो समय दुःख में व्यतीत होता है वह थोड़ा भी बहुत होता और शान्तिपूर्वक उत्तम कार्यों तथा सुख में व्यतीत हुआ समय बहुत भी पलों के तुल्य कट जाता है । इस में न्यूनाधिक भाव से चार भेद होते हैं । इस का दृष्टान्त जैसे स्वप्न में समय कटते जान पड़ता और सुषुप्ति में कई घंटे पलों के तुल्य व्यतीत हो जाते हैं वैसे समाधि आदि में भी समय बहुत जल्दी कटता है । इसी लिये मनुष्य आदि नामों के साथ यह समय बांधा है । मानुष दिन रात्रि से पित्र्य बड़ा उस से दैव और दैव से ब्राह्म बड़ा है इस विचार से एक प्रकार की बुद्धिमत्ता शास्त्रकारों की भी जान पड़ती है ।

और जो लोग सत्य २ ऐसा मानते हैं कि मनुष्य के १५ दिन की रात्रि और १५ का दिन पितृयों का होता है उन को पूछना चाहिये कि दिन रात्रि के विभाग

का कारण यही सूर्य है सो क्या पितृयों के यहां १५ दिन तक उदय ही नहीं होता तो एक पक्ष बराबर अन्धकार में पड़े रहते होंगे! और १५ दिन बराबर सूर्य तपता होगा तो इस में पितृयों को मनुष्यों से भी अधिक दुःख होता होगा क्योंकि यह अनुभव सिद्ध बात है कि जैसा ही दिन बड़ा होगा वैसा दुःख भी विशेष होगा। देखो मनुष्यों को शीत काल में जब दिन बहुत छोटा होता है तभी अधिक सुख रहता है दिन तो लेते देते कामों में कट जाता है रात्रि सुख-पूर्वक सोने में जाती है तो समय शीघ्र ही कटता जाता है और जब दिन बड़े होते हैं तभी ज्वाला भी अधिक होती है जिस से प्रायः प्राणी अकुलाया करते हैं। और देवों का दिन रात एक वर्ष का हुआ तो उन के यहां छः महीने अन्ध-कार रहा तो उन को पितृयों से भी अधिक दुःख होगा और होना यह चाहिये कि मनुष्यों से ऊपर २ की कक्षा में अधिक सुख होता सो यह भी दोष इन लोगों के मत में आता है इन को समाधान इस का भी करना चाहिये ॥

धर्मसभा फर्रुखाबाद—अब ईश्वर का साकार स्वरूप जिस्से कि मूर्त्तिपूजन सिद्ध है दर्शित किया जाता है। यजुर्वेद ऽ१८ मं० ६०। ६१। ६४।

एतन् जानाथ परमे व्योमन् देवाः सदस्था विदरूपमस्य। यदागच्छन् पथिभिर्देवयानै-रिष्टापूर्त्ते कृणवाथाविरस्मै॥ ६० अस्यार्थम्।

यह जितने देवता हैं वे सब परम पवित्र स्थान यानि स्वर्ग निवासी हैं वे अपना भक्त यजमान को जानें—और जब २ विमानों पर बैठकर यजमान के यज्ञ और पूजन स्थान में आवें तब २ इस को इष्टपूर्त्तकर्म करने की वासना करावें ६०

समीक्षक—पाठक लोग इन की भाषा पर भी अवश्य ध्यान देते रहैं। यजु-र्वेदे इस के आगे अध्याय का संकेत पूरा अ० लिखना चाहिये सो ऽ लुप्त अकार का चिन्ह लिखा है भला जिन को इतना भी ज्ञान नहीं कि लुप्त अकार का चिन्ह कहां लिखा जाता है वा इस को कैसा लिखना चाहिये वे ऐसे लोग वेद के सिद्धान्त को जानने और उस का अर्थ करने को प्रवृत्त हुए तो कैसे काम चलेगा और इस देश की क्या दशा होगी?। और अस्यार्थम् इस को विचारशील ध्यान

में रक्खें। मैं कहता हूं कि ये लोग जब संस्कृत का हाथ पैर नहीं जानते तो अपनी हंसी कराने और मूर्ख कहाने के लिये क्यों उस विद्या में पग अड़ाते हैं अब मन्त्र की अशुद्धियों पर ध्यान दीजिये। इस मन्त्र में ४ अशुद्धि तो बड़ी २ हैं। १—एतन्। २—सद्स्या। ३-गच्छन्। ४-रिंहापूर्त्तम्। यदि व्याकरण का बोध होता तो अकार के परे अनुस्वार को न् कभी नहीं लिखते। शुद्ध लिखने में अनुस्वार रहे वा परसवर्ण करें तो ञ् होगा दूसरे सधस्था पद है। उस के स्थान में सद्स्या लिखा इनके अर्थ में पृथिवी आकाश का सा भेद है। सधस्था साथ बैठने वाले इष्ट मित्रादि और सदःस्था सभा में बैठने वाले हैं तीसरा गच्छात् को गच्छन् लिखा इस में भी अर्थ का बड़ा भेद है गच्छात् का अर्थ आप लोग जाइये और गच्छन् का कोई एक मनुष्य जाता हुआ। और (नैरिं०) में सन्धि-मात्र जानने वाले छोटे२ विद्यार्थी भी अशुद्धि समझ जांयगे कि व्याकरण में दो रेफ इकट्ठे रहने ही नहीं पाते किन्तु (रोरि) सूत्र से पूर्व रेफ का लोप हो जाता है—ऐसे अज्ञानी कि जिनको संस्कृत की शुद्ध अशुद्ध जान सकने का सामर्थ्य नहीं उन्हीं को शास्त्रकारों ने वेद पढ़ने का अनधिकारी कहा है अर्थात् वेद का अधि-कार ऐसों को नहीं है। न उन को वेद के पास जाने देना चाहिये इसीलिये महाभाष्यकारने लिखा है कि—

रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणं लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग् वेदान् परिपालयति। विपरीतो नाशयति सम्यगित्याशयः।

प्रयोजन यह है कि वेदों की रक्षा विना व्याकरण पढ़े नहीं हो सकती इसलिये व्याकरण अवश्य पढ़ना चाहिये। क्योंकि लोप—किसी अक्षर का न रहना, आगम—किसी वर्ण का अधिक हो जाना, आदेश किसी वर्ण के स्थान में अन्य वर्ण आदेश होना इत्यादि विचार को जानने वाला ही ठीक २ वेदों की सम्यक् रक्षा कर सकता है अर्थात् ठीक २ लिखना पढ़ना जानना जतलाना आदि व्यवहार कर सकता है और जो उक्त प्रकार व्याकरणविषयक लोपादि को नहीं जानता वह अशुद्ध कुछ का कुछ लिखे पढ़े वा समझेगा वैसाही दूसरों को समझायेगा जिस से वेद का अनर्थ होकर बड़ी हानि होगी। यही हाल आज कल हो रहा है कि अनधिकारी लोग वेद का अनर्थ करे डालते हैं जैसे कि ऊपर उदाहरण दिखाया गया।

अब इन महात्मा के किये अर्थ पर भी ध्यान दीजिये बड़े आश्चर्य का विषय है कि जिस बात का नाम निशान नहीं वैसा अर्थ ये लोग कैसे लिख मारते हैं!। परम पवित्र स्वर्ग में रहना विमान पर चढ़ कर आना और वासना कराना ये

किस २ पद के अर्थ हैं ? यह उन सम्पादक महाशय से पूछना चाहिये । देवता लोग जब परम पवित्र स्वर्ग में रहते हैं तो वे क्योंकर उस को छोड़ कर पृथिवी पर नीचदशा में आवेंगे । यह नियम सृष्टि भर में दीख पड़ता है कि पूर्वजन्म के कर्मानुसार परमेश्वर की व्यवस्था से जिस को जैसा उत्तम स्थान निवास के लिये मिलता है उसको स्थान के अनुकूल सुखभोग की अन्य भी सामग्री अवश्य मिलती है । और पुराणों के अनुसार यह भी प्रकट है कि देवयोनि की अपेक्षा मनुष्ययोनि बहुत नीच है तो यह विपरीत व्यवहार क्यों होता है? किसी उत्तम कक्षा वाले पुरुष नीच के पास हाजिरी देने जावें । अर्थात् ये लोग देवताओं का प्रत्येक यज्ञादि में आह्वान करते अर्थात् नौकर के तुल्य आज्ञा देते हैं कि इस समय यहां आओ । और वे बुलाते ही चले आते हैं तो विचारिये कि नीचता किस की हुई ? । और जब स्वर्ग में सर्वोत्तम भोग सामग्री उपस्थित है तो देवताओं का क्या प्रयोजन है जो वे अपने से नीच मनुष्यों के बुलाने पर आते हैं । और उन के पास क्या तार भेजा जाता है ? कि जब यजमान यज्ञ करने बैठा उसी समय तार दे दिया झट वहां से चल दिये । और वह स्वर्ग कितनी दूर पर है क्या वहां तार पहुंचते कुछ देर ही नहीं लगती ? कि दिया और पहुंच गया ? और वहां आते भी कुछ देर लगनी चाहिये । विमान कितना ही शीघ्र चले तो भी हजारों कोश में कितने ही घण्टे लगने चाहिये क्या तार भेजने पीछे यजमान दो चार घण्टा उन के आने की बाट देखता है ? यदि नहीं देखता तो इतनी शीघ्रता में कैसे आजाते हैं? और आजाने का क्या चिह्न है कि जिससे मालूम होजावे कि अब देवता आगये क्या यजमान से कह देते हैं कि हम हाजिर हैं ? । विचार कर देखा जावे तो यह बालकों कासा खेल है कि देवता का आह्वान करो उन्हों ने आह्वान कर मान लिया कि आगये । क्षणमात्र में सब हो जाता है। इन लोगो की पौराणिक सब बातें ऐसी ही हैं जिन की कान पूंछ कुछ भी प्रतीत नहीं होती । इन का जैसा २ भीतरी विचार करो वैसी २ पोल निकलती आवेगी ॥ अब (एत जानाथ) मंत्र का अर्थ ठीक २ सुनियेः—

अर्थः—हे विद्वान् लोगो अनन्त आकाश के तुल्य व्याप्त परमेश्वर को जानते हैं आप लोग अनेक विद्वान् मिलकर शास्त्रसम्बन्धी विचार करते हैं और विद्वानों के मार्ग से चलने की इच्छा वाले को यज्ञादि कर्म का उपदेश करते हैं इस से हम को भी कल्याणमार्ग का उपदेश कीजिये । जिस से हम दुःखों से बचें और सुख को प्राप्त हों । बुद्धिमान् लोग इस मेरे किये अर्थ को विचारें विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं जिन को संस्कृत का थोड़ा भी संस्कार होगा वे इतने से ही सत्यासत्य समझ लेंगे ॥

अथर्ववेद के मन्त्रों का अर्थ ॥

मुझ को कई सज्जन पुरुषों ने तथा श्रीयुत जनमेजय वर्मा राजकुमार जलन्धरनिवासी ने विशेष कर सूचित किया है कि निम्नलिखित मन्त्रों से अनेक ऐसे लोग मृतक पितृयों का श्राद्ध करना सिद्ध करते हैं जो वेद को बुद्धिपूर्वक नहीं मानते किन्तु अपने संस्कारों के अनुसार वेदाभिप्राय को भी ऊटपटांग ही समझते हैं । अब पाठकगण इन मन्त्रों के अर्थ पर ध्यान देकर देखिये:—

ये जीवा ये च मृता ये जाता ये च यज्ञियाः।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु मधुधारा व्युन्दती॥

अथर्वकां० १८ ॥

इस का अर्थ वे लोग यह करते हैं कि जो पितर जीते हैं जो मरगये जो उत्पन्न हुए और जो यज्ञ के योग्य हैं उन सब के लिये तर्पण किये मिष्ट जल की धारा प्राप्त हो । इस में ऊटपटांगपन यही है कि ये लोग जब जीते पितृयों के लिये तर्पण नहीं कहते फिर वेद से प्रमाण देना वदतोव्याघात (अपने कहे को आप ही काटना) है । यदि पिता प्यासे बैठे हों और पुत्र सामने बैठ कर तर्पण करने लगे तो पिता की प्यास नहीं बुझ सकती । यदि पिता को जल पिलाने का नाम भी तर्पण है तो सत्य, हमारा पक्ष सिद्ध हो गया परन्तु उस पृथिवी पर जल गिराने का नाम तर्पण नहीं हो सकता क्योंकि उस से किसी की तृप्ति होना सिद्ध नहीं होता । इत्यादि प्रकार इन का अर्थ ऊटपटांग है । अब इस मन्त्र का वास्तविक अर्थ सुनिये:—

अर्थः—(ये) प्राणिनः (जीवाः) अन्नजलादिप्राप्त्या जीवन्ति प्राणान् धरन्ति (ये,च) पशुपक्षिमनुष्यादयः (मृताः) जलान्नाद्यभावेन म्रियन्ते प्राणांस्त्यजन्ति । अत्र शीलितो रक्षितः क्षान्त इत्यादिमहाभाष्यप्रामाण्यादमृतवन्मृतशब्देऽपि वर्त्तमाने क्तः । (ये) (जाताः) वनस्पतिवृक्षादयः पृथिवीमुद्भिद्य प्रादुर्भूताः सन्ति (ये,

च) (यज्ञियाः) यज्ञे होतुं योग्या ओषध्यादयः पदार्थाः (तेभ्यः) प्राणिभ्यो वृक्षादिभ्यश्च (मधुधारा) मध्वी क्षारादिगुणवर्जिता सुस्वादुर्धारा यस्याः सा (व्युन्दती) स्नेहवती शान्तिप्रदा (घृतस्य) उदकस्य । घृतमिति जलस्य नामधेयम् । निघण्टौ १ । १२ । (कुल्या) कृत्रिमा नदी (एतु) प्राप्नोतु ॥

कुल्याल्पा कृत्रिमा सरिदित्यमरकोशे ॥

भा०—पृथिव्याः सर्वप्रदेशेषु नदीकूपतडागादयो जलाशया न भवन्ति । जलाद्यभावेन यत्र जना म्रियन्ते स एव मरुदेश आख्यायते जगत उत्पत्तिस्थितिकारणं जलमेवास्ति । जलसकाशादेव पृथिव्या स्थितिः, कारणमन्तरेण कार्यस्थितेरसम्भवात् । वृष्टेरन्नं ततः प्रजा इति मनुशासनाच्च सिद्धं जलमन्तरेण कस्यापि प्राणिनो जीवनं स्थितिर्वा न सम्भवति । एतदर्थमीश्वर आज्ञां ददाति—यत्र जलाद्यभावेन प्राणिनो म्रियन्ते वृक्षघासादयो वा नोत्पद्यन्त उत्पन्नानामोषध्यादीनां वा सरसत्वं न भवति तत्र प्राण्योषध्यादीनां रक्षार्थं शुद्धमिष्टारोग्यप्रदोदका कृत्रिमा सरिन्निःसारणीया । तेन कर्मणा सर्वसाधारणस्य सुखं साधनीयम् । आधुनिकाः केचिज्जानन्ति कृत्रिमसरिन्निर्माणादि सर्वसुखसाधकं कर्मेदानीन्तनैर्द्वीपान्तरनिवासिराजकीयपुरुषैरधुनैव प्रचारितं भूतपूर्वैरार्य्यैर्न ज्ञातं कृतं वेति तदसत्—महाराज्ञा रघुवंशिना भगीरथेन गङ्गानामा नदी लोकोपकारायैव कृत्रिमा निस्सारिता पश्चाद्यथेष्टवाहिनी बभूव । अमरेण च कृत्रिमा सरित् कुल्या इति लिखितमिति यदि पूर्वं नासीत्तर्हिंवाऽयमन्तरेण कस्य वाचकः शब्दः पूर्व्यैरुपयुक्तः ? । तस्मात्सनातनीयं वेदमूलका विद्या ॥

भाषार्थः-(ये) जो प्राणी (जीवाः) अन्न जल आदि की प्राप्ति से जीवन व्यतीत करते (च) और (ये) जो (मृताः) जल अन्नादि के न मिलने से मरते प्राणीं को छोड़ते हैं (ये) जो (जाताः) वृक्ष वनस्पति आदि पदार्थ पृथिवी पर उत्पन्न हुए (च) और (ये) जो (यज्ञियाः) यज्ञ के योग्य ओषधि आदि पदार्थ हैं (तेभ्यः) उन प्राणी और वृक्ष ओषधि वनस्पति आदि पदार्थों की रक्षा के लिये (मधुधारा) खारापन रहित स्वादिष्ट जल की धारा जिस में हो ऐसी (व्युन्दती) शीतलता, शान्ति [तरावट] पहुंचाने वाली (घृतस्य) जल की (कुल्या) बनावटी मनुष्यकृत नदी[नहर] (एतु) प्राप्त होवे । जल की नहर इसलिये कहा कि अन्य मिष्ट रस आदि की वा युद्ध में रुधिरादि की कृत्रिम प्रणाली भी चल जाती है ॥

भावार्थः-पृथिवी के सब भागों में नदी कूप और तलाव आदि जलाशय नहीं होते । जहां जल आदि के विना प्राणी मरते हैं वही मरु (मारवाड़) देश कहाता है। जगत् की उत्पत्ति और स्थिति का कारण जल ही है जल के सम्बन्ध से ही पृथिवी आदि पदार्थों में परमाणुओं का संयोग हो रहा है पृथिवी का कारण जल ही है श्रुति में भी लिखा है कि (अद्भ्यः पृथिवी) जल से पृथिवी उत्पन्न होती है। यदि पृथिवी पर जल न रहे तो तत्काल परमाणु रूप हो जावे। मनुस्मृति में लिखा है कि वर्षा के जल से ओषधि ओषधियों से अन्न अन्न से मे वीर्य वीर्य से सब प्राणी उत्पन्न होते हैं । यदि वर्षा न हो तो किसी प्राणी की उत्पत्ति न हो सके और उत्पन्न हुए सब प्राणी मरजावें इसी कारण वर्षा के अभाव में अकाल मृत्यु से लाखों मर जाते हैं इस से सिद्ध हुआ कि जल के विना किसी प्राणी का जीवन वा स्थिति नहीं रह सकती । इस लिये ईश्वर आज्ञा देता है कि जहां जलादि के विना प्राणी मरते वा वृक्ष घास आदि उत्पन्न नहीं होते अथवा उत्पन्न हुए ओषधि आदि रसीले नहीं होते वहां प्राणी और ओषधि आदि की रक्षा के लिये शुद्ध मीठे नीरोग जलयुक्त वनावट की नदी (नहर) निकालनी चाहिये जिस से सर्वसाधारण को सुख प्राप्त होवे ।

कितने ही आधुकि लोग जानते हैं कि नहर निकालना आदि काम वर्त्तमान द्वीपान्तरनिवासी [अंगरेजों] ने अभी चलाया है किन्तु पहिले हुए आर्य लोगों ने न जाना न किया सो यह मिथ्या ज्ञान है। रघुवंशी महाराजा भगीरथ जी ने गंगानामक नदी संसार के उपकारार्थ ही निकाली थी पीछे स्वतंत्र बहने लगी जिस का कोई बांध वा मर्यादा न रही इसी से टेढ़ी होगई । अमर कोष

वाले ने कुल्या कृत्रिम नदी का नाम लिखा ही है यदि पहिले यह परिपाटी न होती तो वाच्य के विना वाचक शब्द पूर्व आर्यों ने कैसे प्रयोग किया ? इस से निश्चय है कि यह वेदमूलक सनातन विद्या की परिपाटी है कि नहर निकालनी चाहिये ॥ १ ॥

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः ।
सर्वांस्तानग्न आवह पितॄन्हविषे अत्तवे ॥ २ ॥

पौराणिक लोग इस का अर्थ यह समझते हैं कि जो पृथिवी में गाड़ दिये गये जो युद्धादि में काट कर मांस रुधिर हड्डीरूप फैला दिये गये जो जलादिये गये और जो ऊपरी बिजुली आदि के द्वारा मारे गये उन सब को हे अग्नि तू हविष्य खाने के लिये बुला दे ।

अब पाठक गणों को इस अर्थ की ऊटपटांगता देखनी चाहिये कि गाड़ना काटना जलाना आदि कर्म शरीर का होता है आत्मा का नहीं यह भी जानते हैं कि किसी प्राणी का शरीर जन्मान्तर वा लोकान्तर में नहीं जाता किन्तु पृथिवी का विकार होने से किसी प्रकार सूक्ष्म परमाणुरूप होकर पृथिवी में मिल जाता है किसी का हाथ पग आदि अंग बचता नहीं केवल लिङ्गशरीर सहित जीवात्मा जन्मान्तर धारण करता है वह जीवात्मा अच्छेद्य अभेद्य नित्य है तद्यथा—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
नचैनंक्लेदयन्त्यापो नशोषयतिमारुतः ॥ भ०गी०

इस जीवात्मा को शस्त्र नहीं काटते अग्नि नहीं जलाता जल नहीं डुबाते और वायु भी नहीं सुखाता किन्तु शस्त्र आदि से शरीर का काटना आदि क्रिया होती है । इस से सिद्ध हुआ कि शरीर गाड़ा जलाया जाता है आत्मा नहीं तो जो गाड़ा जलाया गया वह तो यहीं नष्ट हो गया उस को बुलाना वा उस की तृप्ति के लिये श्राद्ध करना कदापि सिद्ध नहीं हो सकता और जड़ शरीर जलाया वा गाड़ा गया उस को सुख दुःख वा भोजन का स्वाद भी नहीं मिल सकता । आत्मा नित्य चेतन जन्मान्तर का धारण करने वाला सुख दुःख का भागी हो सकता है वह गाड़ा जलाया नहीं जा सकता तो जो गाड़े वा जलाये गये उन को बुला-

कर भोजन कराना बुलाना सब ऊटपटांग क्यों न हुआ ?। और आत्मा किसी का पिता वा पुत्र स्त्री वा पुरुष भी नहीं होता किन्तु उस के संयोग से शरीर पितादि होता है वह यहीं नष्ट हो जाता है तो वा श्राद्ध तर्पण किस को पहुंचाया जावे। जो आत्मा पिता के शरीर में था वही मर कर यदि पुत्र बधू के गर्भाशय में जन्म लेवे तो वह जिस का पिता था उस का अब पुत्र हो गया और उस का जन्मान्तरीय पुत्र (जो वर्त्तमान में पिता है) पिता नहीं मान सकता किन्तु पुत्र ही माने गा यदि आत्मा के साथ पिता पुत्र का सम्बन्ध होता तो अवश्य पुत्र हो जाने पर भी पिता ही माना जाता। शरीर छूटते ही सम्बन्ध टूट जाता है फिर पिता को बुलाना वा पिण्ड देना वा तर्पण से तृप्त करना सब निष्फल है। अब मंत्र का वास्तविकार्थ सुनियेः—

हे (अग्ने) ज्ञानप्रकाशस्वरूपसर्वप्रकाशक जगदीश्वर (ये) (निखाताः) भूम्यामन्तर्हिताः कन्दादयः खननेन निस्सरन्ति (ये) (परोप्ताः) प्रादुर्भावाय पराप्रकृष्टतया उप्ता भूमौ विकीर्णाः (ये) (दग्धाः) भ्राष्ट्रादौ भर्ज्जिताः पक्वा भस्मीकृताः सुवर्णादिधातवो वा (ये,च) (उद्धिताः) उत्कृष्टहितकारिणः पदार्था जगति वर्त्तन्ते (तान्,सर्वान्) पदार्थान् (हविषे) हविष्यरूपमन्नम् (अत्तवे) भोक्तुम् (आ, वह) समन्तात्प्रापय ॥

भा०—मनुष्येण सत्त्वगुणवर्द्धकाः शान्तिप्रदा रोगनिवारका बुद्धिबलारोग्यरक्षकाः पदार्थाः सदैव भोक्तव्यास्तत्प्राप्त्यर्थं परमेश्वरो निरन्तरं प्रार्थनीयश्च ॥ २ ॥

भाषार्थः—हे (अग्ने) ज्ञानप्रकाश स्वरूप सब के प्रकाशक जगदीश्वर (ये) जो (निखाताः) भूमि में छिपे खोदने से निकलने वाले कन्द आदि वा गढ़े हुए धनादि (ये) जो (परोप्ताः) उत्पन्न होने के लिये अच्छे प्रकार पृथिवी में बोये गये (ये) जो (दग्धाः) भाड़ आदि में भूंजे पकाये वा भस्मरूप किये सुवर्णादि धातु (च) और (ये) जो (उद्धिताः) उत्तम प्रकार हितकारी पदार्थ जगत् में हैं (तान्,सर्वान्) उन सब पदार्थों को (हविषे) हविष्य होम के योग्य अन्न (अत्तवे) खाने के लिये (आ,वह) अच्छे प्रकार प्राप्त कराइये ॥

भा० — मनुष्य को उचित है कि सत्व गुण के बढ़ाने, शान्ति पहुंचाने बुद्धि बल और आरोग्य की रक्षा करने वाले पदार्थों का सदा भोजन करे और उनकी प्राप्ति के लिये निरन्तर परमेश्वर की प्रार्थना भी किया करे ॥२॥ तृतीयो मंत्रः—

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते। त्वं तान्वेथ यदि ते जात वेदः स्वधया यज्ञं स्वधितं जुषन्ताम् ॥३॥

अथर्व कां० १८ अ० २ ॥

अर्थः—(ये) (अग्निदग्धाः) अग्निना दह्यमाना इव शोभावन्तः (ये) (अनग्निदग्धाः) अग्निभिन्नेन सुवर्णरजतादिना दग्धा रूपान्तरमापन्नाः पदार्थाः । धातूनामनेकार्थत्वाद्भस्मीकरणमर्थोऽत्राविवक्षितः किन्तु रूपान्तरापत्तिरुपमानेन प्रत्येतव्या । अन्यथाऽनग्निना कस्यचिद्दाहासम्भवात् । एवम्भूता अंशुमानित्यादिनामभिः प्रसिद्धाः सोमाः (दिवः) द्युतिशीलस्योत्तमगुणस्य पर्वतशिखरादेः (मध्ये) (स्वधया) अमृतरसेन (मादयन्ते) तद्गुणविज्ञान् मनुष्यान् हर्षयन्ति। हे (जातवेदः) जातं वेदो ज्ञानं यस्य तत्सम्बुद्धौ पदार्थविद्याविद् भिषक् यदि (त्वम्) (तान्) (वेत्थ) जानासि तर्हि (ते) पदार्थाः (स्वधितिम्) दुष्कर्मदुर्गन्धादिछेदनेवज्ररूपम् (यज्ञम्) (स्वधया) अमृतरसेन (जुषन्ताम्) सेवन्तां यज्ञ उपयुक्ता भवन्तु ॥

भा०—अस्यां सृष्टौ नानाविधाः सुवर्णरजताग्निवर्णधारिणः सोमाद्योषधिगणा दिव्यगुणा मेधायुरारोग्यकान्तिबलप्रदाः परमात्मना निर्मितास्तेऽमृतरूपा मनुष्यैः सद्भिषक्सत्सङ्गत्या विज्ञातव्याः । विज्ञाय च यज्ञे तैरुपयोगो ग्राह्यः शरीरेन्द्रियबलपराक्रमादिरक्षार्थं च स्वयमपि सेव्या इत्यर्थः ॥३॥

भावार्थः—(ये) जो (अग्निदग्धाः) अग्नि से जलते हुए पदार्थों के तुल्य शोभायुक्त (ये) जो (अनग्निदग्धाः) अग्नि से भिन्न सुवर्ण रजतादि के तुल्यरूप वाले अंशुमान् आदि २४ नामों से प्रसिद्ध सोम (दिवः) उत्तम गुणयुक्त प्रकाशशील पर्वत के शिखरादि प्रदेश के (मध्ये) बीच (स्वधया) अमृतरूप रस से उस के गुण जानने वाले मनुष्यों को (मादयन्ते) आनन्द देते हैं । हे (जातवेदः) ओषधियों के गुणों का जिन को साक्षात् ज्ञान हुआ है ऐसे पदार्थविद्या के ज्ञाता वैद्य जन (यदि) जो (त्वम्) आप उन पदार्थों को (वेत्थ) जानते हो तो (ते) वे पदार्थ (स्वधितिम्) अन्तःकरण के कुसंस्कारों और दुर्गन्धादि दोषों को शस्त्र के तुल्य छेदक (यज्ञम्) यज्ञ का (स्वधया) अमृतरूप रस के साथ (जुषन्ताम्) सेवन करें अर्थात् यज्ञ में उपयोगी हों ॥

भा०—इस संसार में अनेक प्रकार के सोना चांदी और अग्नि आदि के तुल्य रूपवाले उत्तम गुणयुक्त बुद्धि आरोग्य आयु शोभा और बल आदि के बढ़ाने वाले अंशुमान् सोम आदि औषध पदार्थ परमात्मा ने रचे हैं। मनुष्यों को उचित है कि श्रेष्ठ वैद्यों की सङ्गति करके उन अमृतरूप सोमादि को जान के उन से यज्ञ में उपयोग लेवें और शरीर इन्द्रिय बल तथा पराक्रमादि की रक्षा के लिये आप भी उन का सेवन करें ॥ ३ ॥

अब पाठकों को ध्यान देना चाहिये कि जो लोग अग्नि से जलाये गये पितर ऐसा अर्थ करते हैं उन के मत में प्रथम तो जीव जलाया नहीं जाता किन्तु जो शरीर जलाया जाता है उस को श्राद्ध पहुंचाते नहीं तो कैसे अर्थ बने। और मान भी लिया जाय तो (अनग्निदग्धाः) का अर्थ नहीं बनेगा। अग्नि से भिन्न किसी पदार्थ में जलाने की शक्ति नहीं । जलाना काम केवल अग्नि का ही है और ये लोग इस मन्त्र से स्वर्ग में रहने वाले पितरों को अग्निद्वारा यज्ञ में बुलाते हैं । तो वही दोष है कि जो जीवात्मा स्वर्गवासी हुआ वह अग्नि में नहीं जलाया गया किन्तु जलाने से पहिले ही निकल गया और जो शरीर जलाया गया वह पृथिवी में मिल गया स्वर्ग को नहीं गया तो अग्निदग्ध शब्द पितरों का विशेषण नहीं हो सक्ता इस कारण इन का अर्थ परस्पर विरुद्ध है ॥

इसी प्रकार आज कल के लोग वेदमन्त्रों का ऊटपटांग अर्थ करके सर्वसाधारण मनुष्यों को अपना पाण्डित्य प्रकट करना चाहते हैं कुछ काल पहिले से इस देश में यह परिपाटी प्रवृत्त थी कि वेदादि शास्त्रों का अर्थ करने में प्रायः

पण्डित लोग भी चकराते थे तो पण्डितम्मन्य लोगों की क्या कथा थी । अब श्रीमान् स्वामीदयानन्द सरस्वती जी महाराज ने स्वतन्त्र अर्थ करने का मार्ग खोल दिया तब से अनेक पण्डितम्मन्य लोग भी वेद मन्त्रों का अर्थ करने लगे । सायण महीधरादि ने क्या लिखा है उस की कुछ भी अपेक्षा न करके मनमाना निर्मूल अर्थ घसीट डालते हैं इस से अज्ञानी लोग तो उन को पण्डित मान लेते हैं परन्तु विद्वानों वा बुद्धिमानों में अपकीर्त्ति ही होती है और मूर्ख समझे जाते हैं निराश्रय अर्थ भी करे तो विद्वान् लोग जिस को अच्छा समझें परस्पर विरुद्ध न हो वही ठीक है ॥

गौरीशङ्कर फर्रुखाबादी के विद्या की परीक्षा

विदित हो कि गौरीशङ्कर फर्रुखाबादी जी ने जो एक विज्ञापन प्रकाशित किया है और उसमें वह आक्षेप किया है कि (विविधानि च रत्नानि विविक्तेषूप पादयेत्) यह अर्द्ध श्लोक जो स्वामी जी ने अपने सत्यार्थप्रकाश पृ० १३३ प० २० व २१ में मनु० का लिखा बतलाया है सो यह मनुस्मृति का नहीं है किन्तु दयानन्द ने अपनी मन गढ़न्त से लिखा है । यदि दयानन्दी दयानन्द को सच्चा जानते हैं तो मनु० में उस श्लोक को दिखलावें कि कहां लिखा है यदि मनुस्मृति में वह श्लोक होवेगा तो हम उपदेश त्याग करने का प्रण करते हैं वरन सकल धर्म्मसभाओं का उपदेश त्याग करा देंगे—यदि मनुस्मृति में वह श्लोक न निकला तो दयानन्दियों को भी समाज त्यागना होगा—बस इसी पर सत्यासत्य-निर्णय जयपराजय है इत्यादि ।

(समीक्षा) हकीम गौरीशङ्कर जी ! यदि आप को कुछ भी अपनी प्रतिज्ञा का ध्यान है तो उस को पूर्ण कीजिये हम आप को मनुस्मृति में ही उक्त श्लोक दिखलाये देते हैं अन्यथा पूर्व श्लोकोक्त पदवी के भागी हूजिये । देखो मनुस्मृति अ० ११ श्लोक ६

धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत् ।
वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते ॥

यदि इस पर आप अपनी द्वेषबुद्धि से यह आक्षेप करें कि स्वामी जी ने इस श्लोक के एक शब्द को क्रमानुसार क्यों नहीं लिखा—इस का उत्तर यह है कि

यह पाठान्तर है अर्थात् इस श्लोक का दो प्रकार का पाठ है जिस का पाठ स्वामी जी ने लिखा उस में ऐसा पाठ था:—

विविधानि च रत्नानि विविक्तेषूपपादयेत्।
वेदवित्सु च विप्रेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते ॥१॥

और कहीं पुस्तकों में ऐसा पाठ है कि जैसा पूर्व लिखा गया है। यह पाठान्तर होने की रीति किसी एक पुस्तक में नहीं किन्तु वेदों तक में अनेक प्रकार के पुस्तक इकट्ठे करने पर मिलता है इस को संस्कृत के सभी विद्वान् लोग जानते हैं। यदि गौरीशंकर ने विद्वानों का संग भी किया होता वा ऐसे पुस्तक देखे होते जिन छपे आदि में भी प्रायः लिखा होता है कि (इति पाठान्तरम्) तो कभी ऐसी ऊटपटांग शंका न करते यद्यपि पाठान्तर के उदाहरण देने की इस लिये आवश्यकता नहीं कि प्रायः पुस्तकों में पाठान्तर मिलता और सब विद्वान् जानते हैं तो भी कुछ उदाहरण सर्वसाधारण के ज्ञानार्थ लिख देता हूं। कठोपनिषद् में (क्वधःस्यःप्रजानन्) पाठान्तर (क्व तदास्यःप्रजानन्) स्वामी शङ्कराचार्य जी ने भी इस को पाठान्तर लिखा है। तथा (स्वकृतस्य लोके। सुकृतस्य लोके) यह भी कठ में ही पाठान्तर है। तथा महाभारत में—(श्रुतिर्विभिन्नास्मृतयो विभिन्नाः) पाठान्तर (तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः) तृतीय पाठान्तर (तर्कोऽप्रतिष्ठः स्मृतयो विभिन्नाः) इसी प्रकार (आत्मा नदी भारत पुण्यतीर्था) इस श्लोक का भी कई प्रकार का पाठ है ॥

यदि शंका करें कि इस का पाठान्तर प्रसिद्ध नहीं तो उत्तर यह है कि सब पाठान्तर क्या तुमने देखे हैं वा कहीं लिखे हैं कहीं २ कई पुस्तक किसी विद्वान् ने देखे तो पाठान्तर लिख दिया नहीं तो अनेक पाठान्तर हैं जिन को किसी ने कहीं नहीं लिखा इसी प्रकार यह मनु में भी पाठान्तर है यदि लिखे अनेक पुस्तक इकट्ठे किये जावें तो प्रत्यक्ष निश्चय भी हो सकता है ॥

अब यह शंका और कोई कर सकता है कि पाठान्तर किस कारण हो जाता है और कौन करता है। इस का उत्तर यह है कि पण्डितों की बुद्धि भेद से होता और ग्रन्थकर्त्ता के पीछे लेखक दोष से वा किसी विद्वान् को किसी श्लोकादि का कुछ भाग कण्ठस्थ है तो शेष तदनुकूल तत्काल पद जुड़गये और

लिख दिया और कहीं आशय मात्र ज्ञात है उसी आशय पर पद्योजना होगई निश्चय भी होगया कि यह वचन ऐसा ही है वह कहीं लिख गया अन्य लोगों ने किसी किसी पुस्तक में उसी के अनुसार पाठ बना दिया । पर जिस पाठान्तर में शब्द भेदमात्र होता और अभिप्राय में कुछ विरोध नहीं आता वह हानिकारक नहीं और जिस पाठान्तर से शास्त्र के सिद्धान्त में विरोध पड़ता है वह अज्ञानता वा धूर्त्तता से किया माना जाता है। पाठान्तर होने से मनु का श्लोक सिद्ध होगया ।

यदि कोई आग्रह करे कि हम पाठान्तर नहीं मानते तो उत्तर यह है कि इस में सिवाय शब्दभेद के अर्थभेद किञ्चित् भी नहीं है और तात्पर्य्य केवल आशय से ही होता है दूसरे यह भी नियम है कि विद्वान् लोग जब किसी विषय के प्रमाण में किसी श्लोक वा सूत्र को लिखते हैं तो वह उस श्लोक वा सूत्र के उन ही शब्दों को लिखते हैं जिन का कि सम्बन्ध कथनीय विषय से होता है स्वामी जी को इस विषय में यही कहना था कि संन्यासियों को धनादि पदार्थ देने चाहिये सो उन्हों ने मन्वाशयानुकूल (विविधानि च रत्नानि विविक्तेषूपपादयेत्) लिखा तीसरे ग्रन्थकर्त्ताओं को लाघव भी अपेक्षित होता है प्रसिद्ध है कि वैयाकरण एकमात्रा के लाघव को भी पुत्र जन्म के समान मानते हैं । इसी नियम के अनुसार स्वामी जी महाराज ने श्लोकस्य आशय को अर्द्ध श्लोक में ही पूर्ण किया । यदि आप यह कहें कि श्लोक में तो धनानि शब्द है । स्वामी जी ने (विविधानि च रत्नानि) कहां से और क्योंकर लिया तो इस का समाधान यह है कि धन शब्द सामान्य वाचक है और रत्न सर्वोत्तम धन का नाम है सो सर्वोत्तम धन संन्यासी को देवे कि जिस से परीक्षा हो जो उन रत्नों सम्बन्धी हर्ष शोक में न फसे किन्तु धर्मसम्बन्धी कार्यों में लगा दे तो पूरा संन्यासी समझा जाय । और यदि आप कहें कि धनानि इस एक शब्द के स्थान में (विविधानि च रत्नानि) तीन शब्द क्यों लिखे ? धनानि शब्द ही क्यों नहीं रहने दिया तो इस का उत्तर यह है कि पादपूर्त्ति के अर्थ अर्थात् स्वामी जी के प्रथम के दो पादों में से धनानि और प्रतिपादयेत् दो शब्द प्रकरण सम्बन्धी मिले और तीसरे पाद में केवल विविक्तेषु परन्तु इन तीनों शब्दों से तो श्लोक का एकपाद तो बन ही नहीं सक्ता था और दो पाद भी जब तक धनानि शब्द के स्थान में (विविधानि च रत्नानि) इन शब्दों को (जिन का कि अर्थ वही है जो धनानि

का) न रक्खा जाता तब तक किसी प्रकार नहीं बन सक्ते थे । अब यदि आप यह आक्षेप करें कि स्वामी जी लिखित दोनों पदों में विप्र शब्द तो आया ही नहीं—तो इस का उत्तर यह है कि विप्र ही विविक्त संन्यासी हो सक्ता है सिवाय ब्राह्मण के और किसी को संन्यास का अधिकार ही नहीं गौरीशङ्कर जी अब ज़रा आग्रह को छोड़ कर विचारिये कि स्वामी जी का लिखना मनूक्त आशयानुकूल है या प्रतिकूल । अब आप एक आक्षेप और करेंगे कि विविक्त शब्द का अर्थ संन्यासी क्योंकर हुआ यह शब्द तो गृहस्थ का वाचक है और विप्र शब्द का विशेषण है अर्थात् गृहस्थ विप्र को धनादि पदार्थ देना । इस आप के भ्रम को हम आप ही के माननीय ग्रन्थों से मिटाते हैं—अमरकोष द्वितीयकाण्ड क्षत्रिय वर्ग के २२ श्लोक को देखिये कि वहां यह शब्द किस अर्थ में वर्त्तमान है ॥

विविक्तविजनच्छन्ननिःशलाकास्तथा रहः । रहश्चोपांशु चालिङ्गे ॥

पुनः अमर कोष तृतीयकाण्डनानार्थवर्ग के ८२ श्लोक को देखिये कि वहां पर भी इस का क्या अर्थ लिया गया है (विविक्तौ पूतविजनौ) क्या इन दोनों स्थानों पर विजनादि शब्दों से जो विविक्त के पर्य्यायवाची हैं सिवाय विरक्त संन्यासी के गृहस्थ का अर्थ कोई ले सक्ता है ? कदापि नहीं और देखो हेमकोष में भी गृहस्थ का अर्थ इस शब्द से नहीं लिया गया—(विविक्तं स्यादसंपृक्ते रहःपूतविवेकिषु)—क्या इन में कोई शब्द भी ऐसा है कि जिस से गृहस्थ का अर्थ लिया जा सक्ता यदि है तो गौरीशङ्कर जी या और कोई उन के अनुयायी बतलावैं या दिखलावें अन्यथा अपनी प्रतिज्ञानुसार धर्मसभा को त्याग देवें । इत्यलम् ॥

पादरी विलियम साहब का आक्षेप ॥

मेरा विचार पहिले से यह है कि हम अपने अन्तरंग बहिरंग कर्त्तव्यों पर ध्यान देवें तो सर्वतंत्र सिद्धान्त के अनुकूल हम को अन्तरंग कार्य पहिले करने चाहिये और अन्तरंगों के सिद्ध होने पश्चात् बहिरंगों पर ध्यान दिया जावे । हम वेदमतानुयायियों के परस्पर अवान्तर मतविरोधों का हटना उस पर वाद विवाद कर कुछ सार निकालें जो वेदानुकूल हो उसी वेदोक्त मार्ग पर सब एक बुद्धि कर लें इस के लिये जो २ उपाय किये जावें वा किये जाते हैं वे सब अन्तरंग हैं उन अन्तरंग कार्यों के सिद्ध करने को बहुत परिश्रम और समय की

आवश्यकता है किन्तु एक दो दिन का काम नहीं है। यह भी सर्वसम्मत सिद्ध है कि जो पुरुष अन्तरंग कार्यों को सफल नहीं कर चुका उस को बहिरंग पर दृष्टि देने से कुछ लाभ नहीं हो सकता जैसे जो मनुष्य आप रोगी है वह अन्य को क्या नीरोग करेगा। जो स्वयं स्वस्थ नहीं उस से अन्य स्वस्थ कदापि नहीं हो सकता इत्यादि विचारानुसार द्वीपान्तरसम्बन्धी मतों के साथ वाद विवाद कर एकता की चेष्टा करना कि इन का हमारा मत वा बुद्धि मिल जावे यह बहिरंग है अन्तरंग किये बिना इस का होना असम्भव है इसी लिये मैं ईसाई वा महुम्मदी लोगों के साथ कुछ विवाद चलाने की उपेक्षा वा उदासीनता करता रहा तथा करता हूं। परन्तु पादरी विलियम साहब ने (नूर अपशां लुधियाना) नामक उर्दू के समाचार पत्र में स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज के ऊपर एक लेख छपाया है उस पर कई मित्रों के अनुरोध से समालोचना करना आवश्यक समझा इस लिये कुछ संक्षेप से लिखता हूं। पादरी साहब के उर्दू लेख का सारांश अनुवाद नागरी में प्रथम लिखता हूं सब के अनुवाद में विस्तार हो जायगा।

पादरी वि०—सत्यार्थप्रकाश के ११८ पृष्ठ में पं० दयानन्द साहब स्वयं प्रश्न कर उत्तर भी देते हैं कि एक पति जीवित हो वा मर भी जावे और उस से सन्तानोत्पत्ति न हो तो उस के वर्त्तमान में ही स्त्री दूसरे पुरुष से भोग करे। और जैसा उस ने पहिले कहा है कि यह बात मनु के शास्त्र में है सोई नहीं किन्तु आश्चर्य यह है कि उस ने ऋग्वेद मण्डल १० सू० १० मं० १० का प्रमाण दिया है ॥

मेरा यह प्रयोजन नहीं है कि ऋग्वेद में कोई निन्दित बात नहीं है उस में है तो सही, और मैं अच्छी तरह दिखला भी सकता हूं पर यह बात केवल आ०स० स्थापक पं० दयानन्द ही पर छोड़ा गया था कि ऋग्वेद में जो अतीव बेशरमी (निर्लज्जता) की निन्दित शिक्षा है उस को वह स्वयं प्रकाशित करें ॥

मैं यह नहीं कहता कि दयानन्दियों से पहिले हिन्दुओं में यह बात नहीं थी किन्तु सैकड़ों वर्षों से इस काम की परिपाटी चली आई है इसी तरह का कृत्य प्रयाग के पांडे ब्राह्मणों में हुआ है परन्तु मैं यह कहना चाहता हूं कि इस अनोखी शिक्षा का प्रभाव हिन्दुओं के इतिहास में ऋग्वेद पर नियत किया गया है। और वेद में इस शिक्षा के होने का यश पं० दयानन्द से सम्बन्ध रखता है सो यह उस का एक बड़ा प्रत्यक्ष झूंठ है कोई मनुष्य क्या विचारे गा कि

दयानन्द कैसा आदमी था जो ऋग्वेद में ऐसी निषिद्ध निन्दनीय घृणास्पद शिक्षा दिखलाई है । और यों निर्दयता से उस को कीचड़ में घसीटा है । इस प्रसंग में सब हिन्दुओं के तुल्य दयानन्द जानता भी था कि ऋग्वेद १० । १० । १० में यम अपनी सहोदर भगिनी से वार्त्तालाप करता है तो भी छिपा कर (व्यभिचार-फैलाने के लिये) महाभूंठ बोला कि पुरुष अपनी स्त्री से कहता है कि किसी विवाहित पुरुष से जाकर भोग कर । इस में निरुक्तकार यास्कमुनि मं० १४ के भावार्थ में जिस को पं० दयानन्द भी माननीय कहते हैं लिखता है (यमी यमं-चकमे तां प्रत्याचचक्ष) यम की सगी बहन यमी अपने भाई से भोग करना चाहती थी उस को यम ने मने किया कि यह पाप है इसी प्रकार सब १४ मन्त्रों में यम यमी का संवाद पादरी साहब ने दिखाया है । मैं इस बात की प्रतिज्ञा कर कहता हूं कि पं० दयानन्द साहब ने जान बूझकर वेद पर भूंठ लगाया और वह वेद का एक भयानक शत्रु था ॥

उत्तर—यद्यपि पादरी साहब के आशय को मैं बहुत संक्षेप से लिखना चाहता था तो भी यह विचार के कि कदाचित् सर्वसाधारण मनुष्य पादरी साहब के आक्षेप का आशय न समझ पावें इस भय से कुछ बढ़ाना ही पड़ा यदि उन का पूर्णानुवाद किया जाता तो तिगुनी वा चौगुनी इवारत बढ़ जाती । अब मैं उत्तर देने के लिये उन का आशय बहुत संक्षेप से अनुवाद करता हूं :—

स्वा० दयानन्द सरस्वती जी ने ऋग्वेद से स्त्री को पति के वर्त्तमान में भी अन्य पुरुष के साथ वयभिचार करने की आज्ञा दिखलाई सो यद्यपि ऋगादि वेदों में ऐसी ही निन्दित बातें भरी हैं तो भी जिस सूक्त वा मन्त्र से स्वामी जी ने नियोग सिद्ध किया उस में भगिनी अपने भाई को पति बनाती थी इस बात (जो नियोग से भी निन्दित काम है) का संवाद कहा गया इस लिये स्वामी जी का लिखना महाभूंठ और घृणा के योग्य है वेद तो वैसे भी निन्दित महा-निन्दित बातों से भरे हैं ॥

अब सज्जन लोगों को इधर ध्यान देना चाहिये कि पादरी साहब की बुद्धि कैसी है । इस प्रसंग में मुझे दो बातें लिखनी हैं कि नियोग क्या वस्तु है और द्वितीय उस ऋग्वेद १० मण्डल के सूक्त १० का क्या अभिप्राय है । आज कल अङ्ग-रेज जाति के मत वा वर्त्ताव पर ध्यान दिया जावे तो विवाहप्रसङ्ग कुछ आर्यों से अधिक उत्तम परिपाटी का नहीं । हां किसी अंश में उन का वर्त्ताव अच्छा

हो तो बहुत विषय में आर्यों का उस से अच्छा है इस पर विवाद करने की आवश्यकता नहीं अब देखिये विवाह क्या है ?, क्या इस में अपनी २ कन्या बहिनें अन्य२ पुरुषों को नहीं सौंपी जाती हैं ? क्या माता पिता भाई आदि का यह प्रयोजन नहीं होता ? कि इन दोनों का परस्पर सुख भोग हो दोनों मिल कर सृष्टि को पैदा करें अर्थात् पुत्रादि को प्रीतिपूर्वक गर्भाधानादि कर उत्पन्न करें वास्तव में यही प्रयोजन होता है और इस में अधिक पण्डिताई की आवश्यकता नहीं ग्रामीण पुरुष भी यदि जान लें कि अमुक पुरुष नपुंसक है तो कभी अपनी कन्या वा भगिनी का विवाह उस के साथ न होने देवें। सो यह पृथिवी भर के मनुष्यमात्र में चाल चल रही है कि पिता माता भाई आदि के वर्त्तमान जानकार में ही उन की कन्या वा भगिनी आदि अन्य पुरुष (जो पति ठहराया गया) से मैथुन करती कराती हैं क्या यह निन्दित वा घृणा योग्य काम नहीं है ? यदि है तो पादरी साहबों को अत्यन्त उचित है कि अपने जानते देखते ही अपनी कन्या या बहिनों को अन्य पुरुष के पास न जाने दें न किसी से विवाह करने देवें। सो तो इन के वश में नहीं आर्यों की निन्दा करने में कुछ कठिनता नहीं मेजकुर्शी पर कलम दवाइत तैयार धरी है चाहा सो झट लिख मारा ॥

यदि कहें कि कुमारी कन्याओं का तो अन्य के साथ विवाह किये विना संसार का काम नहीं चलता पर जिन का विवाह होगया और पति के निकम्मे होने पर स्त्री उस का निरादर कर अन्य पुरुष से नियोग करे यह निन्दित काम है। हम कहते हैं कि पादरी साहब ! आप कुछ समझते तो अवश्य होंगे पर जान बूझ कर मिथ्यापवाद देते हैं तो क्या कहें। हम पूछते हैं कि स्वामी द० जी ने जो२ सत्यार्थप्रकाश में लिखा है उस को पूर्वापर अच्छे प्रकार आप देखते तो कदापि ऐसा लिखने का साहस न करते। प्रथम तो कन्या वा स्त्री को सर्वदा स्वतन्त्रता है कि उस की इच्छा हो तो विवाह वा नियोग हो सकता है न चाहे तो जन्मभर तपस्विनी ब्रह्मचारिणी रहे तथा पति के मर जाने पर वा निकम्मे हो जाने पर कोई सन्तान न हो और वह सन्तान का होना आवश्यक समझे और अन्य सम्बन्धी समीपवर्त्ती सज्जन लोग भी उस के लिये सन्तान की आवश्यकता समझते हों तो जैसे अनेक लोग मङ्गलाचरणपूर्वक स्त्री पुरुष का विवाह नियत कर देते हैं कि आज से इन२ स्त्री पुरुषों का विवाह हुआ। तब से आगे

उन का संयोग सम्बन्ध व्यभिचार वा निन्दित काम नहीं माना जाता इसी प्रकार नियोग अनेक भद्र पुरुषों के सामने मङ्गलाचरणपूर्वक सभा से नियत होता है उस में भी कोई दोष नहीं माना जा सकता। जिन मनुष्यों के चित्त ही दूषित हैं उन को गुण भी दोषरूप दीखते हैं। यदि कहें कि पति के वर्त्तमान में अन्य पुरुष से स्त्री नियोग करे यह हमारे यहां नहीं होता इस से हम निन्दित समझते हैं। हम कहते हैं कि आर्यों में तो पति के निकम्मे होने पर और सन्तान की विशेष आवश्यकता में नियोग का विधान है परन्तु अङ्गरेजों में तो पति के हृष्ट पुष्ट बैठे पर ही सैकड़ों मेमसाहबा दूसरे कमरे में अन्य दोस्त साहबों से नियोग करती हैं। पति को इतना भी अधिकार नहीं कि वे मेमसाहबा के कमरे में झांक सकें वा पूछ सकें कि अमुक पुरुष से आप की कैसी दोस्ती है किन्तु साहब अपने कमरे में चुपचाप बैठे २ ताका करते हैं। हम आर्य लोग इस को अत्यन्त वा महानीच निन्दित काम समझते हैं कि स्त्री एकान्त में अन्य पुरुष से वार्त्तालाप करे। यदि कहें कि हमारे यहां की चाल है उस में बुराई नहीं तो यही समझ कर नियोग को भी क्यों नहीं आर्यों की चाल समझ लो। स्त्री पुरुष का एकान्त वास होना पूर्ण अनुमान कराता है कि इन की गट्ट पट्ट होगी पीछे अनेक जगह प्रसिद्ध भी हो जाता है इसलिये यदि नियोगरूप उत्तम वैदिक परिपाटी को ये निन्दित कहें तो इन के यहां इस से महानिकृष्ट पशुवृत्ति वर्त्तमान है नियोग में कोई बुराई इस लिये नहीं कि वह विवाह के तुल्य ही नियत किया जाता है भेद केवल इतना है कि विवाह सब दिन के लिये होता और इस की अवधि हो जाती है विवाह कुमार कुमारियों का होता है नियोग आपत्काल में विधवा तथा मृतस्त्रीक पुरुषों का होता है जैसे विवाह घृणित वा निन्दित काम वास्तव में नहीं माना जाता वैसे नियोग भी निन्दित नहीं है और न मानना चाहिये। स्त्री पुरुष का संयोग होना एक स्वाभाविक कर्म इस लिये है कि इसी से आगे २ सृष्टि क्रम चल रहा है सो यह प्राणीमात्र में ही नहीं किन्तु जड़ वस्तुओं में भी यही स्वभाव है कि जब स्त्रीपुरुषरूप दो पदार्थों का संयोग होता है तभी उस से तीसरे पदार्थान्तर की उत्पत्ति होती है जैसे अन्नादि बीजरूप पुरुष का पृथिवीरूप स्त्री से ऋतुसमय में संयोग होने से अङ्कुर उत्पन्न होता है। यह सृष्टिक्रम किसी के रोकने से रुक भी नहीं सकता। यदि विवाह वा नियोग की मर्यादा शास्त्रकार न बांधते तो किसी के साथ किसी का नियम नहीं

रहता सब के साथ सब का संयोग होने लगता तो योग्य अयोग्य अर्थात् ऊंच नीच के मेल से उत्पन्न प्रजा बिगड़ जाती किसी की किसी के साथ दृढ़ प्रीति न ठहर सकने से किसी को सुख भी न होता इत्यादि सुधार के लिये तथा अनियत कामों से होने वाले नियत दुःखों को हटाने के लिये विवाह के नियम (कानून) बनाये गये । जब एक प्रकार के नियम बांधे जाते हैं और किसी अवसर पर वे नियम यथावत् उपयोगी नहीं होते तब किसी विशेषदशा में पड़ने वाले कष्ट के निवारणार्थ कोई अन्य नियम उस विषय में करने पड़ता है यह नियम सब प्राणियों में एकरूप से वर्त्तमान रहता है ॥

इसी नियम के अनुसार विवाह हुए पश्चात् यदि पुरुष वा स्त्री मरजावे अवस्था तरुण हो तथा कोई पुत्रादि न हुआ हो वा होकर न रहा हो तो नियोगरूप नियम की आवश्यकता है। जिस फल वा प्रयोजन के लिये कोई काम किया जाता है उस से वह फल वा प्रयोजन सिद्ध न हो तो फलाकाङ्क्षी के लिये फिर कोई उपाय बतलाना यह सब विचारशीलों के सम्मत है अँगरेज लोग तो इस कर्त्तव्य में पूर्ण रीति से तत्पर हैं फिर पादरी साहब की बुद्धि की हम क्या प्रशंसा करें ? ॥

जब मैथुन एक स्वाभाविक सृष्टि का नियम है तो विवाह करने से यदि बीच तरुणावस्था में स्त्री वा पुरुष के मरजाने वा निकम्मे होजाने पर कोई नियम न बांधा जाय तो भी वह रुक नहीं सकता किन्तु विना नियम के अयोग्यों से संयोग होता है वा होगा उस से सैकड़ों दुःख भोगने पड़ते हैं गर्भपातादि किये कराये जाते हैं इस लिये आपत्काल में निर्वाह करने के लिये नियोग रूप नियम बहुत उत्तम है नियत काम के करने में कर्त्ता को लज्जा शङ्का भय नहीं होते नियम विरुद्ध करने में आत्मा को सदा भय लगा रहता है इस लिये नियम करना सर्वोत्तम है । विचार कर देखिये तो यह नियोग की चाल सब मनुष्यों में होनी चाहिये जिस समुदाय में न हो वहां यही न्यूनता है। देखो मनु महाराज भी यही कहते हैं:—

प्रजानार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थं च मानवाः। तस्मात्साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः ॥ अ० ९

परमेश्वर ने संसार में मनुष्य सृष्टि के दो भेद किये हैं एक स्त्री दूसरा पुरुष । स्त्री प्रजा को उत्पन्न करने में उपादान और पुरुष निमित्तकारण हो इसी लिये दो कामों के लिये दो भेद किये हैं कि बीजरूप पुरुष खेतरूप स्त्री में सृष्टि उत्पन्न करे। इस लिये स्त्री पुरुष का साधारण धर्म चलना फिरना आदि भी वेद में साथ ही कहा है कि सब समय ये दोनों एक साथ रहैं सब काम मिल के करें इस जोड़े का वियोग होना अच्छा नहीं ॥

यदि विरक्त वा नपुंसकत्वादि दोष रहित पुरुष तथा परिव्राजिका वा अन्य असाध्य रोग ग्रस्त स्त्री हो तो इन का स्त्री वा पुरुष के साथ संयोग न होने से संसार का नियम नहीं टूट सकता वे तो स्वयमेव पृथक् २ होंगे ॥

अब पाठक लोग यह कहेंगे कि सम्पादक ने छोटी सी बात पर इतना लिख मारा इस से क्या सिद्ध हुआ ? इस लिये उपसंहार में तात्पर्य दिखाता हूं कि पादरी साहब का आशय था कि यह नियोग निन्दित काम लज्जा का स्थान है इस पर मेरा विचार है कि यदि नियोग निन्दित है तो विवाह उस से भी निन्दित होना चाहिये और ऐसा हो तो पादरी साहबों को अपनी पुत्री वा भगिनियों का किसी के साथ विवाह न होने देना चाहिये । और जब अनेक विचारों से सिद्ध हुआ कि विवाह के तुल्य नियोग अच्छा काम है तो स्वामी जी महाराज का कहना और वेद की आज्ञा दोनों निष्कलंक रहीं ॥

अब द्वितीय वार्ता यह रही कि उस सूक्त में यम यमी का सम्वाद है किन्तु स्वामी जी का अर्थ करना मिथ्या है । इस बात को हम भी मानते हैं कि मण्डल १० के सू० १० में यमयमी का वर्णन है परन्तु यमयमी कौन थे यह विचार शेष रहा। जो मनुष्य सर्वथा दूसरों के पीछे चलता है और उस को स्वयं अच्छा बुरा कुछ नहीं दीखता वह कैसे ही गढ़े में गिरे कुछ असम्भव नहीं है। पादरी साहब अभी यही नहीं जानते कि संस्कृत विद्या का द्वारा कौन है जहां से उस दुर्ग में घुस सकते हैं सो घुसना तो दूर रहा उस का दरवाजा तक नहीं जानते। मैं ने इस सूक्त का सायणाचार्य कृत भाष्य देखा उस में वैसा ही अर्थ किया गया है कि जैसा पादरी साहब ने लिखा है । सो हम पहिले सायणाचार्य का अर्थ करना असत्य प्रमादयुक्त ठहराते हैं इसी से पादरी साहब का स्वयं खण्डन हो जायगा । प्रथम तो सज्जन लोगों तथा विद्वानों को विशेष कर इधर ध्यान देना चाहिये कि जब पुंलिङ्ग शब्द से स्त्रीलिङ्ग बनाया जाता है तब प्रायः वह

शब्द ईकारान्त हो जाता है तथा कहीं २ आकारान्त भी होता है जैसे ब्राह्मण पुरुष ब्राह्मणी स्त्री मयूर पुरुष मयूरी स्त्री इत्यादि इस में पाणिनीय व्याकरण के अनुसार दो अर्थों का नियम है एक सामान्य जाति समुदाय जैसे ब्राह्मण एक जाति वाची शब्द है वैसे ही ब्राह्मणी भी है और द्वितीय पुंयोग में प्रयोग होता है जैसे गवय की स्त्री गवयी रजक की स्त्री रजकी इत्यादि यह संस्कृत व्याकरण का नियम है अन्य भाषाओं में भी ऐसा ही होना सम्भव है क्योंकि अन्य भाषाओं के व्याकरण संस्कृत व्याकरण से पीछे बने हैं इसी नियम के अनुसार यम की स्त्री यमी हो सकती है किन्तु यम की बहन यमी कदापि नहीं कही जायगी जब यम की भगिनी यमी कहावे यह संस्कृत के नियम से ही विरुद्ध निकलता है तो विना नींव के भित्ति उठाना मात्र पादरी साहब का उद्योग ठहरा । कदाचित् कहैं कि जाति वाचक यम शब्द को मानें गे तो भी यमी एक प्रकार की सामान्य स्त्रियों का नाम होगा किन्तु यम की भगिनी किसी निज स्त्री का ग्रहण होना दुर्लभ है यदि पादरी साहब को अपना आक्षेप सत्य ठहराना हो तो व्याकरण के नियम से सिद्ध कर दें कि यम की भगिनी यमी इस प्रकार कही जा सकती है । यदि सायणाचार्य जी के ऊपर डालें तो हमारे दोनों प्रतिपक्षी हैं परन्तु उन में पादरी साहब विद्यमान हैं अपनी प्रतिज्ञा को सिद्ध करना पादरी साहब का काम है । अन्यथा मिथ्यावादी होकर क्षमा मांगे । मुझे अब तक अनुमान था कि पादरी लोग भेड़ियाधसान में नहीं चलते होंगे पर वह अनुमान ठीक नहीं । इन लोगों का मुख्य अभिप्राय है कि जिन २ बातों से वेद की निन्दा हो वे भले ही मिथ्या हों उन का प्रचार करना चाहिये । सत्यासत्य का खोज करने की ओर कुछ ध्यान नहीं ॥

इस में सन्देह नहीं कि यम नाम उन दो बालकों का भी हो सकता है जो एक साथ गर्भ से उत्पन्न हों गर्भ में इकट्ठे रहैं परन्तु उन सामान्य पुत्रों को यम और कन्याओं को यमी जाती वाची से स्त्री प्रत्यय करके कह सकते हैं किन्तु उन की निज भगिनी का यमी नाम कदापि सिद्ध नहीं होता ॥

अब पादरी साहब ने जो निरुक्तकार की साक्षिता दी कि (यमी यमं चकमे स तां प्रत्याचचक्ष) यह प्रमाण निरुक्त में नहीं जहां तक बना खोजकर भी देखा पादरीसाहब ने जो पता लिखा है वहां तो है ही नहीं सायणाचार्य ने भी यह प्रमाण अपने भाष्य में नहीं लिखा इस से भी अनुमान होता है कि निरुक्त में

नहीं कदाचित् हो तो पादरी साहब को दिखाने का भार अपने पर समझना चाहिये। पा० सा० ने यह प्रमाण किसी को देख कर भेड़ियाधसान से लिखा वा मनगढ़त से लिखा हो।

और कदाचित् कोई ठिकाना अध्याय आदि के लिखने में ही भूल गये हों और किसी अन्यस्थल में निकले भी तो उस से पादरी साहब का पक्ष भी सिद्ध नहीं होता क्योंकि यमी नियोग करने वाली स्त्री नियोग के योग्य पुरुष को चाहती थी उस पुरुष ने नियोग करना स्वीकार नहीं किया यह निरुक्त का अभिप्राय हो सकता है इस से भी भाई वहन का संवाद सिद्ध नहीं होता ॥

अब देखिये कि स्वामी जी महाराज ने नियोग की आज्ञा प्रसंग में यह मंत्र वेद का लिखा है:-

आघाता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि। उपबर्वृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥ ऋ० १०। १० १०

इस मन्त्र में जो जामिशब्द है उस का अर्थ अमरकोश वाले ने (जामिः-स्वसृ कुलस्त्रियोः) लिखा है कि जामि वहन और कुलबधू का नाम है सो जब यमी भगिनी का नाम नहीं हो सकता तो उसी का विशेषण होने से यहां भगिनी वाचक जामि शब्द नहीं लिया जा सकता किन्तु कुलवधू का नाम लिया जा सकता है। इस मन्त्र पर निरुक्तकार ने भी लिखा है कि ऐसे समय आवें गे जब कुलस्त्रियां अपने स्त्रीधर्म से विरुद्ध व्यभिचारादि कर्म करें गीं उन समयों में धर्मभ्रष्ट न हों अर्थात् अतिनीच वा निषिद्ध अयोग्य के साथ संयोग कर कुलों को न बिगाड़ें इस लिये नियोग की आज्ञा दी है कि हे सौभाग्य चाहने वाली स्त्री तू सन्तानोत्पत्ति करने में समर्थ अन्य पुरुष के बाहु को ग्रहण कर ॥

इस मन्त्र में यह स्पष्ट कहा है कि (अन्यं पतिमिच्छस्व) अन्य पति की इच्छा कर यदि उस का पहिले कोई पति नहीं हुआ तो यह कहना नहीं बन सकता कि अन्य पति की चाहना कर क्योंकि अन्य शब्दार्थ किसी सजातीय की अपेक्षा अवश्य रखता है। जब एक पुत्र किसी कारण नहीं रहा तो पुत्र से होने वाली फल सिद्धि के लिये कह सकते हैं कि तू अन्य पुत्र की इच्छा कर किन्तु

यह कहना नहीं बन सकता कि पति के अभाव में अन्य पुत्र की इच्छा कर। इस से यह सिद्ध हुआ कि जिस को वेद द्वारा यह आज्ञा हुई कि तू अन्य पति की इच्छा कर उस का कोई प्रथम पति अवश्य रहा उस के देहान्त होने वा कार्यसाधक न होने से कहा गया कि तू अन्य की इच्छा कर। जैसे कि किसी की नौकरी छूट जावे वा उस में दुःख विशेष हो तो कहना बन सकता है कि तू अन्य नौकरी की इच्छा कर यदि उस ने कभी नौकरी ही न की हो तो (अन्य नौकरी की चाहना कर) यह कहना प्रमत्त प्रलाप मात्र होगा॥

इसी प्रकार सायणाचार्य वा पादरी विलियम साहब जब कहते हैं कि यमी नामिका स्त्री अपने भाई को पति बनाना चाहती थी किन्तु तब पर्यन्त उस यमी का कोई पति नहीं हुआ था तो यम की ओर से यह कहना कैसे बन सकता है कि तू अन्य पति की इच्छा कर। हां! यह कह सकते हैं कि तू किसी को पति बना वा पति की इच्छा कर। किन्तु अन्य शब्द का प्रयोग नहीं कर सकते॥

अब यह विचार शेष रहा कि इस सूक्त में यम यमी नाम से स्त्री पुरुषों का वर्णन क्यों किया गया?। मैं यहां इस विषय का विस्तार इसलिये होना अच्छा नहीं समझता कि सूक्त के प्रत्येक मन्त्र का अर्थ किया जाय तो बहुत बढ़ जायगा अन्य विषयों पर भी लिखना आवश्यक है उन के लिये अवकाश नहीं रहेगा इस लिये सब मन्त्रों का अर्थ नहीं करता किन्तु भावार्थ मात्र लिखता हूं॥

इस सूक्त में मुख्य कर नियोग का वर्णन है इसी लिये यम यमी नाम से वर्णन किया गया। नियोग नाम है नियम का लोक में भी नियुक्त तथा नियत शब्द एकार्थ ही हैं। नियम वा यम शब्द यम धातु से बनता है उस का यौगिकार्थ (नि) उपसर्ग के विना भी नियम करने वाला होता है किसी एक प्रकार का नियमानुसार वर्त्ताव करने वाला पुरुष यम और वैसा वर्त्ताव करने वाली स्त्री यमी कहाती है। इस में अन्य प्रकार के प्रतिज्ञात कार्य का नाम नहीं होता किन्तु विधवा विस्त्रीक स्त्री पुरुषों के सन्तानोत्पत्ति के लिये नियत वर्त्ताव का ही नाम नियोग पड़ता है यही योगरूढ़ होने का प्रयोजन है पर उस का प्रधानार्थ नियम रहता है उस नियोगरूप नियम के यथावत् पालने वाले स्त्री पुरुष यम यमी कहे जाते हैं इसलिये इन शब्दों से यहां वर्णन किया गया है। यदि कोई कहे कि भगिनी पक्ष की स्त्रियों से नियोग हो वा नहीं इसी शङ्का की निवृत्ति के लिये इस सूक्त के १२ मन्त्र में निषेध कर दिया कि (पापमाहुर्यः

स्वसारं निगच्छात्) जो भगिनी से नियोग करना है सो पाप है इस प्रकार के प्रसङ्ग से भगिनी नाम आया है पादरी साहब ने इस अभिप्राय को नहीं समझ के अन्धाधुन्ध लिख मारा कि यमी अपने भाई को पति बनाना चाहती थी। सो हय कथन बुद्धिमानों को त्याज्य है ॥

कोई लोग इस सूक्त में यम यमी शब्दों से दिन रात का वर्णन करते हैं सो दृष्टान्त की रीति से किया जाय तो ठीक है अथवा रूपकालङ्कार से माना जाय तो भी बन सकता है कि जैसे एक सूर्य से उत्पन्न हुए दिन रात परस्पर मिलते नहीं वैसे सृष्टिक्रमानुसार एक से उत्पन्न भाई बहन का विवाह और नियोग न होना चाहिये किन्तु भिन्न २ से उत्पन्न सन्तानों का विवाहादि सम्बन्ध हो सकता है। अर्थात् दिन रात के अलंकार से विवाह और नियोग के विषय में कर्त्तव्यता का उपदेश मानना चाहिये ॥

यजुर्वेद के ३० वें अध्याय का विचार ॥

इस अध्याय के मंत्रों से महीधरादि लोगों ने यह सिद्ध किया है कि ब्राह्मणादि जिन २ जीवों का नाम आया है उन २ को मार २ यज्ञ में बलिदान करने की आज्ञा वेद में है कि उन २ देवताओं के लिये उन २ जीवों को मार २ कर यज्ञ में होम करना चाहिये। बुद्धिमान् विचारशील धर्मात्मा लोग ऐसा सुन जान के वेद से महाघृणा करते हैं तथा जो लोग समझते नहीं कि वेद में क्या है उन की तो कुछ वार्त्ता ही नहीं परन्तु जिन को परमेश्वर ने बुद्धि विद्या दी है वे यदि भेड़ियाधसान में चलें तो बड़ी शोचनीय दशा है। अर्थात् जिन को विद्या बुद्धि है भी तो वे उस से ठीक२ काम नहीं ले सकते। तात्पर्य यह है कि वास्तव में वेद का अभिप्राय ही यह है कि सब जन्तुओं को मार २ यज्ञ में चढ़ावें वा उन टीकाकारों का दोष है जो वेद का आशय नहीं समझे इस का आन्दोलन यथार्थ करने को कोई प्रवृत्त नहीं होता आलस्य वा प्रमाद की मूर्त्ति ही बन रहे हैं। यह तो आर्यावर्त्तवासियों की दशा रही अब रहे ईसाई लोग सो यद्यपि विद्या बुद्धि के आश्रय से चलते हैं तो भी मतसम्बन्धी विषय जब समक्ष आता है तो अपने निर्मूल आधुनिक मत की धांगें वा नास्तिक पक्ष का आश्रय लेवें इस से भिन्न तीसरा मार्ग नहीं है ॥

इन दो चालों को छोड़ कदापि किसी मत की अच्छी बात न कहेंगे तिस में वेद मत के तो ये महानिन्दक हैं इस का कारण यह है कि वेद की प्रशंसा प्रतिष्ठा भूगोल भर में सर्वोपरि है। ईसाई लोग भी कभी २ साधारण लोगों को बहकाने के लिये बाइबिल को वेद कहने लगते हैं कि यह भी वेद है तो ऐसे प्रबल मत की यदि ईसाई लोग भी भलाई कर दें तो इन का मत स्वयं नीचा पड़जावे। इसी लिये झूंठी बातें निर्मूल बना २ कर वेद की बुराई पर ईसाई लोग भी कमर बांधते हैं कि हम वेदमत में घृणित निन्दित विषय दिखावें गे तो उस से घृणा ही कर जो लोग हटें गे उन को अपनी भलाई अपने मत की प्रशंसा दिखाकर अपनी ओर खींचें गे तो अपने मत की वृद्धि होगी इस आग्रह में फँस गये हैं इस लिये वेद के तत्त्व को ईसाई भी न जानते और न सत्यासत्य विवेचन की चेष्टा करते हैं केवल अपनी ही गाया करते हैं दूसरे की सुनते ही नहीं॥

हम कहते हैं कि वेद में बलिदान वा यज्ञ में पशु काटने की आज्ञा नहीं और न ऋषि लोगों की सम्मति है कि वेद में हिंसा करना कहा है। किन्तु वेद में हिंसा नहीं ऐसी अनेक सम्मति लिखी हैं तद्यथा देखो महाभारत शान्तिपर्व उत्तरार्द्ध मोक्षधर्म अ० ९२ में :-

सुरा मत्स्याः पशोर्मांसं द्विजादीनां बलिस्तथा ।
धूर्त्तैः प्रवर्त्तितं ह्येतन्नैतद्वेदेषु कथ्यते ॥

अर्थः-यज्ञ में मद्य, पशुओं का मांस वा ब्राह्मणादि वा पक्षि आदि का बलिदान धूर्त्त लोगों ने चलाया है किन्तु वेदों में यह नहीं कहा गया॥

जब ऐसे २ स्पष्ट वचन पुस्तकों में मिलते हैं तो किस विचारशील को शङ्का रह सकती है कि वेद में ऐसे निकृष्ट पाप कर्म का वर्णन हो इस विषय में कई बार लिखा गया तथा आगे लिखने पड़ेगा इस लिये यहां नहीं बढ़ाता॥

अब प्रस्तुत का विचार यह है कि यजुर्वेद के ३० अध्याय में क्या है? इस अध्याय के प्रथम ही मंत्र से सविता नामक परमेश्वर की प्रार्थना है इस लिये इन मंत्रों का देवता भी सवितृ नामी परमात्मा है इसी लिये अध्याय के आरम्भ में (देवसवितः) सम्बोधन पढ़ा है और पहिला त्रिष्टुप्छन्द है। २। ३। ४ ये तीनों गायत्री मंत्र हैं इन का भी सविता ही देवता है इन चारों मंत्रों में इस प्रकार की प्रार्थना है कि हे सब को उत्पन्न करने वाले जगत्स्वामिन् आप हमारे बीच

यज्ञ करने वाले सन्तानों को उत्पन्न करें उन की बुद्धि को वैदिक शुभ कर्मों में प्रेरित करें। हमारे सब अन्तःकरण के मलीनतारूप दोषों को दूर कर हम को स्वच्छ पवित्र कल्याण के भागी करें। सब को निवास देने वाले तथा जड़ चेतन वा सत्यासत्य का विभाग करने वाले तथा चित्र विचित्र धनादि पदार्थों के उत्पन्न करने वाले आप को हम बार२ पुकारते स्तुति प्रार्थना करते हैं कि आप हमारे बीच दुष्टता से प्राप्त होने (पेशआने) वाले प्राणियों को उत्पन्न न कीजिये वा दुःख देने वाले पदार्थों को न रचिये तथा उत्पन्न हुए दुःखदाइयों को हम से दूर कीजिये और सुख के हेतु पदार्थों को हमारे लिये उत्पन्न कीजिये तात्पर्य यह है कि परमेश्वर के सृष्टि नियमानुसार प्रतिदिन जड़ चेतन सभी पदार्थ नवीन२ उत्पन्न हुआ करते हैं वे अच्छे२ हों और दुःख वा पाप के हेतु पदार्थ उत्पन्न ही न हों यदि हों तो वे सदा धर्मात्माओं से पृथक् रहें इस प्रकार इन चार मंत्रों में सामान्य विचार है॥

अब कौन२ प्राणी आदि पदार्थ किस२ अंश वा किस२ निमित्त हानि वा लाभकारी होता है उस को उसी अंश वा निमित्त के लिये उत्पन्न होने वा न होने के लिये प्रार्थना की जावे अर्थात् सुख वा लाभ के हेतु प्राणी आदि उत्पन्न हों और दुःख वा हानि के हेतु उत्पन्न न हों यह पहिले चार मंत्रों में सामान्य कथन है अब वे हानि वा लाभ के हेतु पदार्थ कौन२ हैं इस की विशेष व्याख्या पांचवें मन्त्र से लेकर अध्याय भर में की है। इस के साथ ही यह भी समझना चाहिये कि जिन पदार्थों के लिये हम जैसी प्रार्थना करें वैसा अपना कर्त्तव्य भी सुधारें। जब कहें कि वेद का पठन पाठन वा उस के सदुपदेश का प्रचार करने के लिये अर्थात् इस कार्य्य की सिद्धि करने वाले ब्राह्मण को उत्पन्न कीजिये तो हम को भी योग्य है कि ऐसे वेद पढ़ने योग्य ब्राह्मण सन्तान उत्पन्न करने की चेष्टा करें और उत्पन्न हुए सन्तानों को वेद पढ़ाने का उद्योग करें। अर्थात् जिस बात की प्रार्थना हम ईश्वर से करें उस का स्वयं भी प्रयत्न करें यदि हम को उस बात की चाहना है तो मानसिकवृत्ति के अनुसार हमारा कर्म भी वैसा ही होगा जैसी प्रार्थना हम करते हैं और यदि चाहना चित्त से नहीं तो मिथ्याप्रार्थना भी निष्फल है इस लिये ये अगले मंत्रों से ईश्वर की प्रार्थना और हम को वैसा उद्योग करना दोनों बातें निकलती हैं। अब पांचवें मंत्र से व्याख्या देखिये सुनिये:-

ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रं तमसे तस्करं नारकाय वीरहणं पाप्मने क्लीवमाक्रयायाऽअयोगूं कामाय पुंश्चलूमतिक्रुष्टाय मागधम् ॥ ५ ॥

ब्रह्मणे । ब्राह्मणम् । क्षत्राय । राजन्यम् । मरुद्भ्य इति मरुत्ऽभ्यः । वैश्यम् । तपसे । शूद्रम् । तमसे । तस्करम् । नारकाय । वीरहणम् । वीरहनमिति वीरऽहनम् । पाप्मने । क्लीवम् । आक्रयायाऽ इत्याऽऽक्रयायै । अयोगूम् । कामाय । पुंश्चलूम् । अतिक्रुष्टायेत्यतिऽक्रुष्टाय । मागधम् ॥ ५ ॥

पदार्थः—हे सर्वजगदुत्पादक जगदीश त्वम् (ब्रह्मणे) परमात्मनो जाताया वेदविद्यायाः प्रचाराय ज्ञानाय वा (ब्राह्मणम्) ब्राह्मणवर्णम् । अतएवोक्तं ब्राह्मणस्य निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति पतञ्जलिमुनिकृतमहाभाष्यपस्पशायाम् । अस्यां सृष्टौ स्वधर्मनिरतो ब्राह्मणः स्यादित्याशयः। वेदाभ्यासो हि विप्रस्य परमं तप इहोच्यत इति मनुवचनाच्च वेदाध्ययनमेव ब्राह्मणस्य परो धर्म इति परमेश्वरो वेदाध्ययनसमर्थं ब्राह्मणं जनयेदिति प्रार्थना कार्या तेन च स्वस्य मुख्यो धर्मः प्रयत्नेन पालनीय इत्यर्थः (क्षत्राय) क्षत्रं राज्यं तस्य रक्षायै (राजन्यम्) क्षत्रियमासुवोत्पादय। क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम्। तपः क्षत्रस्य रक्षणम् । इति मनुवचनाभ्यां च ज्ञायते क्षत्रियवर्णः प्रजारक्षणार्थमेवेश्वरेण विरचितस्तस्य स्वधर्मपालन एव निष्ठा स्यादिति प्रार्थनीयम्। तेन च स्वस्य धर्मः प्रयत्नेन पालनीयः (मरुद्भ्यः)

मरुत्शब्देनात्र तज्जन्या चेष्टा ग्राह्या चेष्टयैव तस्य ज्ञानात् । जगद्व्यवहारप्रवृत्तिर्वार्त्ता तदर्थम् (वैश्यम्) आसुवोत्पादयेति प्रार्थना कार्या । वैश्यस्य तपो वार्त्ता इति मनुः । पशुरक्षणं वाणिज्यं च यन्मुख्यं वैश्यस्यैव कर्म तदितस्ततः प्रवृत्तिचेष्टाविशेषसाध्यं तस्य व्यापारस्य चालको वैश्यः स्यादिति प्रार्थना कार्या तेन च स्वं कर्म प्रयत्नेन सेवनीयमित्थमेव तस्य जन्मसाफल्यं भवितुमर्हति (तपसे) सन्तापसाध्यकर्मसेवनाय (शूद्रम्) शोकेन द्रवति गच्छतीति शूद्रः । व्यवहारं शोकबहुलेन यः करोति स शूद्रवर्णश्चतुर्थः सेवाधर्मपालनसमर्थः स्यादिति प्रार्थ्यम् । तपः शूद्रस्य सेवनम् । एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् । सर्वेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया मनु० ॥ तस्मिन्स्वस्य सेवाधर्मे शूद्रः सदैवोद्युक्तः स्यात् । एषु चतुर्ष्वपि वर्णेषु स्वस्वकर्मणि यथावदवस्थितेष्वेव लोकयात्रा सम्यक् प्रवर्त्तते तदा च धर्मएव भवतीति व्याप्रियते । अतएव तदानीं सत्ययुगो भवति तदर्थं परमेश्वरः प्रार्थ्यः स्वयं चोद्योगः कार्यः । एवं स्वस्वकर्मण्यवस्थिते वर्णचतुष्टये यदि कश्चित् (तमसे) अन्धकाराय धर्मप्रकाशनिराकरणाय (तस्करम्) चौरः स्यात्तं हे जगदीश ! त्वं परासुव दूरीकुरु चौरास्तमसावृतामेव दीपचन्द्रादिप्रकाशवर्जितां रात्रिमिच्छन्ति चौर्य्याय यत्र चौर्याधिक्यं तत्रान्धकारएवास्तीति कथ्यते यतो न कोऽपि तत्र धर्मरक्षां पश्यति न धर्माधर्मयोर्विवेचना जायते धर्मः प्रकाशोऽन्धकारोऽधर्मस्तस्माच्चौरोऽन्धकारस्य निमित्तं स न स्यादिति परमेश्वरः प्रार्थनीयः स्वयं च तन्निवृत्तये प्रयतितव्यम् (नारकाय) दुःखविशेषभोगस्थानाय यत्स्थानं दुःखभोगायैव निर्मीयते यथा बन्धिगृहं तदर्थम्

(वीरहणम्) यो वीरान् हन्ति । वीरशब्देनात्रहिंसको न ग्राह्यस्तत्रार्थे शूरशब्दप्रयोगस्य विद्यमानत्वात् । वीरत्वं धर्मादिकार्येषूत्साह आलस्यत्यागस्तत्क्षणे कार्ये प्रवृत्तिश्च तद्धर्मविशिष्टः पुरुषो वीरइत्युच्यते तं जगदुपकारिणं यो हन्ति स वीरहा कथ्यते तं दूरीकुरु परासुव यथा स तत्कर्त्तुं नोत्सुकः स्यात् (पाप्मने) पापाचरणाय प्रवृत्तम् (क्लीवम्) बुद्धिपौरुषहीनं निरुत्साहिनमालस्यग्रस्तम् । नात्र क्लीवशब्देन नपुंसको ग्राह्यः । नपुंसकत्वं पापाचरणस्य प्रयोजकमित्यत्र किमपि गमकं नास्ति यत्र २ क्लीवत्वं तत्र २ पापप्रवृत्तिरिति नियमो न लक्ष्यते क्लीवोऽपि निष्पापो भवितुमर्हति । अतः पूर्वोक्तएवार्थः सम्यगिति (आक्रयायै) आसमन्तात्क्रामन्ति पादान् विक्षिपन्ति प्राणिनोऽस्यामित्याक्रया तस्यै हिंसायै प्रवृत्तम् । वर्णव्यत्ययेन मस्य यः (अयोगूम्) अयसा शस्त्रविशेषेण सह हन्तुं गच्छति तं परासुव तत्कर्मणो दूरीकुरु (कामाय) कामवृद्धये प्रवृत्ताम् (पुंश्चलूम्) व्यभिचारिणीं परासुव व्यभिचारान्निवर्त्तय (अतिक्रुष्टाय) मिथ्याभिशंसनाय प्रवृत्तम् (मागधम्) नृशंसं परासुव ॥

भा०—इमे ब्राह्मणादयः स्वस्वकर्म कर्तुमुत्सुकाः समर्थाश्चोत्पद्येरन् येन वर्णाश्रमधर्मव्यवस्थया सर्वसुखं सम्पद्येत तेषु तास्कर्य्यादि कर्त्तुं कश्चिदपि नोत्सहेत यतोऽधर्मोपद्रवादिनाशात्कस्यचिद्दुःखं न स्यात् ॥ ५ ॥

भावार्थः—हे सब जगत् के उत्पन्न करने वाले जगदीश्वर आप (ब्रह्मणे) परमेश्वर से सृष्टि के आरम्भ में प्रकट हुई वेदविद्या के प्रचारार्थ वा उस को यथावत् जानने के लिये (ब्राह्मणम्) ब्राह्मणवर्ण को उत्पन्न वा समर्थ कीजिये । ब्राह्मणवर्ण का होना वेद के पढ़ने पढ़ाने और उपदेशादि द्वारा प्रचार के ही लिये होता है यह पतञ्जलि आदि ऋषियों ने भी सिद्ध किया है (ब्राह्मणस्य नि०)

कि ब्राह्मण का निष्कारण [जिस के पढ़ने पढ़ाने से जीविका भी कारण न हो कि मैं वेद पढ़ जाऊं तो उस से जीविका होगी चाहे उस पढ़ने से जीविका हो वा न हो पढ़ के जीविका करू ऐसी बुद्धि से वेद पढ़ना सकारण है और मेरा धर्म ही वेद पढ़ना है जीविकादि स्वार्थ तो विना पढ़े भी करते हैं ऐसी बुद्धि से पढ़ना जानना निष्कारण] धर्म है कि वह शिक्षादि छः अङ्गों के सहित वेद को पढ़े और जाने। अर्थात् इस सृष्टिमें अपने धर्म के साथ प्रीति रखने वाला ब्राह्मण हो यह अभिप्राय है। और मनुस्मृति में भी कहा है कि वेद का अभ्यास करना ही ब्राह्मण का मुख्य तप है। इस से भी यही सिद्ध होता है कि वेदाध्ययन ही ब्राह्मण का मुख्य धर्म है। परमेश्वर वेद पढ़ने में समर्थ ब्राह्मण को उत्पन्न करे ऐसी प्रार्थना करनी चाहिये और ब्राह्मण को योग्य है कि वह अपने मुख्य धर्म को प्रयत्नपूर्वक सेवन करे (क्षत्राय) राज्य की रक्षा के लिये (राजन्यम्) क्षत्रिय को उत्पन्न कीजिये मनुस्मृति में लिखा है कि प्रजा की रक्षा करना ही क्षत्रिय का परमधर्म है और प्रजापालन ही राजा का बड़ा तप है। इन वचनों से भी यही प्रतीत होता है कि क्षत्रियवर्ण प्रजा की रक्षा और व्यवस्था के लिये परमेश्वर ने रचा है उस की निष्ठा अपने धर्म के पालने में ही हो ऐसी प्रार्थना करनी चाहिये और क्षत्रिय को योग्य है कि अपने धर्म को प्रयत्न के साथ सेवन करे (मरुद्भ्यः) मरुत् वायु का नाम है उस से होने वाली चेष्टा यहां मरुत् शब्द का अर्थ है क्योंकि क्रिया वा स्पर्श से ही वायु का ज्ञान होता है। जगत् के व्यवहार की प्रवृत्ति वार्त्ता है उस को ठीक२ करने के लिये (वैश्यम्) वैश्यवर्ण को उत्पन्न कीजिये ऐसी प्रार्थना ईश्वर से करनी चाहिये। क्योंकि वैश्य का तप वा धर्म व्यवहार का ठीक२ धर्मपूर्वक वर्त्तना है यह मनुस्मृति का कथन है और पशुओं की रक्षा वा वाणिज्य व्यापार जो वैश्य का मुख्य काम है वह इधर उधर चलने फिरने से विशेष सम्बन्ध रखता है उस व्यापार का चलाने वाला वैश्य हो ऐसी प्रार्थना करनी चाहिये। और उस वैश्य को भी अपना कर्म विचारपूर्वक करना चाहिये। ऐसा करने से ही उस का जन्म सफल हो सकता है (तपसे) दुःख से होने वाले सेवा धर्म के लिये (शूद्रम्) शोक से इधर उधर भागने वाले शूद्रवर्ण को उत्पन्न कीजिये। अज्ञानी होने से बहुधा शोकपूर्वक व्यवहार करता इसलिये शूद्र नाम है। धर्मशास्त्र में लिखा है कि तीनों वर्णों की श्रद्धापूर्वक सेवा करने के लिये परमेश्वर ने शूद्रवर्ण बनाया। उस सेवाधर्म में शूद्र को सदा प्रयत्न

करना चाहिये । इन चारो वर्णों के अपने २ धर्म कर्म में ठीक २ अवस्थित होने से ही संसार का व्यवहार ठीक चलता है । तब धर्म ही होता ऐसा व्यवहार किया जाता है इसी से वह समय सत्ययुग कहाता है । ऐसा होने के लिये परमेश्वर की प्रार्थना और अपना उद्योग अवश्य करना चाहिये । इस प्रकार चारो वर्ण के अपने २ कर्म में स्थित होने पर भी यदि कोई (तमसे) धर्म की हानि वा अन्धकार के लिये (तस्करम्) प्रवृत्त चोर हो तो हे जगदीश्वर उस को आप दूर कीजिये । चोर लोग चोरी करने के लिये दीपक वा चन्द्रमादि रहित अन्धकारयुक्त रात्रि को चाहते हैं । और जहां चोरी की अधिकता है वहां अन्धकार ही माना वा कहा जाता है क्योंकि वहां कोई भी धर्म की रक्षा को नहीं देखता और न धर्म अधर्म का विवेक होता हैं । धर्म का नाम प्रकाश और अधर्म का नाम अन्धकार है इस से अन्धकार का निमित्त चोर है वह न रहे वा वैसा न करे इस प्रकार की प्रार्थना ईश्वर से करनी चाहिये । और मनुष्यों को स्वयं भी चोरी की निवृत्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये (नारकाय) दुःख विशेष भोगने के कारागृहादि स्थान के लिये [जो स्थान दुःख भोगने ही के लिये बनाया जाता है] (वीरहणम्) वीरों को मारने वाले पुरुष को दूर कीजिये । वीर शब्द से यहां धर्मादि कार्य्यों में उत्साही निरालस्य अच्छे काम में तत्काल प्रवृत्त होने वाला पुरुष लेना चाहिये उस सर्वोपकारी को जो मारता है वह वीरहा कहा जाता है उस के दूर होने की प्रार्थना वा प्रयत्न करना चाहिये जिस से वह वैसा करने का साहस न करे (पाप्मने) पापाचरण के लिये प्रवृत्त हुये (क्लीबम्) बुद्धि वा पुरुषार्थ से हीन निरुत्साही आलसी पुरुष को हटाइये । क्लीबशब्द यहां हिजड़े का वाचक नहीं क्योंकि हिजड़ा होना पाप कराने का हेतु नहीं कि जो २ हिजड़ा हो वह पाप ही करे पुण्य कुछ न कर सके इस में कोई प्रमाण भी नहीं न ऐसा नियम दीख पड़ता है इस से क्लीब शब्द का वही अर्थ ठीक है जो पूर्व किया गया (आक्रयायै) जिस में पग फट फटाते हुए प्राणी मारे जाते हैं उस हिंसा के लिये प्रवृत्त हुए (अयोगूम्) मार ने को उद्यत हथियारधारी को निवृत्त कीजिये उस कर्म से वह बचे (कामाय) कामातुरता बढ़ाने के लिये प्रवृत्त हुई (पुंश्चलूम्) व्यभिचारिणी स्त्री को हटाइये (अतिक्रुष्टाय) मिथ्या प्रशंसा के लिये प्रवृत्त हुए (मागधम्) वन्दीजन चारण वा राय भाट आदि को निवृत्त करें मिथ्या प्रशंसक पुरुषों से संसार की बड़ी हानि होती है इस से ऐसे पुरुष न हों ऐसी प्रार्थना करनी चाहिये ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में कहे ब्राह्मणादि वर्ण अपना २ कर्म करने को तत्पर और समर्थ उत्पन्न हों जिस से. वर्णाश्रम धर्म की ठीक व्यवस्था होने से सब को सुख होवे उन ब्राह्मणादि में चोरी आदि दुष्कर्म करने को कोई प्रवृत्त न हो जिस से अधर्म और उपद्रवादि के नाश होने से किसी को दुःख न हो ॥

नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषं धर्माय सभाचरं नरिष्ठायै भीमलं नर्माय रेभथं हसाय कारिमानन्दाय स्त्रीषखं प्रमदे कुमारीपुत्रं मेधायै रथकारं धैर्याय तक्षाणम् ॥ ६ ॥

नृत्ताय । सूतम् । गीताय । शैलूषम् । धर्माय । सभाचरमिति सभाऽचरम् । नरिष्ठायै । भीमलम् । नर्माय । रेभम् । हसाय । कारिम् । आनन्दायेत्याऽऽनन्दाय । स्त्रीषखम् । स्त्रीसखमिति स्त्रीऽसखम् । प्रमदइति प्रऽमदे । कुमारीपुत्रमिति कुमारीऽपुत्रम् । मेधायै । रथकामिति रथऽकारम् । धैर्याय । तक्षाणम् ॥ ६ ॥

पदार्थः—हे परमात्मन् (नृत्ताय) नृत्याय भावेऽत्र क्तः (सूतम्) क्षत्रियाद्ब्राह्मण्यामुत्पन्नं तौर्यत्रिकनिपुणम् इष्टसाधनायोत्कण्ठापूर्वकं स्वकर्म कर्त्तुमुद्यतम् । सूतशब्दोगायकनर्त्तकमागधादीनामुपलक्षकः । नृत्यं च गानादीनां साहचर्यादुपलक्षकम् (गीताय) गानाय (शैलूषम्) गानविद्याकुशलं नटादिकं धर्मेश्वरादिविषयाणां लोकभाषयोपदेशकरणतत्परम् । धर्मादिविषयस्य गानविद्यया यादृशो हृदयग्राहको बोधः श्रोतॄणामुत्पद्यते न तादृशोऽन्यप्रकारेण भवितुं शक्योऽतस्तत्कर्मण्येव प्रवीणः

कश्चित्पुरुषविशेषः पृथगेव स्यादितीश्वरः प्रार्थनीयः (धर्माय) धर्मप्रवृत्त्यर्थं तद्रक्षायै वा (सभाचरम्) धर्मनिर्णायकत्वेन निर्णयकारणायैव सभासु चरति गच्छति तम् । नहि सभयान्दोलनमन्तरेण धर्मस्य निर्णयो भवितुं शक्यः। अतएव मनुनोक्तम् ॥

अनाम्ना तेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत्। यं शिष्टाब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशङ्कितः ॥ दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत् । त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥

इत्यादिना ज्ञायते सभायामनेकानुमतिमन्तरेण निर्णीतो धर्मो विचालयितुं शङ्कितुं वा शक्योस्ति । अतः सभया धर्मनिर्णयाय रुचिमन्तं प्रवीणं तत्परं च पुरुषमीश्वर उत्पादयेदिति प्रार्थनीयम् (नरिष्ठायै) नरि बलवत्तरे पौरुषविशेषेण युद्धादि कर्त्रे शूरवीरे तिष्ठति सा नरिष्ठा क्रिया। सुपि स्थ इति स्थाधातोः कः सप्तम्या अलुक् च । तस्यै क्रियायै (भीमलम्) भीमान् भयङ्करान् राक्षसादीन् धर्मविरोधिनः स्वार्थसानधनतत्परान् शत्रून् लाति हन्तुमाददाति तं धर्मात्मानं शूरवीरं पराक्रमविशिष्टं पुरुषमासुवोत्पादय । नह्येवं बलिष्ठधर्मात्मानमन्तरेण दुष्टा दान्ता भवन्ति तस्मादेवम्भूतपुरुषाणां जगति जन्म स्यादिति परमात्मा प्रार्थनीयः (नर्माय) नीयन्ते जना अस्मिन् स नर्म आनन्दस्तद्भोगाय प्राप्तये वा (रेभम्) स्तोतारम् । अभिमानत्यागफलात्स्तुतिप्रार्थनोपासनाकर्त्तैवानन्दभाग्भवितुमर्हति नहीदृगानन्द इतरस्य भवितुं शक्यः । तदर्थं मनोवचःकर्मभिः सत्यैः स्तोता पुरुष उत्पद्येतेति प्रार्थना कार्या (हसाय) हासाय (कारिम्) हासकृत्यनिर्मापकम् । कानिचित्कर्माणि कृतानि सन्ति शोकमोह-

लोभक्रोधादिग्रस्तानां जनानां ततश्चित्तमाकृष्य सद्यः प्रसादयन्ति तैः क्रीड़ाविशेषकर्मभिः कार्यान्तरासक्तं मनश्च विश्रान्तं भवति। एवंभूतक्रियाकरणकुशलमीश्वरउत्पादयेत् (आनन्दाय) गृहाश्रमविषयानन्दभोगाय (स्त्रीषखम्) स्त्री सखी पूर्णप्रेमास्पदाऽनन्यभक्ता पतिव्रता पतिप्रसादनतत्परा यस्य तम्। प्रिया च भार्य्या प्रियवादिनी चेत्यादिस्मृतं च यस्य प्रिया प्रियवादिनी च गेहिनी स्यात् सएव गृहानन्दभाग्भवति। पतिव्रतप्रेमवद्भार्य्यः पुरुषो गृहाश्रमानन्दभाक् स्यादिति परमेश्वराद्याचनीयम् (प्रमदे) प्रमादाय प्रवृत्तम् (कुमारीपुत्रम्) विवाहात्पूर्वमेव व्यभिचारेणोत्पन्नं संकरम्पुरुषं परासुव। संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य चेति स्मरणात्। वर्णाश्रमधर्मनाशकः संकरः। आहाराचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ। स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः॥ इति सुश्रुतवचनानुकूलं, व्यभिचारपरचित्ताभ्यामितरेतरपतिपत्नीभावसम्बन्धजन्यप्रीतिवर्जिताभ्यामुत्पादितः सन्तानो धर्माद् व्यभिचरति प्रमाद्यति च। अतः स न स्यादिति प्रार्थना कार्य्या। (मेधायै) धारणावती बुद्धिर्मेधा तस्या भावाय (रथकारम्) रथादिशिल्पसाध्यवस्तूनां निर्मापकमासुव रथादिगतानेकावयवानां बुद्धौ याथातथ्येन निर्माणयोजनयोर्धारणात्तस्य शिल्पिनो धारणावती बुद्धिरुत्पद्यते। शिल्पी स्वकर्मणि कुशलस्तत्परश्च स्यादिति प्रार्थनीयम् (धैर्याय) धैर्यं धर्त्तुम् (तक्षाणम्) तक्षणकर्त्तारमासुव धैर्यमन्तरेण स्वावयवस्यापि तक्षणं स्यादिति सम्भवमतो धैर्येण स्वकार्यसाधकस्तत्र प्रवीणश्च तक्षा स्यादिति सर्वत्र परमेश्वरस्य प्रार्थना कार्या। ते च सर्वे स्वस्वकर्मणि

सोत्कण्ठा उद्यताः स्युरन्यैः शिक्षकैराजपुरुषैश्चैते स्वस्वकर्मणि यथावन्नियोक्तव्याः ॥ ६ ॥

भावार्थः—हे परमेश्वर (नृत्ताय) नाचने गाने बजाने के लिये (सूतम्) क्षत्रिय पुरुष से ब्राह्मणी में उत्पन्न हुए मागध वन्दीजन चारण राय भाटादि पुरुष को उस के कर्म नाचने गाने बजाने में प्रवीण और तत्पर कीजिये (गीताय) गानविद्या की प्रवृत्ति के लिये (शैलूषम्) गानविद्या में निपुणनटादि को लोक भाषा द्वारा धर्मादि कर्त्तव्य विषयों का उपदेश करने में तत्पर कीजिये । गान-विद्या से जैसा हृदय को पकड़ने वाला धर्मादि विषय का ज्ञान श्रोता लोगों को होता है वैसा अन्य प्रकार से नहीं हो सकता इस लिये उसी कर्म में प्रवीण कोई पुरुषविशेष पृथक् ही हो ऐसी प्रार्थना ईश्वर से करनी चाहिये । नृत्य के साथ उसी का सम्बन्धी गान लिया है और द्वितीय वार केवल गान लेना अभीष्ट है। (धर्माय) धर्म का प्रचार और रक्षा के लिये (सभाचरम्) धर्म का निर्णय कर्त्ता होके वा निर्णय कराने के लिये सभाओं में जाने वाले पुरुष को उत्पन्न कीजिये क्योंकि सभा से आन्दोलन किये विना धर्म का निर्णय नहीं हो सकता इसी लिये मनुस्मृति में कहा है कि—जिन धर्मविषयों में शास्त्र से कुछ न कहा गया हो और वहां संदेह पड़े कि क्या करना चाहिये तो वेदवेत्ता शिष्ट विद्वान् ब्राह्मण लोग मिलकर सभा द्वारा जिस को न्याय कहैं वही निःशङ्क धर्म माना जावे । तथा दश वा तीन विद्वानों की सभा शास्त्र विचार पूर्वक जिस को धर्म ठहरावे उस में कोई नकार न करे । इस कथन से जाना जाता है कि सभा में अनेक विद्वानों की अनुमति के विना निर्णय किया धर्म निषेध वा शङ्का करने योग्य होता है । इससे सभा द्वारा निर्णय करने के लिये रुचि रखने वाले प्रवीण और तत्पर पुरुषों को ईश्वर उत्पन्न करे ऐसी प्रार्थना करनी चाहिये (नरिष्ठायै) पौरुष [मंसुरई] विशेष से युद्धादि करने वाले शूरवीर अतिबलिष्ठ पुरुष में ठहरने वाली क्रिया के लिये (भीमलम्) धर्मविरोधी स्वार्थसाधन तत्पर भयंकर राक्षसादि दुष्ट शत्रुओं को मारने के लिये पकड़ने वालेशूर वीर पराक्रमी धर्मात्मा पुरुष को उत्पन्न कीजिये । ऐसे बलिष्ठ धर्मात्मा पुरुष के विना दुष्ट लोग वश में नहीं होते इस लिये ऐसे पुरुषों का जगत् में जन्म हो ऐसी प्रार्थना परमेश्वर से करनी चाहिये (नर्माय) उपासनादि सम्बन्धी आनन्द के भोगने वा उस को प्राप्त होने के लिये

(रेभम्) स्तुति प्रार्थना उपासना करने वाले पुरुष को उत्पन्न कीजिये। स्तुति प्रार्थनादि करने वाला ही अभिमान छूटने आदि फल से आनन्दभागी हो सकता है और ऐसा आनन्द अन्य किसी को नहीं हो सकता इस लिये सत्य २ मन वचन कर्म से स्तुतिकर्त्ता पुरुष उत्पन्न हो ऐसी प्रार्थना करनी चाहिये (हसाय) हंसने के लिये (कारिम्) हाससम्बन्धी क्रिया करने वाले को उत्पन्न करिये। कोई कर्म ऐसे होते हैं जो शोक मोह लोभ क्रोधादि के साथ फसे मनुष्यों के चित्त को शोकादि से खेंचकर शीघ्र प्रसन्न कर देते हैं उन खेल विशेष कर्मों से अनेक कामों से थका हुआ मन भी बहल जाता है ऐसे काम करने में कुशल पुरुष को ईश्वर उत्पन्न करे (आनन्दाय) गृहाश्रमसम्बन्धी विषयानन्द भोगने के लिये (स्त्रीषखम्) पति के प्रसन्न रखने में तन मन धन से तत्पर पूर्ण प्रीति रखने वाली अनन्य भक्त पतिव्रता स्त्री ही जिस का मित्र सहायक है ऐसे पुरुष को उत्पन्न कीजिये। महाभारत में लिखा है कि जिस की प्रीति रखने और प्रिय बोलने वाली स्त्री हो वही घर में आनन्द भोग सकता है। पतिव्रता और प्रेमवती स्त्री वाला पुरुष गृहाश्रम का आनन्द भोगने वाला हो ऐसी याचना परमेश्वर से करनी चाहिये (प्रमदे) प्रमाद करने में प्रवृत्त हुए (कुमारीपुत्रम्) विवाह से पहिले व्यभिचार से उत्पन्न हुए कुआरी कन्या के पुत्र वर्णसंकर को दूर कीजिये। भगवद्गीता में लिखा है कि वर्णसंकर पुरुष जिस कुल में उत्पन्न होता है उस को बड़ी अप्रतिष्ठा और उस कुल के पुरुष महादुःखी होते हैं। इस से सिद्ध हुआ कि वर्णाश्रम धर्म का नाश करने वाला संकर है और सुश्रुत में लिखा है कि भोजन आचरण और चेष्टा जैसी गर्भाधान समय स्त्री पुरुषों की होती है वैसा ही उन का पुत्र भी होता है अर्थात् जिन विवाहित स्त्री पुरुषों में गर्भाधान करते समय अत्यन्त प्रीति अन्तःकरण से एक दूसरे की चाहना निःशंकता निर्भयता धर्मबुद्धि शान्त चेष्टा और ईश्वर की स्तुति प्रार्थनादि करने से वैसे ही गुण उन के सन्तान में आते हैं वह सन्तान एक प्रीति का पुतला उत्पन्न होता है। और जिन स्त्री पुरुषों का व्यभिचार होता है उन के चित्त में व्यभिचार करते समय लज्जा शङ्का भय होते हैं कि हम बुरा काम अधर्म करते हैं। वह स्त्री उस को अपना पति वा पालक पोषक नहीं मानती और न पुरुष उस को स्त्री मानता इस से परस्पर प्रीति भी नहीं होती इसी कारण अधर्म बुद्धि से उत्पन्न हुआ संकर सनातन धर्म का विरोधी प्रायः होता ही है इस लिये ऐसा सन्तान न हो इस की प्रार्थना परमेश्वर

से करनी और वैसा उद्योग भी करना चाहिये (मेधायै) अनेक अनुभव किये विषयों का स्मरण रखने वाली बुद्धि के लिये (रथकारम्) कारीगरी से बनने वाले रथ आदि पदार्थों को बनाने वाले पुरुष को परमेश्वर उत्पन्न करे। रथादि वस्तुओं के अवयव—पुर्जों के बनाने और पूर्वापर एक दूसरे से जोड़ने का क्रम बुद्धि में धारण करने से कारीगर की धारणा वाली बुद्धि होती है। कारीगर अपने काम में प्रवीण और तत्पर हो ऐसी प्रार्थना ईश्वर से करनी चाहिये (धैर्याय) धीरज धरने के लिये (तक्षाणम्) काटने छांटने वाले बढ़ई को उत्पन्न कीजिये। इस से यह भी सूचित होता है कि वह २ गुण उस २ में होना चाहिये वा विशेष कर ईश्वर ने वह २ गुण उस २ में रक्खा है अर्थात् उस २ गुण की उस २ में विशेष आवश्यकता है इस लिये वैसी प्रार्थना और उद्योग करना चाहिये। जैसे बढ़ई को धैर्य न हो और शीघ्रता करे तो उसी का हाथ वा पांव कट जाना सम्भव है इस लिये धीरज से काम करे यद्यपि धैर्य की अनेक कार्यों में आवश्यकता है पर धैर्य के बिना ऐसी हानि नहीं कि शरीर ही कट जावे। इस लिये सब स्थलों में परमेश्वर की प्रार्थना करनी चाहिये। और वे सब अपने २ काम में उत्कण्ठा पूर्वक उद्यत रहें तथा अन्य शिक्षक वा राजपुरुषों को भी चाहिये कि उन सब को अपने २ काम में नियुक्त करें ॥ ६ ॥

भा०—इस मन्त्र में सभासम्बन्धी विषय की प्रार्थना है। यथोक्त पुरुष सभासम्बन्धी कार्यों के साधक हों। वर्णसङ्कर सभा में न हों और कारीगर भी सभा में अवश्य रहने चाहिये ॥ ६ ॥

तपसे कौलालं मायायै कर्मारꣳ रूपाय मणिकारꣳ शुभे वपꣳ शरव्याया इषुकारꣳ हेत्यै धनुष्कारं कर्मणे ज्याकारं दिष्टाय रज्जुसर्जं मृत्यवे मृगयुमन्तकाय श्वनिनम् ॥ ७ ॥

तपसे। कौलालम्। मायायै। कर्मारम्। रूपाय। मणिकारमिति मणिऽकारम्। शुभे। वपम्। शरव्यायै। इषुकारमितीषुऽकारम्। हेत्यै। धनुष्कारम्। धनुःकारमिति धनुःकारम्।

कर्मणे। ज्याकारमिति ज्याऽकारम्। दिष्टाय। रज्जुसर्जमिति रज्जुऽसर्जम्। मृत्यवे। मृगयुम्। अन्तकाय। श्वनिनम् ॥७॥

पदार्थः—हे परमेश्वर त्वम् (तपसे) तपःसाध्यकर्मकरणाय (कौलालम्) कुलालसम्बन्धिजनमासुवोत्पादय। कुलालो भाण्डं निर्माय्याग्नौ याथातथ्येन पचेदिति प्रार्थनोद्योगश्च कार्यः (मायायै) अन्यस्यान्यथादर्शनं माया तदर्थं छलकपटादिभिः स्वार्थसाधनाय प्रवृत्तम् (कर्मारम्) कर्मभिरलङ्करोति पदार्थानुपरिष्टाद्दर्शनीयान्निर्मापयति यथा पित्तलस्योपरि सुवर्णपानीयं कृत्वा सौवर्णमिदं वस्त्विति जनान् वञ्चयति। अत्र सावर्ण्याल्लस्य रः। एवम्भूतं वञ्चकजनं परासुव। राजादिभिरपि वञ्चकादयस्तत्कर्मणो निवारणीयाः। मायेति निघण्टौ प्रज्ञाया अपि नामास्ति। तस्येहोपयोगो न ग्राह्यो मेधायै रथकारमित्युक्तत्वात्। उक्तार्थानामप्रयोगः स्यादिति (रूपाय) सुरूपनिर्माणाय (मणिकारम्) मणीन् रत्नपदार्थान् करोत्युत्पादयति तमासुव। अर्थात् मणिकारः सर्वोत्तमपदार्थनिर्माता शोभनं रूपं कुर्यात्। दर्शनीयतमवस्तुनिर्माणे समर्थ उद्युक्तश्च स्यादिति परेशः प्रार्थनीयः(शुभे) शुभकर्मप्रवृत्तये (वपम्) अधर्मच्छेदकमासुव। दुष्कर्मिणां छेदनेनैव शुभकर्मणः प्रवृत्तिर्जायते। अतश्छेदकोऽशुभच्छेदनेन शुभं प्रवर्त्तयेदिति प्रार्थनीयं प्रयतितव्यं च (शरव्यायै) शरव्याय निशानाय लिङ्गव्यत्ययः। लक्ष्यं यथावद्विध्येदिति प्रयोजनाय (इषुकारम्) इषून् बाणान् करोत्युत्पादयति तमासुव। बाणनिर्मातेदृशान् बाणान्निर्मिमीत येऽसंशयं लक्ष्यं भृशं विध्येयुरिति प्रार्थनोद्योगश्च कार्यः। शरव्यशब्दो लक्ष्यपर्यायोऽमरकोशेऽस्ति (कर्मणे) कर्म-

सिद्धयेऽर्थाद्वाणक्रियायाः सम्यक्प्रवृत्तये (ज्याकारम्) ज्यां प्रत्यञ्चां करोति तमासुव । ज्याकार इत्थं प्रत्यञ्चां निर्मापयेद्येन वाणा आशु क्षिप्रं च निर्गता भवेयुरेतदर्थं ज्याकारः स्वकर्मणि कुशल उद्युक्तश्च स्यादिति प्रार्थनीयम् । (दिष्टाय) प्रारब्धभोगासक्तमनसे (रज्जुसर्जम्) यो रज्जुमिव गुणत्रयं संयोज्य सङ्कीर्णधर्ममवलम्बते तं परासुव । सत्त्वप्रधानो ब्राह्मणः । रजःप्रधानः क्षत्रियः । रजस्तमः संसृष्टो वैश्यः । तमःप्रधानः शूद्र इति गुणैः सहैव वर्णधर्मविभागस्तं वर्णविभाजकं गुणभेदमनादृत्यार्थाद्वर्णधर्मं त्यक्त्वा प्रारब्धानुकूलमेव भोक्तव्यमिति दिष्टाश्रयेणैव स्वकर्मणि प्रवर्तते स न स्यादिति प्रार्थनोद्योगश्च कार्यः (मृत्यवे) मारणाय प्रवृत्तम् (मृगयुम्) मृगान् हन्तुं याति तं व्याधं हिंसाकर्मतः परासुव दूरीकुरु। हे परमात्मन् निरपराधिमृगादिजन्तूनां हिंसका अस्मिन् जगति न स्युरित्यस्माभिः प्रार्थ्यते भवान् । राजादिशिक्षकैश्च तथोद्योगः कार्यो येन व्याधादिहिंसकानां निवृत्तिः स्यादिति (अन्तकाय) शशादीनां नाशाय प्रवृत्तम् (श्वनिनम्) बहवः श्वानः सन्ति यस्य तं परासुव मृगया तत्परान् कुक्कुरविशेषान् संरक्ष्य यः शशादिजन्तून् हन्तुं प्रवर्तते स न स्यादिति प्रार्थना कार्या । राजादिभिश्चैवमुद्योगः कार्यो येनैते न स्युरिति ॥

भा०—परमात्मना यः प्राणी यदर्थं निर्मितस्तदेव सम्यक् तथा स कर्त्तुमर्हस्तेन तदेव कार्यम् । शिष्टैश्च कारयितव्यम् । हिंसकादयश्च सर्वैर्यत्नेन निवर्त्तनीया इति ॥ ७ ॥

भावार्थः—हे परमेश्वर आप (तपसे) तपने से सिद्ध होने वाले कर्म को करने के लिये (कौलालम्) कुम्हार पुरुष को उत्पन्न कीजिये । कुम्हार अपने घड़ा

आदि वर्त्तनों को बनाकर यथावत् अग्नि में पकावे अग्नि के ताप से न हरे ऐसी प्रार्थना और यत्न करना चाहिये (मायायै) अन्य वस्तु को अन्य प्रकार से दिखाना माया कहती है सो छलकपट के वर्त्ताव पूर्वक जो स्वार्थसिद्धि के लिये प्रवृत्त हो उस (कर्मारम्) कर्म करके ऊपर से दर्शनीय पदार्थ बनाने अर्थात् पीतल आदि पर सोने आदि का पानी फेर कर सुवर्ण आदि के नाम से मनुष्यों को ठगने वाले मनुष्य को दूर करे । राजादि लोगों को भी चाहिये कि ठग आदि मनुष्यों को दण्ड दे कर उन के बुरे कर्म से बचावें । निघण्टु में माया नाम बुद्धि का भी है उस का उपयोग यहां इस कारण नहीं है कि बुद्धि के लिये रथकार का होना कहचुके हैं उस को फिर कहना पुनरुक्त होगा (रूपाय) सुन्दररूपयुक्त पदार्थ बनाने के लिये (मणिकारम्) सर्वोत्तम मणि रत्नादि वस्तु बनाने वाले को उत्पन्न कीजिये अर्थात् सर्वोत्तम पदार्थ बनाने वाला मणिकार अच्छे रूपवान् देखने योग्य अत्यन्त दर्शनीय वस्तु के बनाने में समर्थ और उद्योगी हो ऐसी प्रार्थना परमेश्वर से करनी चाहिये (शुभे) शुभ कर्म की प्रवृत्ति के लिये (वपम्) अधर्म के नाशक मनुष्य को उत्पन्न करे क्योंकि दुष्टों के काटने से ही शुभ कर्म की प्रवृत्ति होती है । इस से खण्डन करने वाला अशुद्ध का खण्डन कर शुभ की प्रवृत्ति करे ऐसी प्रार्थना और प्रयत्न करना चाहिये (शरव्यायै) निशान को ठीक २ मारने के लिये (इषुकारम्) बाणों को उत्पन्न करने वाले पुरुष को रचे । अर्थात् बाण बनाने वाला ऐसे बाण बनावे कि जिस से निस्सन्देह और शीघ्र लक्ष्य बींधा जावे ऐसी याचना वा उद्योग करना चाहिये । शरव्य शब्द लक्ष्य को पर्यायवाची अमरकोश में लिखा है (कर्मणे) बाणक्रिया के सम्यक् प्रवृत्त होने के लिये (ज्याकारम्) प्रत्यंचा बनाने वाले को उत्पन्न करे अर्थात् ज्याकार ऐसी प्रत्यञ्चा को बनावे जिस से शीघ्र २ बाण चलें इस लिये ज्याकार अपने कर्म में कुशल और उद्योगी हो ऐसी प्रार्थना करनी चाहिये (दिष्टाय) प्रारब्ध के भोग में जिस का मन आसक्त है उस के लिये (रज्जुसर्जम्) जो रस्सी के तुल्य तीनों गुणों को संयुक्त कर अन्तराल वर्णसङ्करों के धर्म का आश्रय लेता उस को दूर कीजिये । सत्वगुणी ब्राह्मण रजोगुणी क्षत्रिय, रजोगुण तमोगुण मिश्रित वैश्य और तमोगुण की प्रधानता से शूद्र कहाता है । इस प्रकार गुणों के साथ ही वर्णों का विभाग होता उस वर्णविभाग के हेतु भेद को छोड़ अर्थात् पृथक् २ वर्त्तमान वर्णधर्म को छोड़ के प्रारब्ध के अनुकूल ही भोग मिलेगा इस प्रकार प्रारब्ध के आश्रय

से ही अपने कर्म में प्रवृत्त हो वह न रहे ऐसी प्रार्थना और उद्योग करना चाहिये। (मृत्यवे) मारने के लिये प्रवृत्त हुए (मृगयुम्) हरिणादि मृग मारने को जाने वाले व्याध बहेलिया को हिंसा कर्म से बचाइये परमेश्वर निरपराधि मृग आदि वा गौ आदि के हिंसक इस जगत् में न रहें ऐसी प्रार्थना हम करते हैं राजादि शिक्षक लोगों को भी वैसा उद्योग करना चाहिये जिस से व्याघ्रादि हिंसकों की निवृत्ति हो। (अन्तकाय) खरहा आदि के नाश के लिये प्रवृत्त हुए (श्वनिनम्) बहुत शिकारी कुत्ते पालने वाले को दूर कीजिये। अर्थात् जो शिकारी कुत्तों को पाल के शश आदि के मारने को प्रवृत्त हो वह न रहे ऐसी प्रार्थना वा उद्योग करना चाहिये और राजादि लोगों को भी ऐसा उद्योग करना चाहिये जिस से ये न रहें॥

भा०—परमेश्वर ने जो प्राणी जिस लिये बनाया उसी को अच्छे प्रकार वह कर सकता है उस को वही करना चाहिये। और अच्छे लोगों को वैसा ही करना चाहिये और हिंसकादि सब को प्रयत्न से निवृत्त करना चाहिये॥ ७॥

नदीभ्यः पौञ्जिष्ठमृक्षीकाभ्यो नैषादं पुरुषव्याघ्राय दुर्मदं गन्धर्वाप्सरोभ्यो व्रात्यं प्रयुग्भ्य उन्मत्तꣳसर्पदेवजनेभ्योऽप्रतिपदमयेभ्यः कितवमीर्यताया अकितवं पिशाचेभ्यो विदलकारीं यातुधानेभ्यः कण्टकीकारीम्॥८॥

नदीभ्यः। पौञ्जिष्ठम्। ऋक्षीकाभ्यः। नैषादम्। नैसादमिति नैऽसादम्। पुरुषव्याघ्रायेति पुरुषऽव्याघ्राय। दुर्मदमिति दुःऽमदम्। गन्धर्वाप्सरोभ्यऽइति गन्धर्वाप्सरःऽभ्यः। व्रात्यम्। प्रयुग्भ्य इति प्रयुक्ऽभ्यः। उन्मत्तमित्युत्ऽमत्तम्। सर्पदेवजनेभ्यऽइति सर्पऽदेवजनेभ्यः। अप्रतिपदमित्यप्रतिऽपदम्। अयेभ्यः। कितवम्। ईर्यतायै। अकितवम्। पिशाचेभ्यः। विदलकारीमिति

विदलऽकारीम् । यातुधानेभ्य इति यातुऽधानेभ्यः । कण्टकीकारीमिति कण्टकीऽकारीम् ॥ ८ ॥

पदार्थः—हे परमात्मन् (नदीभ्यः) सरिच्चालनाय कृत्रिमनदीनिर्माणाय चोद्योगकारिणम् (पौञ्जिष्ठम्) अतिशयितः पुञ्जः पुञ्जिष्ठः पुञ्जिष्ठो भक्तिरस्य स पौञ्जिष्ठस्तमासुव । अर्थात् पुष्कला अन्नादयः पदार्था उत्पद्येरन्नित्येतदर्थमुद्योगकारिणं कृत्रिमनदीनिर्माणादिकर्मणि तत्परं प्रवीणं च पुरुषमीश्वरो जनयेद्येन प्रजाः सुखिन्यः स्युरिति (ऋक्षीकाभ्यः) ऋक्षगतीन्द्रियप्रलयमूर्त्तिभावेषु । इत्यस्माद्धातोरौणादिक ईकनि प्रत्यये सत्येतन्निष्पद्यते । ऋक्षीका निषादानां क्रिया मृतानामनाथमनुष्यादीनां वा पशुपक्ष्यादीनां शवानां वहनरूपास्तासां निर्वाहाय (नैषादम्) निषादकुलोत्पन्नं पुरुषमासुव । निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते इति मनुवाक्याज् ज्ञायते निषादः शवान् पारयति दूरं यापयति स तस्मिन् कर्मणि तत्परः स्यादिति प्रार्थनोद्योगश्च कार्यः (पुरुषव्याघ्राय) पुरुषो व्याघ्र इव शूरस्तस्य हननाय प्रवृत्तम् (दुर्मदम्) दुष्टो मदोहङ्कारो यस्य तं परासुव । शूराणां राज्यादिरक्षकाणां हन्ता कश्चिच्छलादिना न स्यादिति प्रार्थनीयम् (गन्धर्वाप्सरोभ्यः) पण्ययोषित्सहचारिणो गन्धर्वा भाण्डादयो ये ताभिः साकमातोद्यतोदनपुरस्सरं गायन्ति, अप्सरसो गायिका नर्तिकाश्च स्त्रियः पण्ययोषितस्तासां सत्काराय तौर्यत्रिककारणायै च प्रवृत्तम् (व्रात्यम्) वैदिकसंस्कारेभ्यः पतितं वर्णाश्रमधर्मविहीनं पुरुषं परासुव प्रायो विद्याब्रह्मचर्यादिसंस्कारहीनेभ्यो मतिमद्भिः कन्या न दीयन्तेऽतस्ते नियतकान्ताया अभावा-

स्कामातुराः सन्तो गन्धर्वाप्सरसां सान्निध्यमवलम्बन्ते । यदा च गन्धर्वाप्सरसां लोके सत्कर्त्तारो भवन्ति तदा कुलीना अपि प्रमदा अप्सरस्त्वमिच्छन्ति तद्रूपधारिण्योऽनेका नूतना भवन्ति च । अतो ब्रात्यस्तासां सत्कर्त्ता न स्याद्येन व्यभिचाराद्यधर्मो वर्द्धेतेति प्रार्थनोद्योगश्च कार्यः । ब्रात्योऽपि पुरुषो न स्यादित्यप्यस्मादेवायाति (प्रयुग्भ्यः) ओषध्यादीनां प्रयोगस्य कर्त्तृभ्यः प्रवृत्तम् (उन्मत्तम्) उन्मादरोगाविष्टं परासुव । उन्मादरोगग्रस्तः पुरुष ओषध्याद्युपयोगस्य विरोद्धा भवति नैव स ओषधिप्रयोगस्य फलमवबुध्यते किन्तु चिकित्सकं शत्रुं जानाति स एवम्भूत उन्मत्तो न स्यादिति प्रार्थना प्रयत्नश्च कार्यः (सर्पदेवजनेभ्यः) उपलक्षणमेतन्निकृष्टोत्तमानां तत्र सर्पशब्दो निकृष्टस्योपलक्षको देवजनश्चोत्तमस्य । सर्पा विषधारिणः खलाश्च वा देवजना विद्वज्जनाश्च तेभ्यस्तदर्थमविचारेणाविवेकेन प्रवृत्तम् (अप्रतिपदम्) प्रतिपदं यो न पश्यति नावबुध्यते । दृष्टिपूतं न्यसेत्पादमिति प्रतिपददर्शनविधिरस्मादपि निस्सरति यश्च निकृष्टोत्तमान् प्रतिक्षणं न ध्यायति तं परासुव जगति व्यवहारसाधनाय भ्रमन्सर्पादिदुष्टान् श्रेष्ठान्सुखहेतून् वा यः प्रतिपदं प्रतिक्षणं वा न पश्यति विवेचयति वा स न स्यादितीश्वरो याचनीयस्तथैव जगद्धितैषिभिश्चोद्योगः कार्यः (अयेभ्यः) प्राप्यपदार्थानन्यायेन संग्रहाय प्रवृत्तम् (कितवम्) द्यूतसेविनं परासुव । द्यूतसेवनेन कश्चित्परपदार्थान्न गृह्णीयादेतदर्थं प्रार्थनोद्योगश्च कर्त्तव्यः । द्यूतकरणं महानिन्द्यं सर्वाधर्मप्रवर्त्तकं कर्म तद्राज्ये प्रजासु च न स्यादिति शिक्षकैः प्रचारः कार्यः (पिशाचेभ्यः) पिशितं सरुधिरं मांसमाचामन्ति

ते पिशाचाः पृषोदरादित्वादिष्टसिद्धिः (विदलकारीम्) विगतं विरुद्धं वा मांसभक्षकाणां दलं समुदायं करोति तां विदलकारीं सेनामासुव मांसभक्षकदलनाशाय तत्कर्मतस्तेषां पृथक्करणाय वा मांसभक्षणाद्यधर्मनिषेधे तत्परो धर्मात्मनां समुदायःसेना सभा वा निर्मातव्या यस्या ऐक्यबलात्पिशाचाः स्वकर्मपरित्यक्ता भवेयुः (यातुधानेभ्यः) यान्ति येषु ते यातवो मार्गास्तेषूत्कोचादिना धनहर्त्तारो यातुधना यातुधना एव यातुधानाः स्वार्थसाधनायान्यायेन परपदार्थहर्त्तार उत्कोचका यातुधाना नाम राक्षसाः। हरिणा चोक्तम्—तेऽमीमानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये। एवंभूत राक्षसविनाशाय (कण्टकीकारीम्) कण्टकानपूर्वान् करोति तां सेनां सभां वाऽऽसुव। राजसभया राजसेनया वा सर्वैकमत्येन कण्टकवद्दुःखकारणसंयोगेन राक्षसा हन्तव्या इत्याशयः॥ ८ ॥

भावार्थः—हे परमेश्वर (नदीभ्यः) नदी चलाने अर्थात् कुल्या—नहर बनाने चलाने के उद्योगी (पौञ्जिष्ठम्) पुष्कल अन्नादि पदार्थ उत्पन्न हों इस लिये सर्वत्र जल पहुंचा के उद्योग करने वाले और बनावटी नदी निकालने आदि कर्म में तत्पर प्रवीण पुरुष को परमेश्वर उत्पन्न करे जिस से प्रजा सुखी हों (ऋक्षीकाभ्यः) मरे हुए अनाथ मनुष्यादि के वा पशु पक्ष्यादि के मृतक शरीर मुर्दाओं को ठिकाने [अर्थात् मुर्दाघाट—मरघट] पर पहुंचाने रूप निषाद के कर्म करने के लिये (नैषादम्) निषाद कुल के पुरुष को उत्पन्न कर। मनुस्मृति में लिखा है कि शूद्र की कन्या में ब्राह्मण से उत्पन्न हुआ पुरुष निषाद कहाता है वह मरे हुए अनाथ शरीरों को उठा कर यथास्थान में पहुंचानेरूप कर्म का अधिकारी होने से पराशव भी कहाता है इस से जान पड़ता है कि निषाद का यही काम है वह अपने कर्म में तत्पर हो ऐसी प्रार्थना और उद्योग करना चाहिये। [इस का अभिप्राय यह नहीं है कि वर्णसंकर निषाद भी होने चाहिये किन्तु निषाद अपने काम में तत्पर हो। उस का होना तो लौकिक व्यवहार से सम्बन्ध रखता है] (पुरुषव्याघ्राय)

पुरुष सिंह के तुल्य निर्भय शूरवीर हो उस के मारने को प्रवृत्त हो (दुर्मदम्) उस वैर बुद्धि से अहङ्कार रखने वाले पुरुष को दूर कीजिये अर्थात् राज्यादि के रक्षक शूरवीर पुरुषों को मारने वाला कोई बलादि से न हो ऐसी प्रार्थना परमेश्वर से करनी चाहिये (गन्धर्वाप्सरोभ्यः) वेश्याओं के साथ रहने वाले भांड़ आदि जो उन के साथ मृदङ्ग ढोल मंजीरादि बजाने पूर्वक गाते हैं वे गन्धर्व और नांचने गाने वाली वेश्या अप्सरा उन का सत्कार और नाच आदि कराने के लिये प्रवृत्त हुए (व्रात्यम्) वैदिकसंस्कारों से पतित वर्णाश्रम धर्महीन पुरुष को दूर कीजिये। प्रायः विद्या ब्रह्मचर्य आदिक संस्कारों से हीन पुरुषों को विचारशील लोग कन्या नहीं देते अर्थात् उन का विवाह नहीं होता इस कारण उन की कोई नियत स्त्री न होने से कामातुर हुए जब गन्धर्व और वेश्याओं का आश्रय लेते हैं। और जब लोक में गन्धर्व और वेश्याओं के आदर सत्कार करने वाले होते हैं और कुलीन स्त्रियों का सत्कार मान्य प्रतिष्ठा उन के पति आदि से वैसी नहीं होती तब कुलीन स्त्रियां भी वेश्या होना चाहती हैं और अनेक वेश्यारूप में हो भी जाती हैं। इस लिये व्रात्य उन का सत्कार करने वाला न हो कि जिस से अधर्मरूप व्यभिचार बढ़े ऐसी प्रार्थना और उद्योग करना चाहिये और व्रात्य पुरुष भी न हो यह भी इसी कथन से निकलता है (प्रयुग्भ्यः) ओषधि आदि का उपयोग करने वालों के लिये प्रवृत्त हुए (उन्मत्तम्) उन्माद रोग वाले पागल को दूर करो क्योंकि उन्माद रोग वाला पुरुष ओषधि आदि के उपयोग का विरोधी होता है वह ओषधि के उपयोग से होने वाले फल को नहीं जानता किन्तु चिकित्सक को शत्रु जानता है वह ऐसा उन्मत्त न हो ऐसी प्रार्थना वा प्रयत्न करना चाहिये (सर्पदेवजनेभ्यः) विषधारी सांप वा दुष्ट लोग और विद्वान् लोगों के लिये विना विचारे प्रवृत्त हुए (अप्रतिपदम्) चलते फिरते जो पग २ में नहीं देखता वा नहीं विचार करता। धर्मशास्त्र में लिखा है कि पग से देख २ कर चले उस का मूल विधान भी यहां वेद मन्त्र से निकलता है। जो पुरुष अच्छे बुरे का प्रतिक्षण ध्यान नहीं करता उस को दूर कीजिये। संसार का व्यवहार चलाने के लिये इधर उधर जाते आते सांप आदि दुष्टों और सुख के हेतु श्रेष्ठ पुरुषों वा जीवों को पग २ में, वा प्रतिक्षण जो नहीं देखता वा नहीं विचारता वह न रहे इस प्रकार ईश्वर से याचना करनी चाहिये और देशहितैषी लोगों को वैसा ही उद्योग भी करना चाहिये (अयेभ्यः) अन्याय से उत्तम पदार्थों का

संग्रह करने के लिये प्रवृत्त हुये (कितवम्) जुआ खेलने वाले को दूर कीजिये जुआ सेवन से कोई दूसरे के पदार्थों का ग्रहण न करे इस लिये प्रार्थना और उद्योग करना चाहिये। जुआ करना बड़ा निन्दनीय और सब अधर्मों का फैलाने वाला काम है वह राज्य और प्रजा में न हो ऐसा उद्योग शिक्षक लोगों को भी अवश्य करना चाहिये (पिशाचेभ्यः) रुधिर सहित कच्चा मांसखाने वाले पिशाच कहाते हैं उन को हठाने के लिये (विदलकारीम्) मांसभक्षकों के दल-समुदाय को रोकने वाली सेना को उत्पन्न कीजिये। अर्थात् मांस खाने वालों के समुदाय का नाश वा उस कर्म से उन को दूर करने के लिये मांसभक्षणादि अधर्म के खण्डन करने में तत्पर धर्मात्मा लोगों का समुदाय सेना वा सभा बनानी चाहिये जिस की एकता के बल से पिशाच लोग अपने दुष्कर्म को छोड़ (यातुधानेभ्यः) मार्गों में धन लूट खसोट लेने वाले अर्थात् स्वार्थसिद्धि के लिये अन्याय से पराये पदार्थ हरने वाले उचक्का यातुधान नामी राक्षस कहाते हैं सो भर्तृहरि ने भी कहा है कि वे ही मनुष्य राक्षस हैं जो स्वार्थ के लिये पराये हित को विगाड़ते हैं। ऐसे राक्षसों का नाश करने के लिये (कण्टकीकारीम्) अपूर्व नवीन कांटे बोने वाली सभा वा सेना को प्रकट कीजिये अर्थात् राजसभा वा राजसेना को उचित है कि सब की एक सम्मति करके कांटों के तुल्य दुःख का कारण खड़ा करके राक्षस दुष्ट पुरुषों को मारें। यह तात्पर्य है इस मन्त्र का अभिप्राय खोल २ कर लिख दिया है इस कारण पृथक् भावार्थ करने की आवश्यकता नहीं ॥ ८ ॥

सन्धये जारं गेहायोपपतिमार्त्यै परिवित्तं निर्ऋत्यै परिविविदानमराद्ध्या एदिधिषुःपतिं निष्कृत्यै पेशस्कारीꣳ सञ्ज्ञानाय स्मरकारीं प्रकामोद्यायोपसदं वर्णायानुरुधं बलायोपदाम् ॥ ९ ॥

सन्धय इति सम्ऽधये। जारम्। गेहाय। उपपतिमित्युपऽपतिम्। आर्त्या इत्याऽऋत्यै। परिवित्तमिति परिऽवित्तम्।

निर्ऋत्या इति निःऽऋत्यै। परिविविदानमिति परिऽविविदानम्। अराध्यै। एदिधिषुःपतिमित्येऽदिधिषुःऽपतिम्। निष्कृत्यै। निःकृत्याऽइति निःऽकृत्यै। पेशस्कारीम्। पेशःकारीमिति पेशःऽकारीम्। सञ्ज्ञानायेति सम्ऽज्ञानाय। स्मरकारीमिति स्मरऽकारीम्। प्रकामोद्यायेति प्रकामऽउद्याय। उपसदमित्युपऽसदम्। वर्णाय। अनुरुधमित्यनुऽरुधम्। बलाय। उपदामियुपऽदाम् ॥९॥

पदार्थः—हे परमात्मन् (सन्धये) मेलकरणाय प्रवृत्तम् (जारम्) व्यभिचारिणं परासुव सन्धिमन्तरेण जारकर्म न सम्भवति (गेहाय) गृहिणी कुलबधूस्तस्या धर्मनाशाय पतिरस्या भवेयमिति प्रज्ञया प्रवृत्तम् (उपपतिम्) पतिमिव समीपमागन्तारं परासुव (आर्त्यै) कामदेवजन्यदुःखभोगाय प्रवृत्तम् (परिवित्तम्) कृतविवाहे कनिष्ठे बन्धावकृतोद्वाहं ज्येष्ठं परासुव। अर्थाल्लोके ज्येष्ठभ्रातृविवाहमकृत्वा कनिष्ठस्य विवाहकरणरूपाधर्मप्रवृत्तिर्न स्यात्। एतदर्थमध्यापकादिशिक्षकैराजपुरुषैश्चेश्वरप्रार्थनास्य यत्नश्च कार्यः (निर्ऋत्यै) दरिद्रतायै प्रवृत्तम् (परिविविदानम्) अप्राप्तदाये ज्यायसि भ्रातरि प्राप्तदायं कनीयांसं बन्धुम्परासुव। इदमप्यनुचितमेव यत्कनीयान्दायमादौ सर्वं वा भागमादद्यात्। एवम्भूतस्याप्यधर्मस्य जगति प्रवृत्तिर्न स्यादिति यत्नः कार्यः। अप्राप्तदायो निर्धनः परिभूतो ज्यायान् भ्राता दुःखं भुञ्जीत कनिष्ठश्च दायमुपादाय ऋद्धः सन् सुभोगान् भुञ्जीतेति महानधर्मः केनचिदपि मनुष्येण न कार्यः परमेश्वरश्च तदभावाय प्रार्थनीयः (अराध्यै) अविद्यमानसिद्धये प्रवर्त्तमानम् (एदिधिषुःपतिम्) अकृतविवाहायां ज्यायस्यां भगिन्यां या कृतोद्वाहा सती कनिष्ठा

भगिनी तस्याः पतिं परासुव । स्वस्यैवोत्कर्षं प्रायः सर्वे इच्छन्ति यादृशं सुखभोगमहमाप्नुयां तादृशमन्यः कश्चिदपि नाप्नुयादिति । अर्थात्कनिष्ठायाः पतिः स्वकार्यसाधकः पूर्वं न स्यादिदमपि पूर्व-वदनुचितमेवैतादृशोऽप्यधर्मो न स्यात् । (निष्कृत्यै) प्रायश्चि-त्ताय प्रवृत्ताम् (पेशस्कारीम्) पेशो रूपविशेषं करोति निर्मि-मीते तां वञ्चिकां परासुव । अन्या सत्यन्यथा भूत्वा साधारणान् स्त्रीपुरुषान् स्वार्थसाधनाय वञ्चयति सैवम्भूता काचिदपि डाकिनी न स्यादिति प्रार्थनाप्रयत्नौ कर्त्तव्यौ (सञ्ज्ञानाय) सम्यग्ज्ञानं रोमहर्षादि चैतन्यं कामोद्दीपनं तदर्थं प्रवृत्ताम् (स्मरकारीम्) स्मरस्य कामदेवस्य कृत्यवर्द्धिकां कुट्टिनीं परासुव । कुलबधूनां पातिव्रतधर्मनाशिका काचित्कुट्टिनी न स्यादिति प्रार्थनीयम् (प्रकामोद्याय) प्रकृष्टकामवर्द्धकवचसामुद्याय कथनाय प्रवृत्तम् (उपसदम्) समीपवर्त्तिनं सहयोगिनं गोष्ठिनं परासुव । निकटे निषण्णा मित्रादयो जनाः कामवर्द्धिकां कथां न कुर्युर्येन व्यभि-चारप्रवृत्तिः प्रजासु सङ्कराश्च नोत्पद्येरन् (वर्णाय) स्वस्य यशः करणाय प्रवृत्तम् । वर्णो द्विजादिशुक्लादियशोगुणकथासु चेति मेदिनी (शेष आगे)

श्री मंगलदेव संन्यासी जी के प्रश्न का उत्तर ॥

प्रश्न—मनुस्मृति आदि सद्ग्रन्थों में जो पापनिवृत्ति के अर्थ प्रायश्चित्त लिखे हैं उन से पाप निवृत्त होते हैं वा नहीं अर्थात् जिन पापों का प्रायश्चित्त किया जाय, वे इसी जन्म में छूटते हैं वा जन्मान्तर में भोगने से, उत्तर इन का श्रुति प्रमाण सहित हो ।

उत्तर—इस विषय पर अनेक महाशयों की कई बार सम्मति हुई कि कुछ लिखना चाहिये पर मैंने इस विचार से नहीं लिखा था कि आज कल हम प्रायः आर्यलोग प्रायश्चित्त करने योग्य हैं । जब अनेक पुरुष ठीक २ शुद्धरीति से निरालस्य होकर धर्म कर्म का अनुष्ठान करते हैं तब जो कोई प्रमादालस्य लोभ मोह क्रोधादि में फंसकर धर्मविरुद्ध आचरण करता है तो वह धर्मात्माओं से प्रायश्चित्त की व्यवस्था चाहता और धर्मात्मा विद्वान् लोग उस को प्रायश्चित्त कराते हैं और यदि सभी प्रायश्चित्त करने योग्य हों तो कौन किस को व्यवस्था पूछे और कौन किस को प्रायश्चित्त दे । यदि राजा भी चोरों का साथी होजावे और न्याय करने पर उस की निष्ठा न रहे तो वह चोरों को कदापि दण्ड नहीं दे सकता । यही दशा आज कल के धर्माचार्यों की है कि वे स्वयं सब प्रायश्चित्तीय हो रहे हैं तो अन्य लोगों को प्रायश्चित्तादि भुगा कर कैसे शुद्ध कर सकते हैं ? । कदाचित् आर्यावर्त्त भर में दो एक विद्वान् ऐसे भी निकलें जो विशेष कर प्रायश्चित्तीय न हों तो वे पराधीन होकर अधिक लोगों के प्रवाह में बह जाते हैं ऐसी दशा में प्रायश्चित्त पर विचार करना विशेष उपयोगी नहीं है तो भी अनेक मित्रों की विशेष अनुमति होने से कुछ संक्षेप से लिखता हूं—

प्रायश्चित्त से पाप निवृत्त होते हैं वा नहीं इस का उत्तर देने से पहिले यह विचार करना चाहिये कि प्रायश्चित्त क्या वस्तु है ? और शब्द का अर्थ वा इस का लाक्षणिकार्थ क्या है ? श्रीरणवीरकारित प्रायश्चित्तभाग के प्रारम्भ में किसी स्मृति के दो पद्य लिखे हैं उन को उपयोगी समझ कर यहां लिखता हूं—

प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते ।
तपो निश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तं तदुच्यते ॥ १ ॥

प्रायश्चित्त पद में दो शब्द हैं प्रायः, चित्त (प्रायस्य चित्तिचित्तयोः) इस वार्तिक से प्रायशब्द के साथ चित्तचित्ति शब्दों का समास होने से चित्तचित्ति शब्दों को

सुट् का आगम होकर सिद्ध होता है। प्राय नाम तप और चित्त नाम निश्चय ज्ञान का है तप और निश्चय करके संयुक्त क्रिया का नाम प्रायश्चित्त है। तप नाम द्वन्द्वसहन वा चान्द्रायणादि व्रतों का यथावत् अनुष्ठान करना है उस तप के करने से दुराचरणसम्बन्धी चित्त की भ्रान्ति छूट कर ठीक निश्चल चित्त जिस क्रिया के अनुष्ठान से हो वह प्रायश्चित्त कहाता है। तथा च—

प्रायशश्च समं चित्तं चारयित्वा प्रदीयते।
पर्षदा कार्यते यत्तु प्रायश्चितं तदुच्यते॥ २॥

दुष्ट आचरण से जो चित्त में विषमता प्राप्त हो जाती है यही विषमतारूप चित्त की वासना पाप है इस की समता जिस क्रिया के आचरण से हो और जो विद्वान् धर्माचार्यों की सभा से अपराधी के निवेदन करने पर राजदण्ड के तुल्य नियत हो कि तुम ऐसा करो वह प्रायश्चित्त कहाता है। अर्थात् राजदण्ड के तुल्य यह भी एक प्रकार का दण्ड भोगना है। राजदण्ड क्षत्रिय राजा की ओर से नियत होता है राजदण्ड अपराधी भोगना न चाहे तो भी राजा दण्ड अवश्य देगा और प्रायश्चित्तरूप दण्ड ऋषि महार्षि वेदशास्त्रज्ञ धर्मात्मा विद्वान् ब्राह्मणों की ओर से नियत होता है राजदण्ड प्रायः अधर्मी अपराधियों के लिये होता और प्रायश्चित्त दण्ड धर्मात्मा अपराधियों के भोगने को है क्योंकि अधर्मी अपराधी राजदण्डादि इच्छानुसार भोगना नहीं चाहता तो भी राजा उस को दण्ड देता ही है और धर्मात्मा अपराधी से किसी प्रकार का अपराध धर्मविषय में प्रमादादि से हो जावे और धर्म में उस की रुचि हो वा भूल से कुछ काम होगये हों तो पीछे ग्लानि आकर वैसे दुःसङ्गादि सर्वथा छोड़ना चाहे और धर्मानुकूल वर्त्तने को दृढ़ संकल्प हो जावे तो वह भी धर्माचार्यों की आज्ञानुसार प्रायश्चित्त कर सकता है। राजदण्ड में बन्ध शारीर कष्ट (कैद) और धनदण्ड (जुर्माना) दो बातें मुख्य हैं सो प्रायश्चित्त में भी किसी नियत स्थल में रहने आदि के अनेक नियम और दान आदि में जो धन दिया जाता है वह सब धनदण्ड (जुर्माना) है राजदण्ड क्षत्रियराजसभा में विवेचनापूर्वक नियत होता और प्रायश्चित्त विद्वान् धर्मात्मा ब्राह्मणों की सभा से नियत हो कर भोगा जाता है इसी लिये कहा है कि (पर्षदाकार्यते०) अर्थात् वेदवेत्ता विद्वानों की सभा जहां धर्मसम्बन्धी सन्देहों का निर्णय होता हो उस आर्यधर्मसभा में जाकर अपराधी अपने अपराध को स्वयं

ठीक २ निवेदन करे और विद्वान् लोग उस के लिये दण्ड भोग नियत कर दें वही प्रायश्चित्त कहाता है ॥

जब यह बात सिद्ध हुई कि राजदण्ड के तुल्य एक प्रकार का दण्डभोग प्रायश्चित्त भी है तो यदि राजदण्ड से पाप छूट जाते हैं तो प्रायश्चित्त कर लेने से भी पाप छूट सकते हैं । और छूटने भी अवश्य चाहिये । क्योंकि अज्ञात पापों का फल ईश्वरीय व्यवस्था से जन्मान्तर में वा उसी जन्म में होता है और जिन का दण्डरूप फल राजनियमानुसार दे दिया जाता है उन का फल पुनः भोगने ही पड़े तो अन्याय है । वास्तव में प्रायश्चित्त दण्ड दुःखभोगरूप ही है और इसी विचार से किया जाता है कि उस अपराध से हम छूटें । यदि न छूटे तो राजदण्ड भोग भी अन्याय है इसलिये धर्मानुसार विचारपूर्वक न्यायबुद्धि से नियत किये राजदण्ड के भोग लेने से अवश्य पाप छूट जाता है वह पुरुष फिर उस दण्ड वा अपराध का भागी नहीं रहता न उस को फिर अपने पाप का फल वर्त्तमान जन्म वा जन्मान्तर में भोगने पड़े इसी प्रकार धर्मानुसार नियत किये प्रायश्चित्त के भोग लेने से भी फिर उस का दण्ड कभी भोगना न पड़ेगा जिस अपराध के छूटने के लिये प्रायश्चित्त किया गया है । और यदि न्यायाधीश राजा तथा साक्षी आदि के सत्य न बोलने से अपराधी को ठीक दण्ड नहीं दिया गया वा अनपराधी को दण्ड दे दिया गया तो वह राजसभा का अन्याय है—

पादोऽधर्मस्य कर्त्तारं पादः साक्षिणमृच्छति ।
पादः सभासदः सर्वान् पादो राजानमृच्छति ॥ मनु०

उस का फल चतुर्थांश अपराधी को चतुर्थांश साक्षी को चतुर्थांश सब सभासदों को और चतुर्थांश अपराध राजा को पहुंचता है । इसी प्रकार यदि धर्माचार्य पण्डित प्रायश्चित्त की व्यवस्था विपरीत देवे तो उस कार्य से सम्बन्ध रखने वालों सहित अपराध का भागी होता है । और प्रायश्चित्त अज्ञात पाप निवृत्ति के लिये भी किये जाते हैं वे प्रायः तप कहाते हैं सो यदि ठीक२ श्रद्धापूर्वक किये जावें तो अवश्य अन्तःकरण के मलरूप पाप छूट सकते हैं ॥

अब यह विचार कर्त्तव्य है कि किन मनुष्यों को प्रायश्चित्त करने की आवश्यकता है । सो मनुस्मृति में लिखा है कि—

अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् ।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥१॥ अ० ११

जो मनुष्य वेद वा धर्मशास्त्र में कहे वर्णाश्रमधर्मसम्बन्धी अपने कर्त्तव्य कर्म को नहीं करता और निन्दित अर्थात् वेदशास्त्र में जिस पापकर्म का निषेध है उस को करता है और विषयों में लिप्त लम्पट है वह पुरुष प्रायश्चित्त करने योग्य होता है । मैं प्रथम ही लिख चुका हूं कि प्रायश्चित्त करने योग्य वर्त्तमान समय में प्रायः मनुष्य हैं तो कोई ही प्रायश्चित्त से बच सकता है । प्रायश्चित्तरूप कष्ट के भोग लेने से और यथापराध दण्ड नियत हो जाने से दृष्टजन्मवेदनीय कर्म छूट जाते हैं अर्थात् कर्म दो प्रकार के हैं एक दृष्टजन्मवेदनीय दूसरे अदृष्टजन्मवेदनीय, वर्त्तमान जन्म में जिन का भोग होना नियत है वे दृष्टजन्मवेदनीय और जन्मान्तर में जिन का भोग होगा वे अदृष्टजन्मवेदनीय कहाते हैं अदृष्टजन्मवेदनीय कर्मों की शान्ति के लिये प्रायश्चित्तरूप तप किया तो भी इतना उपयोग अवश्य होगा कि उन का संस्कार वा दुष्टवासना मलीन पड़ जावें तो जन्मान्तर में सुगमता से भोगे जावें विशेष कष्ट न उठाने पड़े ॥

पाप का छूटजाना जब कहा गया तो लगजाना भी कहा जायगा । इस को जब ध्यानदृष्टि वा शास्त्रों के सिद्धान्त के अनुसार देखें तो छूटना लगना यही ठहरता है कि जब मनुष्य अच्छा बुरा कर्म इन्द्रियों वा शरीर से करता है तब उस के अन्तःकरण में वैसा ही संस्कार हो जाता अर्थात् उस को उस का यथावत् ज्ञान हो जाता है अच्छे पुण्य कर्म का अच्छा संस्कार पुण्यरूप होता उसी को संचित पुण्य बोलते हैं और दुष्टकर्म चोरी जारी आदि का बुरा भयलज्जादि युक्त निकृष्ट हृदय को बिगाड़ने वाला पापरूप संस्कार होता है उसी को पाप लग जाना कहते हैं ऐसे अच्छे बुरे असंख्य संस्कार मनुष्य के हृदय में अनेक जन्मों के संचित रहते हैं वे ही संचित पाप पुण्य कहाते हैं इन संस्कारों के दो भेद हैं एक उद्भूत दूसरे अनुद्भूत । जिन का अच्छा स्मरण हो वा जिन संचित पापपुण्यों के भोगने का समय आगया फल पकने पर आया वा भोग होने लगा वे उद्भूत संस्कार हैं और जो दबे हुए संस्कार हैं जिन का किञ्चित् भी स्मरण नहीं जिन का परिपक्व होना वा फल होना दूर है वे अनुद्भूत संस्कार माने जाते हैं उन्हीं अच्छे बुरे संस्कारों के अनुकूल उस मनुष्य को वासना,

विचार, कर्त्तव्य वा बुद्धि आदि रहते हैं और बुद्धि के अनुसार ही भोग होता है। क्योंकि वास्तव में भोग नाम बुद्धि का ही है।

भोगायतनं शरीरं भोगो बुद्धिर्भोक्ता जीवात्मा।

यह न्यायशास्त्र के वात्स्यायन भाष्य का अभिप्राय है। सो बुद्धि एक अनित्य पदार्थ है अर्थात् देश काल वस्तुओं के भिन्न २ संस्कार होने से लौट पौट होती रहती है। जब घर में दीपक जलाया जाता है तब उस के विरोधी अन्धकार की निवृत्ति होजाती है। इस में इतना भेद है कि जब दीपक बुत जावे वा गृहान्तर में धर दिया जावे तो अन्धकार फिर हो जायगा इस विचार से लोग कहते वा मानते हैं कि अन्धकार का अभाव प्रकाश से नहीं होता किन्तु दब जाता है जब दबाने वाला न रहा तब फिर प्रकट हो गया अथवा यों कहिये कि प्रकाश के अन्योन्याभाव का नाम अन्धकार है जहां प्रकाश नहीं वहां उस प्रकाश के न होने का नाम अन्धकार है। यही दशा अन्तःकरण के पाप पुण्यरूप संस्कारों की है कि थोड़ी २ देर में अच्छे बुरे संस्कार दबते उछलते रहते हैं। जब विद्याभ्यास, योगाभ्यास, सत्सङ्ग, स्तुति प्रार्थना, उपासना, तप आदि के अनुष्ठान से अच्छे प्रकार अन्तःकरण में अच्छे शुद्ध संस्कारों का उदय होता है तब मलीन पाप-सम्बन्धी सब संस्कार दब जाते हैं और जब काम क्रोध लोभ मोहादि के वश होने से वा दुष्ट जनों की सङ्गति से बुरे संस्कारों का उदय होता है तब अच्छे धर्मसम्बन्धी संस्कार दब जाते हैं। रागद्वेषादि सम्बन्धी वासनाओं का सर्वथा अभाव कभी नहीं होता किन्तु कभी किसी के सर्वथा रागद्वेषादि छूटते हैं तो वही मुक्त हो जाता है। संसार में रह कर सभी मनुष्यों में न्यूनाधिक राग-द्वेषादि दोष बने ही रहते हैं। अब यह व्याख्यान कर्मगति की ओर चला जाता है इस लिये प्रकृत का विचार करना चाहिये प्रायश्चित्त एक प्रकार धर्म का अनुष्ठान वा तप करना है उस में जपपाठादि द्वारा परमात्मा की स्तुति प्रार्थना वा उपासना भी की जाती है इस लिये प्रायश्चित्त से अन्तःकरण के बुरे संस्कार छूट कर चित्त में एक प्रकार की प्रसन्नता वा शुद्ध वासना स्थित होती हैं। चान्द्रायणादि व्रत जो प्रायश्चित्त में मुख्य कर्त्तव्य हैं उन का नाम तप कहा गया है तप शब्द का अर्थ तपाना है। जैसे अग्नि में सुवर्णादि को तपाने से उन का मल दूर होके शुद्ध धातु रह जाते हैं। इसी प्रकार शरीर इन्द्रियों को चान्द्रायणादि द्वारा तपाने से निर्मल होते हैं और निर्मल होना ही मलीन वासनारूप पापों का छूटना है इस से सिद्ध हुआ कि प्रायश्चित्त से पापों की निवृत्ति होती है॥

अब इस में इतना विचार शेष रहा कि यदि प्रायश्चित्त से पाप छूटते हैं तो तीर्थयात्रा गङ्गास्नान किसी मूर्त्तिपाषाणादि के दर्शन से भी पाप छूटने चाहिये क्योंकि ये एकादशी आदि के व्रत भी प्रायश्चित्त हैं यदि ऐसा हो तो मनुष्यों को कुपथ्य करने में कुछ भी शङ्का न रहेगी थोड़े से सहज उपायों से बड़े २ पापों को छुड़ा देने का साहस रहेगा। सो यह ठीक नहीं क्योंकि ये बातें पौराणिक मतवाद की हैं ये मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों के सिद्धान्त से विरुद्ध हैं इसी लिये प्रायश्चित्त नहीं हैं मनुस्मृति में जिन पातकों का प्रायश्चित्त बहुत कठिन बहुत दिनों में करने को लिखा है उस को पौराणिकों ने किसी पत्थर आदि की मूर्त्ति के देख लेने मात्र से कह दिया है इन दोनों के विवाद में मानवधर्मशास्त्र ही सत्य माना जायगा। यथाः—

ब्रह्महा द्वादश समाः कुटीं कृत्वा वने वसेत्।
भैक्ष्याश्यात्मविशुद्ध्यर्थं कृत्वा शवशिरोध्वजम्॥
लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्याद्विदुषामिच्छयात्मनः।
प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्शिराः॥३॥

भावार्थः—चार महापातकों में जिस ने ब्रह्महत्या की हो अर्थात् अपने धर्म कर्म में स्थित निष्कलङ्क ब्राह्मण को मार डाला हो अपने स्वार्थ के लिये वा कामक्रोधादि के वश हो के मारा हो वह यदि ब्रह्महत्यारूप महापातक के घोर दुःख से बचना चाहे तो वह पापी अपने आत्मा की शुद्धि के लिये कुटी बना कर बारह बरस बन में बसे मुर्दो की खोपड़ी की ध्वजा बना कर पास रक्खे नित्य भिक्षा मांग कर खाया करे और ईश्वर की उपासना किया करे। अथवा अपनी इच्छा प्रसन्नता पूर्वक विद्वान् ब्राह्मणों के हाथ में शस्त्र दे करके कहे कि मेरे शरीर में गोली वा बाण मारो इस प्रकार स्वयं भी मर जावे अथवा नीचे को शिर कर २ तीन बार जलते हुए अग्नि में गिर २ के जल जावे इत्यादि अतिकठिन प्रायश्चित्त करने से ब्रह्महत्या का पाप छूट जा सकता है॥

और एक उपपातक का भी प्रायश्चित्त सुनियेः—

उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो मासं यवान् पिबेत्।
कृतवापी वसेद्गोष्ठे चर्मणा तेन संवृतः॥ १॥

चतुर्थकालमश्नीयादक्षारलवणं मितम् ।
गोमूत्रेण चरेत्स्नानं द्वौ मासौ नियतेन्द्रियः ॥ २ ॥
दिवानुगच्छेद्गास्तास्तु तिष्ठन्नूर्ध्वं रजः पिबेत् ।
शुश्रूषित्वा नमस्कृत्य रात्रौ वीरासनं वसेत् ॥ ३ ॥
तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेत्तु व्रजन्तीष्वप्यनुव्रजेत् ।
आसीनासु तथासीनो नियतो वीतमत्सरः ॥ ४ ॥
आतुरामभिशस्तां वा चौरव्याघ्रादिभिर्भयैः ।
पतितां पङ्कलग्नां वा सर्वोपायैर्विमोचयेत् ॥ ५ ॥
उष्णे वर्षति शीते वा मारुते वाति वा भृशम् ।
न कुर्वीतात्मनस्त्राणं गोरकृत्वा तु शक्तितः ॥ ६ ॥
आत्मनो यदि वाऽन्येषां गृहे क्षेत्रेऽथवा खले ।
भक्षयन्तीं न कथयेत् पिबन्तं चैव वत्सकम् ॥ ७ ॥
अनेन विधिना यस्तु गोघ्नो गामनुगच्छति ।
स गोहत्याकृतं पापं त्रिभिर्मासैर्व्यपोहति ॥ ८ ॥

भाषार्थः—उपपातकों में गोहत्या पहिला पातक है इस का वक्ष्यमाण रीति से तीन महीने प्रायश्चित्त करना चाहिये । पहिले एक मास भर शिर के सब बाल मुड़ा के और जिस गौ की हत्या की हो उसी का चमड़ा ओढ़ कर गोशाला में वसे और जौ के सत्तू पानी में घोल कर पी लिया करे ॥ १ ॥

एक महीने भर इस उक्त प्रकार से निर्वाह करके पीछे मिर्च खटाई और लवणादि रहित हविष्यान्न का परिमित थोड़ा भोजन दिन के चौथे पहर में एक बार किया करे । और इन्द्रियों को वश में करके दो मास भर गोमूत्र से स्नान किया करे । दिन में गौओं के पीछे २ फिरा करे गौओं की धूलि उड़े उस को मुख में लिया करे गौओं की शुश्रूषा और उन को नमस्कार करे । रात्रि को जहां गौयें बैठती रहती हों वहां गोष्ठ में वीरासन लगा कर बैठा करे रात्रि को सोवे नहीं (बांये पग को गुदा के नीचे रखने और दहिने जानु को खड़े रखने को

वीरासन कहते हैं) गौयें जहां खड़ीं हों वहां उन के पीछे खड़ा रहे और चलने लगें वहां पीछे २ चल दे। जब गौ बैठ जावे तब आप भी बैठ जावे किसी प्रकार की ग्लानि वा मत्सरता चित्त में न रक्खे। किन्तु श्रद्धा पूर्वक यह सब करे। गौ को रोग हो वा कोई मारता हो वा चोर सिंहादि हिंसकों का भय हो अथवा गौ गिर पड़ी हो वा कीचड़ में फस गई हो तो इन सब उपाधियों से सब उपाय करके छुड़ावे। अतिगर्मी हो वा बर्षा हो वा अतिशीत हो अथवा अत्यन्त आंधी चल रही हो ऐसी दशा में गौ की रक्षा किये विना अपनी रक्षा न करे। किन्तु यावत् शक्य गौ की ही रक्षा करे। अपने वा अन्य के घर में खेत में वा खलियान में गौ खाती हो तो किसी से न कहे और बछरा चोंखता हो तो भी किसी को न बतावे। गोहत्या करने वाला पुरुष इस विधि से यदि गोसेवा करे तो वह गोहत्या से हुए पाप से तीन महीने में छूट जाता है ॥ ८ ॥

अब विचार का स्थल है कि प्रायश्चित्त जिस से पाप छूट सकते हैं उन में धर्मशास्त्रकार ऋषि मुनियों ने कैसे २ कष्ट भोगने का नाम प्रायश्चित्त रक्खा है। ऐसे पापों की निवृत्ति पौराणिक लोग एक किसी मूर्त्ति आदि के दर्शन वा स्नान अथवा एक दिन भूखे रह जाने मात्र से कहें तो कैसे सम्भव है? अर्थात् धर्मशास्त्र से विरुद्ध होने से माननीय नहीं। पाठकों को इन उदाहरणार्थ लिखे दो प्रायश्चित्तों के देखने से अनुमान हो जायगा कि प्रायश्चित्त वास्तव में दुष्ट कर्म का फल दुःख भोग ही है और भोगने से पाप छूटते हैं यह वेद का सिद्धान्त ही है ॥

अब वेद से प्रायश्चित्त का प्रमाण देना शेष रहा इस में यह तो अवश्य ही समझ लेना चाहिये कि जिन विषयों का वर्णन जिस प्रकार से धर्मशास्त्रों में किया है वैसा ही यदि वेद में होता तो धर्मशास्त्रकारों का लेख पिष्टपेषणवत् पिसे को पीसने के तुल्य अवश्य माना जाता इस लिये सब विद्वानों का सिद्धान्त यह है कि वेद सब विद्याओं का मूल है मनुधर्मशास्त्र वेदमूलक है वेद का आशय लेकर धर्मशास्त्रों में व्याख्या की है सो वेद से प्रायश्चित्त विषय का मूल मात्र प्रमाण दिया जा सकता है उस के विशेष प्रकार का विधान धर्मशास्त्र में मिलेगा। इस लिये पहिले धर्मशास्त्र को ही देखो:—मनु० अ० ११

सावित्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः।
सर्वेष्वेव व्रतेष्वेवं प्रायश्चित्तार्थमादृतः ॥ १ ॥

अर्थः—सब प्रायश्चित्तों में यह सामान्य नियम समझना चाहिये कि नित्य गायत्री (तत्सवितु०) मन्त्र का तथा पवित्रताविधायक मन्त्रों का श्रद्धापूर्वक यथा शक्ति आत्मा की शुद्धि के लिये निरन्तर जप किया करे पवित्रता विधायक मन्त्र—

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहिमा॥

इत्यादि मन्त्र पवित्रता विधायक हैं इन का अभिप्राय स्पष्ट है कि मुझ को प्राणी अप्राणी तथा परमेश्वर पवित्र करे इस से सिद्ध हुआ कि मैं पवित्र नहीं हूं मेरे अन्तःकरण में दुष्टवासनारूप संस्कार पाप हैं वे दूर हों मेरा अन्तःकरण निर्मल निष्कलङ्क हो ऐसा कहने वाला प्रायश्चित्तरूप अन्य भी शुद्ध होने की क्रिया करेगा। यदि अशुद्ध से शुद्ध न होता तो वेद में ऐसी आज्ञा न होती। और अघ-मर्षण सूक्त (ऋतं च सत्यं चाभीद्धा०) जो सन्ध्या करते समय पढ़ा जाता है उस का नाम ही अघमर्षण है अघ नाम पापरूप मल जिस से दूर हो ऐसा प्रयत्न करना चाहिये। और देखिये मनु० अ० ११

कौत्सं जप्त्वाप इत्येतद्वासिष्ठं च प्रतीत्यृचम्।
माहित्रं शुद्धवत्यश्च सुरापोऽपि विशुध्यति॥
कणान्वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सकृन्निशि।
सुरापानापनुत्त्यर्थं वालवासा जटी ध्वजी॥ १॥

यदि किसी ब्राह्मणादि द्विज पुरुष ने मद्य पान किसी प्रमाद वा भूल से कर लिया हो तो उस को चाहिये कि वह सुरापान के अपराध से छूटने के लिये एकान्त किसी बाग आदि में कुटी बना कर १ एक वर्ष प्रायश्चित्त करे। एक मद्य के पात्र (बोतल) आदि के चिन्ह सहित ध्वजा बना कर हाथ में रक्खे। सब बाल रखाये रहे। ऊन के वस्त्र की ही लँगोटी तथा अन्य कम्बलादि वस्त्र सब ऊन के ही रक्खे। रात्रि में एक वार चावल का दरिया वा तिल की पीना को खाया करे॥

कुत्स जिस का ऋषि है उस [अप नः शोशुचदघं०] सूक्त, वसिष्ठ जिस का ऋषि है उस [प्रतिस्तोमेभिरुषसं वसिष्ठाः०] सूक्त, महित्री शब्द जिस में

विद्यमान है उस [महिम्नीणामवोस्तु०] इस मन्त्र, शुद्ध शब्द जिन ऋचाओं में हो [शुद्धमपापविद्धम्०] इत्यादि मन्त्रों का जप वा पाठ करता हुआ वर्ष भर ईश्वर की स्तुति प्रार्थना करता रहे तो वह मद्यपान का अपराधी एक वर्ष में शुद्ध हो सकता है। इसी प्रकार सुवर्ण की चोरी के प्रायश्चित्त के साथ शिवसङ्कल्प सूक्त अर्थात् जिन छः मन्त्रों के अन्त में [तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु] पाठ है इस सूक्त का जप वा पाठ करे इस से सिद्ध होता है कि इन उक्त वेद के मन्त्रों में दुष्टवसनारूप पाप की निवृत्ति का उपाय कहा गया है उसी उपाय का नाम प्रायश्चित्त है। और संस्कारगर्भाधानादि में वेद मन्त्रों से अनेक प्रायश्चित्ताहुति दी जाती हैं जैसे —

सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां
संमर्द्धयित्रेऽग्नये स्विष्टकृते स्वाहा॥

यह प्रायश्चित्ताहुति विधान की है। इत्यादि कथन से सिद्ध हो गया कि प्रायश्चित्त जो धर्मशास्त्र में कहे हैं वे सब वेदमूलक हैं। और प्रायश्चित्त कर लेने की आशा से मनुष्य पाप करेंगे यह नहीं हो सकता क्योंकि अधर्मी के लिये प्रायश्चित्त नहीं है किन्तु धर्मात्माओं के लिये हैं और प्रायश्चित्त कोई सहज काम नहीं है इस लिये यह शङ्का ठीक नहीं ॥

प्रायश्चित्त विषय पर मैं संक्षेप से लिख चुका वैसे तो वेदादि शास्त्र समुद्र के तुल्य अगाध हैं उन के आश्रय से वर्षों तक एक विषय पर लेख हो सकता है यहां केवल प्रयोजन यही था कि वेद के मन्त्रों और मनुस्मृति का तात्पर्य प्रायश्चित्त विषय में दिखा दिये जावें सो हो गया इस से सिद्ध है कि प्रायश्चित्त वेदमूलक है ॥

अब उपसंहार में यही फिर लिखता हूं कि हम लोग प्रायश्चित्त के योग्य भी न रहे सर्वथा पतित हो गये हैं धर्मशास्त्रों में प्रायः अज्ञान से हुए पापों के प्रायश्चित्त लिखे हैं हम लोग जान बूझ कर मद्यमांसादि भक्षण तथा विश्वासघात और स्वार्थसाधन के लिये अनेक छलकपटादि प्रतिदिन बहुत काल से कर रहे हैं किसी अच्छे समुदाय वा समाज में सुधार के लिये प्रविष्ट हुए भी फिर २ वैसे ही काम करते हैं। इस दशा में मेरे विचारानुसार यही कर्त्तव्य है कि जैसा धर्मशास्त्रकार मनु ने लिखा है:—

यथायथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हति ।
तथातथा शरीरन्तत्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥
अज्ञानाद्यदि वा ज्ञानात्कृत्वा कर्म विगर्हितम् ।
तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन् द्वितीयं न समाचरेत् ॥

जैसे २ मनुष्य का मन दुष्ट कर्म को निन्दित समझता है वैसा २ उस का शरीर अधर्म से छूटता है । अज्ञान से वा ज्ञान से निन्दित अधर्मसम्बन्धी कर्म हो जावे तो उस से छूटने की इच्छा करते हुये पुरुष को उचित है कि फिर वैसा काम न करे ॥

और अपने को प्रायश्चित्तीय अर्थात् पापी समझता हो वा न समझता हो तो भी सब दशा में प्रत्येक मनुष्य को प्रायश्चित्त का सामान्य विधान दो एक वर्ष में एक वार १५ दिन वा एक मास तक अवश्य करना चाहिये । तद्यथाः—

महाव्याहृतिभिर्होमः कर्त्तव्यः स्वयमन्वहम् ।
अहिंसा सत्यमक्रोधमार्जवं च समाचरेत् ॥
त्रिरह्नस्त्रिर्निशायां च सवासा जलमाविशेत् ।
स्त्रीशूद्रपतितांश्चैव नाभिभाषेत कर्हिचित् ॥
स्थानासनाभ्यां विहरेदशक्तोऽधः शयीत वा ।
ब्रह्मचारी व्रती च स्याद् गुरुदेवद्विजार्चकः ॥
सावित्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः ।
सर्वेष्वेव व्रतेष्वेवं प्रायश्चित्तार्थमादृतः ॥

सब धर्मसम्बन्धी अनुष्ठानों में अग्निहोत्र करते समय प्रथम महाव्याहृतियों से होम करे । नित्य हिंसा, असत्य वर्त्ताव, क्रोध और कटु वचन बोलने का त्याग करे । तीन वार दिन में और तीन वार रात्रि में किसी नदी में वस्त्रों सहित स्नान करे । स्त्री, शूद्र और पतितों के साथ किसी प्रकार का कुछ भी वार्त्तालाप न करे । घर से पृथक् किसी एकान्त बाग आदि में रहे शहर वा ग्राम में डोलने को भी न जावे किन्तु उसी स्थान वा आसन के इधर उधर भ्रमण करता रहे जब न चला फिरा जावे तब पृथिवी पर लेट जावे अर्थात् खटिया

पर न सोवे। उतने दिन ब्रह्मचारी रहे सूक्ष्म हविष्यान्न का भोजन करे गुरु अग्निहोत्र और श्रेष्ठ विद्वानों का सत्कार वा सेवन करे गायत्री और (पुनन्तु मा०) इत्यादि मन्त्रों का नित्य जप वा पाठ करे। इस प्रकार प्रायश्चित्त करना तप कहाता है इस से अन्तःकरण की दुष्टवासनारूप पापों की निवृत्ति होती है॥

मुंशी इन्द्रमणिकृत अनन्ततत्वप्रकाश का उत्तर॥

अनेक पाठक महाशयों को अच्छे प्रकार ज्ञात होगा कि मुंशी इन्द्रमणि जी सच्चे आर्य थे और श्री स्वामी दयानन्दसरस्वती जी महाराज के साथ पहिले पूर्ण मैत्री रखते थे और मुंशी जी की समाजों में बड़ी प्रशंसा प्रतिष्ठा भी होने लगी थी इतने में मुंशी जी के ऊपर एक आपत्काल अकस्मात् आगया अर्थात् महम्मदी लोगों के खण्डन विषय में एक पुस्तक मुंशी जी ने छपाया था उस पर मुसलमानों ने नालिश कर दी उस पर सहायता करने के लिये स्वामी जी महाराज ने अनेक लोगों को सूचना दी जिस पर मुंशी जी के पास कई हजार रुपया सहायता में एकत्र होगया पीछे स्वामी जी महाराज ने हिसाब मांगा कि कितना धन आप के पास आया और किस२ अंश में कितना खर्च हुआ स्वामी जी महाराज का विचार था कि यदि कुछ धन शेष रहा हो तो वह कहीं जमा कर दिया जावे और ऐसे ही विपत् में किसी को सहायता उस से दी जावे अर्थात् इस विषय का एक कोष नियत कर लिया जावे। ऐसा कहने पर मुंशी जी ने हिसाब न दिया और कहा कि आप हम से क्यों हिसाब मांगते हैं अर्थात् हम हिसाब न देंगे। इस पर कई बार कहा सुनी होते२ स्वामी जी से मुंशी जी का भेद पड़ गया इस से पहिले स्वामी जी के किसी विचार का खण्डन मुंशी जी ने नहीं लिखा था जब द्वेष उत्पन्न हो गया तो मुंशी जी ने स्वामी जी के कई विचारों का खण्डन करना प्रारम्भ कर दिया। यद्यपि मित्रता के समय में भी कई बातें स्वामी जी के सिद्धान्त से विपरीत मुंशी जी मानते थे और जब२ आपस में मिलते थे तब२ कुछ२ चर्चा भी प्रसन्नता पूर्वक हुआ करती थी पर विरोध किसी प्रकार का नहीं था। यह धनसम्बन्धी विषय ऐसा है कि जिस के लालच ने एक उपकार सम्बन्धी काम में विघ्न डाल दिया। मुंशी जी जो संसार का उपकार कर सकते थे वह सब नष्ट हो गया। स्वामी जी का लालच न कोई सिद्ध कर सकता न मान सकता है क्योंकि प्रथम तो स्वामी जी स्वयं उस धन को चाहते नहीं थे और कदाचित्

स्वयं भी चाहते तो उन के पास का सर्वस्व परोपकारार्थ वा स्वार्थ के लिये कुछ नहीं था इस से मुंशी जी का ही लोभ सिद्ध हो गया । और इस लोभ के पीछे ऐसे महात्मा के विरोधी बनने पड़ा। इसी विरोध से मुंशी जी ने खण्डन किया है। अच्छे २ बुद्धिमान् वा विद्वानों में भी किसी २ अंश में बुद्धिभेद रहता है और यह पहिले से चला आया है इस से कोई विशेष नाहि नहीं होती हानि केवल विरोध से होती है। इस विषय को मैं ने सूक्ष्मता से इस लिये लिख दिया है कि कोई २ पाठक लोग इस मूलकारण को न जानते होंगे । और मुंशी जी तथा स्वामी जी में जो २ कुछ हुआ था उस का विस्तार करने से बहुत बढ़ जाता इस लिये नहीं लिखता (लोभः पापस्य कारणम्) ॥

अब विचारणीय यह है कि मुन्शी इन्द्रमणि जी के शिष्य एक ला० जगन्नाथदास हैं उन्हों ने एक पुस्तक प्रश्नोत्तरी नामक छपाया था उस में कई बातें ऐसी थीं जो शास्त्र के सिद्धान्तों से विरुद्ध समझी गयीं वह पुस्तक समाजों में प्रचरित होने लगा था उस से आर्य लोगों को अन्यथा भ्रम न हो इस लिये ? स्वामी जी महाराज ने किसी अपने सहकारी को सम्मति दे दी थी कि इस का उत्तर छपा दो उस का उत्तर देशहितैषी मासिकपत्र में जो अजमेर से निकलता था छप गया था । उसी उत्तर पर मुन्शी जी ने यह अनन्तत्त्वप्रकाश पुस्तक लिखा है। विचार का स्थान है कि जगन्नाथदास के बनाये पुस्तक का खण्डन हुआ तो मुन्शी जी बीच में उत्तर देने को क्यों उद्यत हो गये शिष्य के विचार का खण्डन होजाने से गुरू की कुछ हानि नहीं हो सकती । गुरू के पक्ष का प्रतिपादन वा समाधान शिष्य करे यह तो सब का विचार वा सिद्धान्त है ऐसा ही प्रायः लोग करते भी हैं पर यह उलटी रीति यहीं देखी कि शिष्य के पक्ष का समाधान गुरू करे । इस से गुरू की न्यूनता होती है कि मूलकर्त्ता शिष्य और भाष्यकर्त्ता गुरु हुए । क्या आवश्यकता थी कि जगन्नाथदास के विचार के खण्डन पर मुन्शी जी ने उत्तर दिया । जब खंडन सत्य २ था तो क्यों नहीं मान लिया अस्तु जो हो अब देखिये—

मुन्शी इन्द्रमणि जी—प्रकट हो कि वेदादिक सत्शास्त्रों के जानने वाले ऋषि मुनि और आचार्यों का सनातन से यही मत चला आया है कि जीव अनन्त अर्थात् संख्या रहित हैं इसी कारण जगन्नाथदास ने अपनी प्रश्नोत्तरी में लिखा था कि जीव वास्तविक अनन्त हैं इस कारण ईश्वर के ज्ञान में भी अनन्त ही हैं ॥

समीक्षक—महाशयो ! ध्यान दीजिये ! यदि यह बात सत्य है और मुन्शी जी वा जगन्नाथदास जी सब ऋषि मुनियों का सिद्धान्त कहते हैं तो किसी का प्रमाण क्यों नहीं दिया—

ऐसे तो हम भी लिख वा कह दे सकते हैं कि जीव वास्तविक सान्त हैं इसी कारण परमेश्वर के ज्ञान में भी सान्त ही हैं । इतना लिख देने वा कह देने मात्र से किसी पक्ष की पुष्टि नहीं समझी जाती जब तक अनुमान वा शास्त्रीय प्रमाणों से सिद्ध न कर दिया जावे कि इस प्रकार अनन्त वा सान्त हैं ।

मुं०—पंडित दयानन्द सरस्वती ने सब के विरुद्ध देशहितैषी मासिकपत्र संवत् १९३९ कार्त्तिक मास में यह व्याख्यान मुद्रित कराया कि जब जीव देश काल वस्तु परिछिन्न अर्थात् भिन्न२ हैं उन को अनन्त कहना मानो एक अज्ञानी का दृष्टान्त बनना है । अनन्त तो क्या परन्तु परमेश्वर के ज्ञान में असंख्य भी नहीं हो सकते इत्यादि पंडित दयानन्द सरस्वती के इस लेख से पंडितों की तो किसी प्रकार हानि नहीं परन्तु जो लोग कि वेदादि सत्शास्त्रों का ज्ञान नहीं रखते उन का असन्मार्ग में प्रवृत्त होना सम्भव है । अतएव वेदादि सत्शास्त्रों से जीवों का अनन्त होना सिद्ध किया जाता है और दयानन्दसरस्वती को उन के असमंजस कथन से चुप—

समीक्षक—इस का प्रस्ताव मैं पहिले लिख चुका हूं कि किस प्रकार देशहितैषी पत्र में लेख छपाया गया । किसी मनुष्य से जब द्वेष हो जाता है तब उस का नाम अप्रतिष्ठा के साथ लिखते वा कहते हैं परन्तु यह असभ्य लोगों का व्यवहार है सभ्य सज्जन पुरुष प्रतिष्ठित शत्रु का भी नाम प्रतिष्ठा के साथ ही कहते वा लिखते हैं । पंडित आदि शब्दों में संस्कृत के नियमानुसार कई अशुद्धि हैं उन पर मैं ध्यान नहीं देता क्योंकि मुंशी जी को संस्कृत विद्या के विद्वान् होने का अहङ्कार मेरी समझ में नहीं है । संसार में पण्डित और मूर्ख की परीक्षा होना अत्यन्त दुर्घट है शास्त्रीय विचारानुसार ध्यान दिया जाय तो जो लोक में पण्डित कहे वा माने जाते हैं उन में अधिकांश मूर्ख और जो मूर्ख समझे जाते हैं उन में कितने ही पण्डित हैं इसलिये यह कहना नहीं बनता कि पण्डितों की कुछ हानि नहीं अर्थात् मूर्खों की हानि है मैं कहता हूं कि मूर्खों को कुछ हानि नहीं क्योंकि मूर्ख वही है जो मोहरूप अविद्या प्रमाद आलस्य निद्रादि में फसा

हो जिस को सत्यासत्य के विचार करने का न सामर्थ्य हो और न शास्त्रीय गूढ़ विषयों के जानने समझने की इच्छा हो। और यदि सामर्थ्य न हो और इच्छा हो तो भी मूर्ख नहीं कहावे गा। क्योंकि जिस वस्तु की इच्छा होती है वह उस की प्राप्ति का उपाय भी अवश्य करता है। जब उपाय करेगा तो कुछ ज्ञान अवश्य होगा। और उस को यह ज्ञान तो प्रथम ही है कि मुझे अच्छे बुरे का ज्ञान नहीं मैं अज्ञानी हूं मुझ को अच्छा ज्ञान होने का उपाय करना चाहिये ऐसा मनुष्य अज्ञानी वा मूर्ख कदापि न कहावे गा किन्तु जो मूर्ख पुरुष होगा उस को ऐसा अभिमान होगा कि मैं ही सब से बड़ा ज्ञानी हूं। पण्डित शब्द का अर्थ भी संस्कृत वा किसी भाषा पढ़ जानामात्र नहीं है किन्तु—

सदसद्विवेकवती बुद्धिः पण्डा सा संजाताऽस्य स पण्डितः॥

सत्य असत्य के विचार से युक्त जिस की बुद्धि हो वह पण्डित कहाता है तथा—

क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति विज्ञाय चार्थं भजते न कामात्।
नासम्पृष्टो व्युपयुङ्क्ते परार्थे तत्प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य ॥१॥

महाभारत प्रजागर पर्व। जो शीघ्र ही दूसरे वक्ता के आशय को पूरा न कह चुके तभी तक जान ले। किसी की बात को अधिक काल तक सुनता रहे किन्तु तत्काल दूसरे के कथनानुसार न करने लगे। दूसरे के असली अभिप्राय को जान करके भी तत्काल उस में न फस जावे। विना पूछे वा कहे किसी के काम में न लगे वा न बोले (न दखल देवे) यह पण्डित बुद्धि वा पण्डित मनुष्य का पहिला लक्षण है। इस में विद्या पढ़ा हो इस का कुछ नाम भी नहीं हां विद्या पढ़े भी पण्डित हो सकते हैं उस के लिये यह लक्षण है—

प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान्।
आशुग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते ॥

जिस की वाणी ठीक२ चलती हो अर्थात् किसी शास्त्रीय विषय का व्याख्यान करने में वाणी न रुके जिस के कथन व्याख्यान में चित्र विचित्र बातें हों जिन से श्रोताओं के हृदय में विषय लग जावे। जो तर्क वितर्क के साथ धर्म का मण्डन कर सके जिस को स्मरण शक्ति ठीक२ हो और जो विद्या कि उस ने पढ़ी है उस का कोई ग्रन्थ आवे शीघ्र उस का अभिप्राय कह सके वह मनुष्य पण्डित है।

इत्यादि अनेक लक्षण पण्डित के शास्त्रों में मिलते हैं जिन से सिद्ध होता है कि जिस को कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान है वही पण्डित है सब पण्डितों को भी निर्णय कर लेने का ज्ञान नहीं होता क्योंकि सब एक से नहीं होते इस से यह सिद्ध हुआ कि मूर्खों की कुछ हानि नहीं जो कुछ हानि है तो पण्डितों की है मूर्खों को ऐसे विषयों का स्वप्न में भी ध्यान नहीं आता कि जीव कितने कैसे और कौन होते हैं मूर्ख तो अज्ञानरूप अन्धकार में मग्न हैं। इस से जो वेदादि शास्त्रों का ज्ञान नहीं रखते वे असत्मार्ग में कदापि प्रवृत्त नहीं हो सकते वेदादि सब पढ़े नहीं होते। यदि मुंशी जी कहैं कि हम ने (मूर्खों की हानि होगी) ऐसा नहीं लिखा किन्तु (जो वेदादि शास्त्रों का ज्ञान नहीं रखते उन का असत्मार्ग में प्रवृत्त होना सम्भव है) लिखा है तो हम भी नहीं कहते कि मुंशी जी ने ऐसा ही लिखा है किन्तु मुन्शी जी का अभिप्राय यही है कि जब पण्डितों की तो हानि नहीं, कहा तो अर्थापत्ति से पण्डित शब्द के प्रतिपक्ष में मूर्ख आगये उन की हानि है इसी लिये मैंने इतना लिख दिया है। अब आगे जो मुन्शी जी शास्त्र के प्रमाण से सिद्ध करते हैं उस को भी पाठक जन ध्यानदृष्टि से देखें।

मुं०—स्वामी जी—जब जीव देश काल वस्तु परिच्छिन्न है—

उत्तर—जीव को कालपरिच्छिन्न वही कहे गा जो मुसलमान वा ईसाइयों का भाई होगा। क्योंकि कालपरिच्छिन्न उस को कहते हैं कि जो किसी काल में विद्यमान होवे और किसी समय में नष्ट अर्थात् उत्पत्ति और नाश वाला होवे जो वस्तु अनादि और अनन्त है उस में काल परिच्छेद कदापि नहीं है और आर्यों का यही मत है कि जीव जन्म और मरण शून्य है और अनादि और अनन्त है अर्थात् न कभी उत्पन्न हुआ है और न कभी नाशवान होगा किन्तु सर्वदा एक ही प्रकार से रहता है जैसा कि श्वेताश्वतर उपनिषद् में है:—

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्

समीक्षक—पाठकगणों को इधर ध्यान देना चाहिये कि मुन्शी इन्द्रमणि जी और उन के शिष्य जगन्नाथदास कहते हैं कि जीव अनन्त हैं अर्थात् इन दोनों गुरू शिष्य का सिद्धान्त है कि जीव अनन्त हैं और स्वामी जी महाराज का सिद्धान्त है कि जीव को अनन्त कहना अज्ञान है सो यहां स्वामी जी का विचार वा सिद्धान्त मुन्शी जी समझे नहीं वा समझे हों तो पक्षपात से धींगा धींगी करते

हैं । अन्त शब्द के साथ नञ् लगने से अनन्त शब्द हो जाता है जिस का अन्त वा समाप्ति न हो कि इतना लम्बा चौड़ा है वह अनन्त कहाता है (नास्त्यन्तो यस्य सोऽनन्तः) अन्त शब्द का अर्थ भाषा में हद्द हो सकता है जिस की हद्द न हो वह अनन्त है अर्थात् सर्वव्यापक को अनन्त कह सकते हैं । यह अनन्त शब्द यद्यपि संस्कृत वाणी का है तथापि ऐसा गूढ़ार्थ नहीं है जिस को सर्वसाधारण पाठक न समझ लें । यदि मुन्शी जी जीव को सर्वव्यापक मानते हों तो अवश्य अनन्त शब्द का प्रयोग जीव शब्द के साथ कर सकते हैं । पर ऐसा मुझे विश्वास नहीं कि वे जीव को सर्वव्यापक मानें । यदि सर्वव्यापक मानें तो प्रश्न हो सकता है कि फिर जीव ईश्वर में क्या भेद रहा ? और जीव एक है वा अनेक ? यदि एक कहें तो सब शरीरों में उस का ज्ञान गुण एकसा होना चाहिये सब के हृदय का हाल जान लें । यदि अनेक कहें तो अनेक व्यापकों की आवश्यकता नहीं । और व्यापक सजातीय अनेक हो भी नहीं सकते जैसे अनेक आकाश नहीं होते । और यदि मुन्शी जी का यह विचार हो कि अनन्त कहने से हमारा अभिप्राय असंख्य से है तो अज्ञानी कहना सिद्ध हो गया क्योंकि असंख्य और अनन्त शब्द एकार्थ नहीं हैं इन शब्दों का ठीक २ अर्थ मुन्शी जी ने नहीं जाना यही अज्ञान है असंख्य शब्द के स्थान में अनन्त का प्रयोग कहना अज्ञान ही है । संस्कृत के शब्दों का ठीक २ अर्थ नहीं जान पाया तो वेदादि सत्य शास्त्रों का सिद्धान्त जान लेना अत्यन्त दुर्लभ है मट्टी के एक घड़े में त्रसरेणु वा अणु (ज़रा) असंख्य कहे वा माने जाते हैं क्योंकि उस की गणना कोई नहीं कर सकता परन्तु वे त्रसरेणु अनन्त नहीं हैं क्योंकि उन का अन्त (हद्द) प्रत्यक्ष दीखता है । तथा एक तड़ाग-(तालाव) में असंख्य विन्दु जल है क्योंकि उस के विन्दुओं की गणना नहीं हो सकती जिस की संख्या वा गणना न हो सके वही असंख्य कहाता है परन्तु वह तलाव का जल प्रत्यक्ष अन्त वाला है इस लिये उस को अनन्त नहीं कह सकते किन्तु असंख्य विन्दु कह सकते हैं । सो मुंशी जी जीव को व्यापक मानें तो अनन्त कह सकते हैं और व्यापक मानने में अनेक दोष हैं जैसा पूर्व लिखा गया । और यदि परिछिन्न मानें तो अनन्त कहना अज्ञान है किन्तु असंख्य कह सकते हैं । इस प्रकार मुन्शी जी की प्रतिज्ञा ही अशुद्ध है ॥

जिस मूल बात प्रतिज्ञा पर इतना जगड्वाल रचा गया वह मूल ही जब बिगड़ा है तो आगे का व्याख्यान विना नींव की भित्ति क्यों नहीं हुई ? ।

अब विचारिये कि जीव कालपरिच्छिन्न कैसे है? मुन्शी जी कहते हैं जीव कालपरिच्छिन्न नहीं है यहां भी मुन्शी जी ने स्वामी जी का आशय नहीं समझा वा यों कहिये कि जीव क्या है? वा किस का नाम जीव है यही न जाना। जीव शब्द का अर्थ प्राणों का धारण करने वाला है और व्याकरण के (जीवप्राणधारणे) धातु से यह शब्द बनता है जो प्राणों को धारण करे वह जीव है अर्थात् शरीराभिमानी होने से वा शरीरधारण करने से शारीरी आत्मा का नाम है प्राणों का धारण करना विना शरीर के नहीं हो सकता और शरीर कालपरिच्छिन्न प्रत्यक्ष ही है जो सब काल में नहीं रहता। शरीर के न रहने पर जीव बना है यह नहीं कह सकते क्योंकि यदि प्राणों का धारण करने वाला बना हो तो मरण ही न होना चाहिये। जैसे कहा जाता है कि जीवन नहीं रहा वैसे जीव का नहीं रहना भी सिद्ध है किन्तु शरीर छूटने पर भी जीवात्मा कहीं बना है ऐसा कहना वा मानना हो सकता है क्योंकि जीवात्मा शब्द में दो प्रकार का समास हो सकता है॥

जीवस्यात्मा जीवत्मा वा जीवश्चासावात्मा जीवात्मा ॥

इन दोनों प्रकारों के अर्थ से जीवात्मा का विद्यमान रहना कह सकते हैं। प्राण धारण करने वाले जीव का आत्मा स्वरूप बना है वा प्राण धारण करने वाला आत्मा कहीं बना है इस विषय का प्रमाण मनुस्मृति के १२ अध्याय में स्पष्ट लिखा है:—

जीवसञ्ज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम् ।
येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥ १ ॥

जीवसञ्ज्ञक अन्तरात्मा महत्तत्त्व शरीर के साथ ही प्रगट होता है जिस के होने से सब प्रकार के सुखों दुःखों का ज्ञान मनुष्य को होता है। इस श्लोक में जीव नाम महत्तत्त्व का है उस की सहायता से ही सुख दुःख का बोध हो सकता है और महत्तत्त्व नाम सात्त्विकी विवेकवती बुद्धि का है। और मनुष्य जिस को जीव कहते वा समझते हैं उस को शास्त्रकार क्षेत्रज्ञ कहते हैं। वह क्षेत्रज्ञ नित्य अविकारी है। और प्राणों का धारण भी शरीर में ही हो सकता है शरीर कालपरिच्छिन्न प्रकट ही है इसी विचार से जीव को कालपरिच्छिन्न

कहते हैं जब जीव का कालपरिच्छिन्न होना सिद्ध हो गया तो मुंशी जी का कथन कट गया ।

जीव यद्यपि किसी अंश में अजन्मा कहा गया है तो भी सर्वांश में अजन्मा नहीं है और जहां २ अजन्मा कहा है वहां शुद्ध चेतन अन्तरात्मा का ग्रहण है। कहीं २ जीव शब्द का प्रयोग शरीर से भिन्न प्रसंग में भी आता है वहां भी भूत भविष्यत् के शरीर सम्बन्ध से ही जीव कहा है । जीव है जीव नहीं रहा यह व्यवहार प्राणों की क्रिया के होने न होने से किया जाता है । जीव शरीर के साथ अपने इच्छादि चिन्हों सहित प्रगट होता यही उस की उत्पत्ति है और शरीर से पृथक् होना नाश अर्थात् अदृश्य होना है इस प्रकार का उत्पत्ति विनाश सब आर्यों का मन्तव्य है किन्तु शरीर के समान वा घटपटादि पदार्थों के समान जीव के उत्पत्ति विनाश नहीं होते जब एक प्रकार के उत्पत्ति विनाश जीव के होते हैं तो कालपरिच्छिन्न होना सिद्ध हो गया । परमेश्वर को सदा अजर अमर इसी लिये कहते हैं कि उस में किसी प्रकार का लौट पौट वा विकार कभी नहीं होता और जीव जन्मता मरता है यही बड़ा भेद है कि जीव शुभाशुभ कर्मफलसम्बन्धिनी वासनाओं में बंधा है और ईश्वर इन सब से पृथक् है ॥

और भी पाठकगणों को ध्यान देना चाहिये—श्वेताश्वतर का प्रमाण देने में मुंशी जी अत्यन्त ही गिर गये इतना भी विचार न आया कि उस मंत्र (नित्योऽनित्यानां०) का क्या अर्थ है वहां क्या प्रकरण है । वह मंत्र कठोपनिषद् में पूर्वार्द्ध ऐसा ही आया है उस का अर्थ और प्रकरण दोनों प्रसिद्ध परमेश्वरपरक हैं कि वह परमात्मा नित्य जीवात्माओं में नित्य अर्थात् जीवात्मा जो नित्य हैं वे सर्वथा अचल कूटस्थ एकरस नहीं रहते उन की अवस्था बदलती रहती है और वह सर्वथा एकरस है। वह चेतन जीवात्माओं में भी चेतन अर्थात् चेतनों को भी चेतन करने वाला है बहुतों में एक है जीवात्मा बहुत हैं प्रति शरीर में भिन्न २ हैं और वह एक ही सब जीवों के साथ व्याप्त है और सब को यथायोग्य कर्म फल भुगाता है इस प्रकार परमात्मा का वर्णन है यही अर्थ शङ्कर स्वामी आदि सब टीकाकारों के सम्मत है इस मंत्र का अन्य अर्थ खींचा खांची से भी नहीं हो सकता । इस लिये यह भी प्रमाण मुंशी जी का ठीक नहीं ।

मुंशी—स्वामी दयानन्दसरस्वती के मत का कुछ ठिकाना नहीं है कभी कुछ कहते हैं और कभी कुछ अब से १० वर्ष पहिले जीव को कालपरिच्छिन्न

और उत्पत्ति वाला जानते थे । सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ १५२ और २३२ आदि में देखो जब कि उन को कोयल और मुरादाबाद में समझाया गया कि जीव की उत्पत्ति मानना वेद और उपनिषत् और सूत्र आदि समस्त प्रामाणिक ग्रन्थों के विरुद्ध है और युक्ति विचार से भी ऐसा मानने में बहुत दोष हैं उन दोषों की व्याख्या यहां आवश्यक नहीं है कभी जीवों के जन्मान्तर प्राप्ति के विषय में वर्णन की जायगी । निदान बहुत समझाने के उपरान्त स्वामी जी ने जीव को अनादि और अन्त रहित माना और चांदापुर के शास्त्रार्थ तथा पादरी इस्काट साहब के शास्त्रार्थ में इसी सिद्धान्त से जय को प्राप्त हुए और भूमिका तथा वेदभाष्य में भी जीव को अनादि माना। अब फिर अपने पहिले मत को स्वीकार किया और वेदभाष्य तथा भूमिका का खण्डन करने लगे ॥

समीक्षक—मुंशी जी को कोई पूछे कि आप के मत का ठिकाना अब तक क्यों न लगा ? । पहिले वैष्णव थे रामानुजसम्प्रदाय की प्रशंसा करते रहे और पौराणिक आधुनिक सम्प्रदायों का प्रतिपादन करते रहे । पीछे स्वामी जी के अनेक विचारों वा सिद्धान्तों को मानने लगे । अब दोनों को छोड़ उभय भ्रष्ट होगये । मैं इस बात का कुछ उत्तर नहीं देना चाहता कि मुंशी जी ने क्या २ स्वामी जी को समझाया और क्या २ स्वामी जी ने माना ? क्योंकि जिन पुरुषों में परस्पर प्रीति हो जाती है वे एक दूसरे की बात को माना ही करते हैं और स्वामी जी महाराज को यह हठ भी नहीं था कि हम किसी की बात को न मानें किसी विद्वान् को न ऐसा आग्रह होता है और न होना चाहिये । मुंशी जी ही क्या स्वामी जी ने अनेक पुरुषों की अच्छी बातें मान ली हैं और मान लेना ही उत्तम है इस से किसी विद्वान् वा महात्मा की तुच्छता नहीं मानी जा सकती । मैंने भी किसी २ प्रसङ्ग में कहा है कि महाराज अमुक बात मेरी समझ में इस प्रकार आती है और स्वामी जी ने अच्छी समझ के मान ली तो इस से मैं बड़ा और स्वामी जी तुच्छ हो गये क्या ? पढ़ाते समय शिष्य भी कोई अच्छी बात कहे तो गुरू को उचित है कि उस को मान ले यदि शिष्य समझे कि मेरी बात मान लेने से गुरू की तुच्छता वा मेरी प्रतिष्ठा वा मैं बड़ा होगया तो वह महा-मूर्ख है। ऐसे तो मुंशी जी ने सैकड़ों अच्छी बातें स्वामी जी की मानी होंगी तो दो एक बात कदाचित् स्वामी जी ने भी मुन्शी जी की मान ली हो तो क्या आश्चर्य है । मुन्शी जी का यह अभिप्राय कि स्वामी जी को शास्त्र का सिद्धान्त

मालूम नहीं था मैंने बताया यह अभिमान शिष्ट विद्वानों की मर्यादा से विपरीत है। स्वामी जी तो ऐसे वास्तव में नहीं थे कि जिन को मुंशी जी से भी कम बोध होता कदाचित् कहीं ऐसा भी हो कि किसी को कोई अंश का ज्ञान पूरा नहीं है तो उस को बता कर सत्पुरुष को कदापि अपने मुख से कहना लिखना वा अभिमान करना न चाहिये कि मैं ऐसा हूं। यह काम नीचप्रकृति के मनुष्यों का है विद्वान् ऐसा कभी नहीं करते।

और स्वामी जी के मत का तो ठिकाना बहुत अच्छा इसलिये है कि आदि से अन्त तक वेदमत उन का रहा उस वेद के मानने में न कभी उन को शङ्का हुई और न अब होना सम्भव था। और वेद के विषय में भी कभी विकल्प नहीं हुआ केवल उस विषय के प्रकार में थोड़ा भेद कभी२ पड़ा है सो उचित इसलिये है कि सब मनुष्य अल्पज्ञ होते हैं कोई बात अन्यथा समझ गये और पीछे असत्य जान पड़े तो सब विद्वानों का सिद्धान्त है कि उस असत्य को छोड़ कर सत्य को मान ले और अपनी असत्य बात पर हठ न करे कहावत प्रसिद्ध है कि (बुद्धेः फलमनाग्रहः) आग्रह न करना ही बुद्धि का फल है इसी कारण हठ करने वाला निर्बुद्धि कहाता है। और जीव की उत्पत्ति मानना तो वास्तव में ठीक नहीं और न ऐसा अनुमान होता है कि स्वामी जी कभी जीव की उत्पत्ति मानते हों। मुंशी जी की बड़ी भूल जान पड़ती है कि वे जीव की उत्पत्ति मानना स्वामी जी का फिर मत स्वीकार करना कहते हैं स्वामी जी ने जीवात्मा को उत्पत्ति वाला कहीं नहीं लिखा हां सान्त माना है कि जीव अनन्त नहीं हो सकते उस का आशय पूर्व लिख दिया गया॥

अब मेरा विचार यह है कि मैं मुंशी इन्द्रमणि जी का अभिप्रायमात्र लिख कर उत्तर दूंगा किन्तु उन के लेख का पूर्ण अनुवाद करने में बहुत बढ़ता है और बहुतसी इबारत ऐसी भी लिखी है जिस का अभिप्राय स्वामी जी की निन्दा परक है सो भी लिखना व्यर्थ है उस का उत्तर देना उचित नहीं है अर्थात् शिष्ट व्यवहार से विपरीत है॥

मुं०—जैसे स्वामी जी का मूल अशुद्ध है ऐसे ही यह [स्वा० अर्थात् भिन्न२ हैं] व्याख्या भी बुद्धि के विरुद्ध है क्योंकि यह नियम कदापि नहीं है कि जो वस्तु देश काल वस्तु परिच्छिन्न हो वही भिन्न२ हो जैसे दिशा काल और आकाश तथा परमेश्वर आदि पदार्थ देश काल वस्तु परिच्छिन्न नहीं परन्तु परस्पर भिन्न२ हैं॥

उत्तर—विचार का स्थान है कि मुंशी जी जीवात्मा को विभु कदापि नहीं मान सकते और न उन के लेख से जान पड़े कि जीवात्मा विभु है? यदि विभु कहें तब तो दिशा काल आकाश का दृष्टान्त बन सकता है पर विभु मानने में अनेक विवाद हैं सो यदि मुंशी जी विभु होने की प्रतिज्ञा करें वा समाधान करें तो उस का उत्तर दिया जायगा। पर जीव को अल्प मानने पर दिशादि का दृष्टान्त कदापि नहीं बन सकता। अब विचारिये कि विभु पदार्थ भिन्न २ वा पृथक् २ वा अलग २ हो सकते हैं वा नहीं? पाठक लोग ध्यान दें कि मैं कहता हूं नहीं हो सकते अलग २ कहने से तात्पर्य यह होता है कि ये दो वा अनेक पदार्थ आपस में मिले नहीं हैं परन्तु दिशा काल और आकाशादि सदा आपस में मिले रहते हैं अर्थात् काल में आकाश और दिशा बने रहते सब आकाश में दिशा और काल तथा सब दिशा में आकाशादि रहते ही हैं तो भिन्न वा पृथक् कैसे हुए? भिन्न पदार्थ वही कहा जायगा जो स्वरूप से परिच्छिन्न वा अल्प हो जब जीवात्मा स्वरूप से परिच्छिन्न वा अल्प है तो वह कभी किसी वस्तु में मिला नहीं रह सकता जैसे गेंहूं आदि अन्न के दाने स्वरूप से परस्पर भिन्न रहते हैं वैसे जीव भी परिच्छिन्न होने से परस्पर भिन्न हैं और आकाशादि एक दूसरे से भिन्न नहीं रह सकते क्योंकि सब विभु पदार्थ हैं। हां आकाशादि नाम वास्तव में पृथक् २ हैं क्योंकि इन से पृथक् २ व्यवहारों की सिद्धि होती है इसलिये इन का नाम पृथक् २ रक्खा गया एक नाम से अनेक व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकते। पर जहां आकाश है वा जिस को आकाश कहते हैं वहां से वा वह दिशा काल वा परमेश्वर से पृथक् कदापि नहीं हो सकता तो आकाशादि परस्पर पृथक् २ हैं यह मुंशी जी का लिखना सर्वथा असंगत है। और स्वामी जी का जीवों को भिन्न २ कहना इस लिये सत्य है कि जीव देशकाल वस्तु परिच्छिन्न हैं जैसा मैं पूर्व अंकों में लिख चुका हूं इसी लिये परस्पर भिन्न २ हैं जो वस्तु देशकाल वस्तु परिच्छिन्न नहीं वह भिन्न २ नहीं कहा जा सकता। जैसे कि पूर्व कहे आकाशादि। और जिस अंश को ले कर आकाशादि भिन्न २ कहे वा माने जाते हैं उस अंश में ये भी परिच्छिन्न हैं जैसे पंचतत्व की उत्पत्ति में आकाश तत्व की भी उत्पत्ति इसी लिये मानी जाती है कि वह प्रलय समय में नहीं रहता यदि आकाश प्रलय में भी बना रहे वा बना रहता हो तो उस की उत्पत्ति कहना नहीं बन सकता इस से आकाश काल परिच्छिन्न हो गया कि जो किसी समय हो।

और किसी समय न रहे वही काल परिच्छिन्न कहाता है। और यहां पृथिवी है किन्तु आकाश नहीं इस व्यवहार से आकाश देश परिच्छिन्न भी कहा जा सकता है। जब आकाशादि को किसी प्रकार अर्थात् किसी अंश को ले कर भिन्न २ कहें वा मानें तो उन का देश काल परिच्छिन्न होना भी उसी अंश में उक्त प्रकार से मान सकते वा कह सकते हैं। इस कारण मुन्शी जी का लेख कदापि सत्य नहीं ठहर सकता। और मुन्शी जी का सत्य न ठहरा तो स्वामी जी का लेख अर्थात् सिद्ध हो गया ॥

मुन्शी जी—देखो विज्ञानभिक्षु ने योग सूत्रवृत्ति में जीवों के अनन्त होने में यह स्मृति प्रमाण दी है—

अतीतानागताश्चैव यावन्तः सहितः क्षणाः ।
ततोऽप्यनन्तगुणिता जीवानां राशयः पृथक् ॥ १ ॥

अर्थात् अनादि काल से जितने क्षण व्यतीत हुए हैं और अनन्त काल तक जितने व्यतीत होंगे जीवों की राशि उन से भी अनन्त गुणी है ॥ १ ॥ पराशर ऋषि ने भी कहा है:—

स्थूलैः सूक्ष्मैस्तथास्थूलसूक्ष्मैः सूक्ष्मतरैस्तथा ।
स्थूलास्थूलतरैश्चैतत्सर्वं प्राणिभिरावृतम् ॥ १ ॥
अङ्गुलस्याष्टभागोऽपि न सोऽस्ति मुनिसत्तम ।
न सन्ति प्राणिनो यत्र कर्मबन्धनिबन्धनाः ॥ २ ॥

अर्थात् छोटे और बड़े प्राणियों से सारा आकाश भरा हुआ है। अंगुली के आठवें भाग की समान भी ऐसा कहीं नहीं है जहां प्राणी न होवें सारे आकाश में अपने कर्मों का फल भोग रहे हैं ॥

उत्तर—मुन्शी जी ने इतना परिश्रम क्यों किया सीधा प्रमाण अंगरेजों का ही क्यों न लिख दिया जो दूरवीक्षण (दुर्बीन) आदि द्वारा प्रत्यक्ष देख कर जल के एक विन्दु में हजारों जीव बतलाते हैं इस प्रमाण को अंगरेजी पढ़े लोग शीघ्र ही समझ लेते विज्ञानभिक्षु और पराशर के प्रमाण खोजने में क्यों इतना श्रम किया। यदि यह विचार हो कि संस्कृत के प्रमाण विना सर्वसाधारण लोग नहीं मानते तो यह विचारना था कि हमें स्वामी जी का सिद्धान्त काटना है उन के

माननीय वेदादि का प्रमाण दें तो आर्य लोग ध्यान दे सकते हैं अन्यथा नहीं। इस लिये आर्यों के सम्मत किसी वेदादि सत्यशास्त्र का प्रमाण देना था। अस्तु अब विज्ञानभिक्षु और पराशर ही सही। पर आप यह बताइये कि आप का पक्ष इस से कैसे सिद्ध हो गया? मैं अन्त अनन्त और असंख्य शब्दों का अर्थ भी पूर्व लिख चुका हूं कि अपरिच्छिन्न पदार्थ को अनन्त कह सकते और परिच्छिन्नों की संख्या होना यदि दुर्लभ है कि मनुष्य नहीं कर सकता तो उस को असंख्य ही कह सकते हैं इसी विचार से स्वामी जी ने लिखा है कि देशकाल परिच्छिन्न होने से जीव अनन्त नहीं हो सकते उन का अन्त प्रत्यक्ष दीख पड़ता है। जब एक तिल अन्त वाला है तो खतिया भर तिल भी अवश्य अन्त वाले हैं परन्तु खतिया भर तिलों की गणना कर लेना दुर्घट है इस कारण असंख्य कह सकते हैं। मुन्शी जी और स्वामी जी का विवाद इस अंश पर है कि मुन्शी जी जीवों को अनन्त मानते वा लिखते हैं। स्वामी जी का विचार है कि जीवों को अनन्त कहना अज्ञान इस लिये है कि परिच्छिन्न सभी पदार्थों का अन्त [हद्द] होती है। जीव भी प्रति शरीर में प्रति योनि में प्रतिव्यक्ति में भिन्न २ परिच्छिन्न हैं उन का अन्त भी प्रत्यक्ष है फिर अनन्त कहना ठीक नहीं किन्तु असंख्य कह सकते हैं। परन्तु परमेश्वर के ज्ञान में उन की संख्या हो सकती है। क्योंकि हम लोग अल्प सामर्थ्य वाले हैं इस से हम संख्या नहीं कर सकते परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है वह प्रत्येक जीव में व्याप्त है उस के ज्ञान में संख्या हो सकती है। यदि यह नियम हो कि जिस काम को हम नहीं कर सकते उस को परमेश्वर भी न कर सके तो हम जैसे संसार की उत्पत्ति स्थिति प्रलय नहीं कर सकते वैसे परमेश्वर भी न कर सके। और जिस कार्य को बालक नहीं कर सकता उस को जवान भी न कर सके भला यह कभी हो सक्ता है कि हम जीवों की संख्या नहीं कर सक्ते तो परमेश्वर भी न कर सके ॥ १ ॥

मुन्शी जी का पक्ष है कि परमेश्वर के ज्ञान में भी जीव असंख्य वा अनन्त हैं। तो मुन्शी जी को ऐसा प्रमाण देना था कि जिस में यह सिद्ध होता कि परमेश्वर के ज्ञान में भी जीव अनन्त वा असंख्य हैं ऐसा अर्थ निकलता। सो तो प्रमाण कहीं मिला नहीं और मिलना भी असम्भव है। केवल जीवों के असंख्य होने में उक्त दोनों प्रमाण दिये हैं इस पर कुछ विवाद नहीं अर्थात् हम भी

जीवों को असंख्य मानते हैं। इन की संख्या मनुष्य नहीं कर सकता। पर ईश्वर कर सकता है। मैं पहिले भी लिख चुका हूं कि अनन्त और असंख्य शब्द के अर्थों में बहुत भेद है। पर मुंशी जी ने लिखा है कि असंख्य और अनन्त शब्द पर्यायवाचक हैं। मैं जानता था कि मुंशी जी संस्कृत में पग अड़ाने की इच्छा नहीं रखते पर शब्दार्थ का निर्णय करने लगे इस से मेरा विचार अन्यथा हुआ अर्थात् वे संस्कृत में भी पग अड़ाते हैं। मुंशी जी को उचित था किसी संस्कृतज्ञ पण्डित से पूछ लेते वा कोशादि देखते कि अनन्त और असंख्य शब्द पर्यायवाची हैं वा नहीं सो कुछ भी विचार न करके अन्धाधुन्ध लिखमारा कि पर्यायवाची हैं। देखो अमरकोश में काण्ड १ वर्ग २ में लिखा है—

नभोऽन्तरिक्षं गगनमनन्तं सुरवर्त्मखम् ॥

ये सब आकाश के नाम हैं अर्थात् अनन्त नाम आकाश का भी है यदि अनन्त शब्द का पर्यायवाची असंख्य भी होता तो इन्हीं के साथ असंख्य शब्द भी पढ़ा जाता जैसे (भूर्भूमिरचलाऽनन्त) इत्यादि पृथिवी के पर्यायवाचक सब नाम एक साथ पढ़े हैं। तथा अमरकोश काण्ड ३ वर्ग ४ श्लोक ८४ में लिखा है किः—

कृत्रिमे लक्षणोपेतेऽप्यनन्तोऽनवधावपि ॥

यहां स्पष्ट ही अनन्त शब्द असीम वाचक है जिस की अवधि हद्द न हो वह अनन्त कहाता है यदि असंख्य शब्द का भी यही अर्थ होता तो कोश वाला यहां ही इस को भी लिखता और यह शब्द ऐसा कठिन भी नहीं जिस को थोड़ा विचार करने से पाठक लोग न समझ जावें कि अनन्त और असंख्य शब्दों का अर्थ इस प्रकार भिन्न २ है। यहां तो मुंशी जी एक छोटीसी बात पर ही गिर गये इस से स्वामी जी का लेख सिद्ध रहा और मुंशी जी का कथन मिथ्या सिद्ध हो गया ॥

स्वा०—परमेश्वर के समीप तो सर्व जीव वस्तुतः अतीव अल्प हैं जीवों को तो क्या परन्तु प्रतिजीव के अनेक कर्मों के भी अन्त और संख्या परमेश्वर यथावत् जानता है ॥

मुं०—प्रत्येक वस्तु वास्तव में अपने स्वरूप से जैसी है उस को परमेश्वर वैसी ही जानता है यदि उस को विपरीत जाने तो उस के परमेश्वर होने ही में सन्देह है। देखो दयानन्द ने भी सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ २३८ में यही लिखा है (ईश्वर का ज्ञान

निर्भ्रम है जो पदार्थ जैसा है उस को वैसा ही जानता है) सिद्धान्त जब कि वास्तव में जीव अनन्त हैं तो परमेश्वर के समीप क्यों कर अतीव अल्प हैं॥ इत्यादि–

समीक्षक–मेरी समझ में आगे २ मुंशी जी ने जितनी कलम घिसी सो सब पिष्टपेषणवत् है उसी प्रकार मेरा भी इस विषय में अधिक लिखना व्यर्थ होगा इस प्रसंग में मूल वार्त्ता यह थी कि जीव अनन्त हैं वा सान्त। सो जीवों के विषय में अनन्त शब्द का प्रयोग नहीं बनता और असंख्य तथा अनन्त में बहुत भेद है सो प्रमाणपूर्वक लिख दिया गया कि अनन्त शब्द का अर्थ अनवधि [अनहद्द] जिस की लम्बाई चौड़ाई आदि की सीमा न हो कि इतना है उस को अनन्त कह सकते हैं ईश्वर के साथ अनन्त शब्द लगाया जाता है क्योंकि उस के लम्बे चौड़े होने की सीमा नहीं है। जीव को भी सर्वव्यापक मानें तो अनन्त कह सकते हैं सो शास्त्र और युक्ति दोनों से विरुद्ध है। अब रहा यह कि जो पदार्थ जैसा है उस को परमेश्वर भी वैसा ही जानता है यह सत्य है। जीव वास्तव में सान्त हैं उन को परमेश्वर भी वैसे जानता है इस से स्वामी जी के कथन में कोई दोष नहीं आता। इस प्रसंग में मुंशी जी ने सत्यार्थप्रकाश के दो पते लिखे हैं परन्तु प्रचरित सत्यार्थप्रकाश के पुस्तकों में लिखित ठिकाने पर यह पाठ नहीं मिलता और यह भी अनुमान होता है कि अन्य पृष्ठ आदि में भी यह पाठ नहीं है परन्तु यह अनुमान होता है कि यह पाठ कदाचित् सब से पहिले छपे सत्यार्थप्रकाश में हो तो उस का प्रमाण अब देना भूल है। क्योंकि पीछे २ जो नियम (कानून) बनते हैं उन का स्पष्ट यही अभिप्राय होता है कि पहिले में जो कुछ न्यूनता है वह निकल जावे और अब कोई पुरुष पहिले नियम के अनुसार न चले। यद्यपि पहिले नियम में भी अधिकांश ग्राह्य हो तो भी उस का सब ग्राह्य अगले नियमों में ले लिया जाता है तथा पहिले में जो २ भूल वा न्यूनता रह जाती हैं वे भी इस नवीन में सुधर जाती हैं तो इस से अधिक अच्छा पहिले में रहता ही नहीं इस लिये उस का प्रमाण देना व्यर्थ है। और उस का प्रमाण देने में उस की भूल भी साथ लगकर हानिकारक होती है इस कारण सज्जन लोग उस को फिर प्रमाण कक्षा में नहीं लेते। वर्त्तमान राज्य में भी गदर से पहिले बने कानून की साबूती अब कोई नहीं दे सकता और न कोई न्यायाधीश उस का प्रमाण मान सकता है। इस लिये सब से पहिले बने सत्यार्थप्रकाश का प्रमाण देना कदापि ठीक नहीं ॥

मेरा प्रयोजन इस प्रसंग में यह भी है कि अनेक लोगों ने इस अंश पर भी अनेक तर्क किये और करते हैं कि पहिले सत्यार्थप्रकाशादि में स्वामी जी ने ऐसा लिखा था और अब ऐसा लिखा देखो यह परस्पर विरोध है वा उन के मत का ठीक नहीं। यद्यपि मैं अनेक प्रकार के उत्तर उन तर्कों पर दे सकता हूं तथापि बहुत गाथा न गा कर मुख्य सिद्धान्तरूप उत्तर यही है कि स्वामी जी के सिद्धान्त से विरुद्ध नहीं उन का मुख्य कर यही सिद्धान्त है कि एक परमेश्वर ही सर्वज्ञ है उस के कामों में कभी भूल वा न्यूनता नहीं रहती जीवात्मा सब अल्प हैं उन के कामों में न्यूनता वा भूल रहजाना सम्भव है ॥

और रह भी जाती है। उस में मूर्ख हठी दुराग्रही लोगों का सिद्धान्त यह रहता है कि अपनी न्यूनता वा भूल जानकर भी फिर नहीं छोड़ते और सज्जन विद्वान् लोग जब भूल को जान लेते हैं तभी उस को छोड़ कर सत्य को मान लेते हैं। स्वामी जी महाराज ने अपने मन्तव्यामन्तव्यप्रकरण में ऐसी बातें लिखी हैं जिन से उन का सिद्धान्त स्पष्ट प्रतीत हो जाता है। वे महात्मा हठी नहीं थे। इसी कारण पहिले सत्यार्थप्रकाश में जो कुछ न्यूनता वा भूलें उन्हों ने देखीं उन को बढ़ा सुधार के अगले में सम्हाल दिया इसलिये ऐसे शङ्का करने वालों को विशेष उत्तर की अपेक्षा नहीं। और लिखने वा बकने को तो कोई किसी को रोक नहीं सकता। और यदि मुंशी जी सत्यार्थप्रकाश के प्रचरित पुस्तक में पृष्ठ २३२ और २३८ में ही अपने लिखे प्रमाण को दिखा देवेंगे तो उन के ऊपर यह लेख नहीं है और उस को सत्य मान कर यथोचित उत्तर दिया जायगा। वा पृष्ठ भूल से और का और लिख गया हो तो फिर निश्चय कर लिखें ॥

अब एक बात और शेष रही कि संस्कृत विद्या में अनन्त शब्द का अर्थ अविनाशी भी होता है जैसे कहा जावे कि परमेश्वर अनादि अनन्त है। ऐसे प्रसङ्ग में अनन्त शब्द का भी अर्थ अविनाशी होगा और अनन्त शब्द के अविनाशी अर्थ होने में कुछ विवाद भी नहीं स्वामी जी भी इस अर्थ से जीवों को अनन्त मान सकते हैं अर्थात् जीवात्मा सब अविनाशी हैं उन का कभी शरीरों के तुल्य उत्पत्ति नाश नहीं होता। विवाद केवल यही है कि जीव परमेश्वर के ज्ञान में परिच्छिन्न और संख्यात हैं यद्यपि मनुष्य नहीं जान सकता कि जीवात्मा इतना बड़ा वा सब जीव इतने हैं परन्तु परमेश्वर सर्वज्ञ है इस कारण सब ठीक२ जानता है ॥

स्वा०—जो ऐसा न होता तो वह परब्रह्म जीव और उन के कर्मों का जैसा २ जिस २ जीव ने कर्म किया है उस २ का फल न दे सके ॥

मुन्शी जी—तात्पर्य यह है कि जैसे जीवों की संख्या का अन्त नहीं है और प्रत्येक जीव के कर्म भी अनन्त हैं वैसे ही परमात्मा के ज्ञान और इच्छा और प्रयत्न का भी अन्त नहीं है अतएव परमात्मा अपने अनन्त ज्ञान से अनन्त जीवों को यथावत् जानता है और अपने अनन्त इच्छा और प्रयत्न से प्रत्येक जीव के कर्मों का फल देता है इस में कुछ दोष नहीं आता इत्यादि—

सम्पादक—हम भाषा की शुद्धि अशुद्धि ऐसी तुच्छ बातों पर कुछ लिखना नहीं चाहते किसी की भाषा की अशुद्धि पर ध्यान देने वाला भी अवश्य तुच्छ है। भाषा के लिये कोई शास्त्र नहीं बना है देश भाषा एक संस्कृत का अपभ्रंश है अपभ्रंशों में अनेक भेद हो गये तथा होते हैं इस का कारण देश काल वस्तु भेद है प्रत्येक मनुष्य की भाषा शैली में कुछ २ भेद रहता ही है कोई २ लोग अपने से विपरीत वा प्रतिकूल को भी अशुद्ध कहते वा मानते हैं परन्तु यह तुच्छ लोगों का काम है जो ऐसी बातों पर मक्खी के तुल्य व्रण खोजते हैं। सज्जन लोग उस के सिद्धान्त वा बुद्धिमत्ता पर ध्यान देते हैं यदि उस का सिद्धान्त वा युक्ति उत्तम है तो उस की भाषा को कुछ न्यूनाधिक कभी देख कर बुरा नहीं समझते और बुद्धिमत्ता की बात जो न कहता न लिख सकता है उस की ऊपरी भाषा अच्छी हो तो भी तुच्छ ही समझेंगे।

इस कथन से मेरा प्रयोजन यह नहीं है कि स्वामी जी की भाषा मुंशी जी के कथनानुसार वास्तव में अशुद्ध है किन्तु वह ठीक है। अर्थात् प्रयोजन यह है कि कदाचित् ठीक न होती तो भी ऐसी बातों पर लिखना तुच्छता है। देखो संस्कृत का एक वाक्य है कि—

परमात्मनो ज्ञानेच्छाप्रयत्नानामन्तो नास्ति ॥

इसी वाक्य को दूसरे प्रकार से बोल सकते हैं:-

परमात्मनो ज्ञानस्येच्छायाः प्रयत्नस्य चान्तो नास्ति।

परन्तु ज्ञान इच्छा और प्रयत्न तीनों के अन्त में चकार पढ़ना अर्थाशुद्धि समझी जायगी। इसी प्रकार उक्त वाक्य का लोकभाषा में अनुवाद करें तो (परमात्मा के ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न का अन्त नहीं है) ऐसी भाषा ठीक होगी

भाषा में चकार का अनुवाद और वा भी होता है। सो मुंशी जी ने भी नियम से विरुद्ध एक वाक्य में और शब्द दो बार कहा है यह भाषा के व्याकरण भाषा-भास्कर के नियम से भी विरुद्ध है। इसी प्रकार मुंशी जी की इबारत में भाषा की भी अनेक अशुद्धि निकलेंगी मैं लिखना नहीं चाहता और न मैं यह समझता हूं कि इस से मुंशी जी को कुछ बुद्धि नहीं परन्तु मुंशी जी का अभिप्राय यह जान पड़ता था कि हमने स्वामी जी की भाषा में अशुद्धि निकालीं इस से हम भाषा के पं० समझे जायंगे इसलिये मैं ने मुंशी जी को भाषा का भी उदाहरण [नमूना] दिखा दिया ॥

अब मुख्य बात पर ध्यान देना चाहिये। स्वामी जी का अभिप्राय यह है कि यदि परमेश्वर जीवों की संख्या वा इयत्ता न जानता हो तो कर्मों के अनुकूल फल दे सकना कठिन है। मुंशी जी कहते हैं कि अनन्त जीवों का ज्ञान होना और उन के कर्मों का फल देना जैसा बड़ा कार्य है उस के प्रबन्ध के लिये वैसा ही बड़ा कारण और द्वार है इस कारण कोई कठिनता नहीं है इत्यादि।

पाठक लोग ध्यान दें मुंशी जी का यह विचार कितना निर्बल है। परमेश्वर का यथार्थ ज्ञान यही है कि वह जीवों को अनन्त जानता है अर्थात् उन की संख्या वा समाप्ति नहीं जानता कि इतने जीव हैं क्योंकि मुंशी जी के सिद्धान्त से वास्तव में जीव असंख्य हैं। परमेश्वर का ज्ञान अनन्त रहो पर जब वह संख्या नहीं जानता तो एक २ जीव के कर्मों की भी व्यवस्था वा यथावत् फल दे सकना दुर्लभ है यह केवल वाक्य भेदमात्र है कि परमेश्वर जीवों को अनन्त जानता है अथवा परमेश्वर जीवों का अन्त नहीं जानता इन दोनों वाक्यों का एक ही आशय है बोलने की प्रक्रिया पृथक् २ है। लोक में भी जो जिस समुदाय की संख्या नहीं जानता वह उस की यथावत् व्यवस्था नहीं कर सकता। जब कोई कुछ बांटना चाहता है तो उस को पहिले भाग लेने वालों की संख्या जानना आवश्यक होती है जब संख्या जान लेता है तब उन को कर्मानुकूल भाग देता है।

और यह बार्ता असम्भव प्रतीत होती है कि परमेश्वर का ज्ञान जब अनन्त है तब वह जीवों के अन्त को न जान सके। अनन्त कहने का अभिप्राय यह होता है कि वह कहां तक जानता वा जान सकता है इस की सीमा अन्य किसी को ज्ञात नहीं। मुंशी जी को ज्ञात हो गया वा उन के पास परमेश्वर की ओर से कोई रजिस्टरी पत्र आ गया होगा कि मैं जीवों के अन्त वा संख्या को नहीं

जानता तो इस के साथ ही उस के ज्ञान का अन्त हो गया अर्थात् ईश्वर का ज्ञान जीवों की संख्या जानने में रुक गया तो यह कहना नहीं बन सकता कि उस का ज्ञान अनन्त है और ज्ञान अनन्त कहा जावे तो यह नहीं कहना चाहिये कि ईश्वर जीवों की संख्या नहीं जानता। यदि कोई कहे कि हम जान सकने की मनाई नहीं करते कि वह जान ही नहीं सकता। तो भी ठीक नहीं यदि जान सकता है तो भी नहीं जानता कहना विरुद्ध है। अर्थात् यहां मुंशी जी का (वदतो व्याघात) दोष है कि उन के कथन से उन्हीं की बात कटती है ॥

इस से यह बात सिद्ध है कि परमेश्वर जीवों के अन्त और संख्या को भी यथावत् जानता है तभी उन के कर्मों का यथावत् फल दे सकता है जो स्वामी अपने भृत्यों की संख्या नहीं जानता वह उन को कर्मानुकूल वेतनादि फल कदापि नहीं दे सकता ॥

और यह भी एक आश्चर्य की बात है कि जब प्रत्येक जीव का अन्तर्यामी परमेश्वर है यह मुंशी जी मानते और लिखते हैं तो जिस की संख्या वा अन्त नहीं वहां प्रत्येक शब्द का उच्चारण करना ही दुस्तर है प्रत्येक शब्द जिस के साथ लगाया जावेगा उस की अवधि वा अन्त द्योतक होगा और भी विचार का स्थल है कि परमेश्वर प्रत्येक जीव का अन्तर्यामी हुआ तो क्या वह उन के अन्त को नहीं जानता और नहीं जान सकता है तो अन्तर्यामी कैसे हो गया ? क्या जो जिस के भीतरी अवयवों में भी व्याप्त हो वह उस के अन्त को न जान सके यह हो सकता है ? जब लोहे में अग्नि व्याप्त होगया तो क्या अग्नि से लोहे का अन्त शेष रह गया ? अन्तर्यामी और व्याप्त होना एक ही है। यहां भी मुंशी जी का कथन (वदतो व्याघात) दोषग्रस्त है ।

स्वामी जी महाराज ने (सहस्रशीर्षा०) के अर्थ में जो सहस्र शब्द को असंख्य वाचक मान के लिखा कि हम लोगों के असंख्यात शिर आदि अवयव जिस के अन्तर्गत हैं इत्यादि इस में कुछ दोष इस लिये नहीं आ सकता कि मनुष्यों के ज्ञान में जीव सब असंख्य हैं कदापि कोई मनुष्य जीवों की संख्या नहीं कर सकता और वह मंत्र का अर्थ भी मनुष्यों की ओर से है इसी लिये परमेश्वर वाचक शब्द प्रथम पुरुष में विशेषण रक्खे हैं। परमेश्वर की विद्या वेद है यह सब कोई मानता है पर जिन मंत्रों में प्रार्थना है उन का वाक्यार्थ सब मनुष्यों

की ओर से लगाया जाता है और वेद में प्रायः कथन मनुष्यों की ओर से इसी लिये है कि वेद मनुष्यों के उपकार के लिये परमात्मा ने प्रकट किये हैं इस से यह सिद्ध हुआ कि शिर आदि अवयवों का असंख्य कहना वा ज्ञान मनुष्यों की ओर से है मनुष्यों के ज्ञान में असंख्य शिर आदि हैं ईश्वर के ज्ञान में नहीं।

स्वामी जी—जो एक २ अनन्त हैं तो (य आत्मनि तिष्ठन्) इत्यादि ब्राह्मण वचन अर्थात् जो परमात्मा व्याप्य जीवों में व्यापक हो रहा है॥

मुंशी जी—यह ठीक नहीं कि जीवों के व्याप्य वा सान्त होने से ही परमेश्वर व्यापक हो सके क्योंकि (य आकाशे तिष्ठन्, यो दिक्षु तिष्ठन्) इत्यादि कथन भी उसी प्रकरण में है आकाश और दिशा अनन्त हैं उन में भी परमेश्वर व्याप्त है ऐसा वहीं शतपथब्राह्मण में लिखा है इत्यादि मुंशी जी का आशयमात्र लिख दिया वैसे तो उन्हों ने अनर्थक गाथा बहुत कुछ गायी है॥

सम्पादक—जीव एक२ अनन्त मानें तो कदापि मुंशी जी का विचार सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि परमेश्वर के भी अनन्त होने से परमेश्वर के ज्ञानादि गुण अनन्त हैं वैसे जीव के अनन्त होने पर भी उस के ज्ञानादि अनन्त क्यों नहीं? जीव को अल्पज्ञ अल्पशक्ति कैसे मानते हैं?। यदि अल्पशक्ति नहीं तो सर्वशक्ति हुआ और सर्वशक्ति हो तो जैसे जीव में ईश्वर व्याप्त होता है वैसे ईश्वर में जीव क्यों न व्याप्त हो? और यदि सब जीवों को अनन्त मानें तो पहिले दोष दिया गया वह उपस्थित होगा। अब रहा आकाश दिशा में व्याप्त होना सो आकाश दिशा छोटे २ परिच्छिन्न पदार्थों की अपेक्षा अपरिच्छिन्न वा अनन्त हैं परन्तु परमेश्वर की अपेक्षा वे भी अल्प हैं क्योंकि आकाश एक तत्त्व है जिस का शब्द गुण है वह सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न होता है। जब कोई आकाश पाताल दोनों शब्दों का उच्चारण करता है उस का अभिप्राय पृथक्२ वस्तु कहने का है कि पाताल आकाश से भिन्न है वैसे तो सभी तत्त्व एक दूसरे में मिले हैं स्वरूप से भिन्न हैं। आकाशादि एक कार्य पदार्थ हैं। यदि सर्वव्यापक मान के आकाशादि का अन्तर्यामी कहते तो दिशाओं में भी आकाश है ही फिर मुंशी जी के कथनानुसार दिशा पृथिवी जल वायु आदि सब में व्यापकता आ जावेगी तो (दिक्षु तिष्ठन्) इत्यादि कथन सब व्यर्थ हो जावे। इस से सिद्ध है कि शतपथ ब्राह्मण में पृथक्२ तत्त्व मान कर अन्तर्यामित्व दिखाया है किन्तु आकाशादि सर्वगत हैं इस बुद्धि से नहीं तो स्वामी जी के पक्ष में यह दोष देना नहीं बन सकता कि

आकाशादि अनन्त में जैसे बनती है वैसे जीव को अनन्त मानें तो भी व्यापकता बन जायगी। सो एक २ जीव के अनन्त मानने में अन्य भी दोष मैं दे चुका हूं इस से जब मुंशी जी का पक्ष दूषित रहा तो स्वामी जी का पक्ष निर्दोष ठहर गया॥

अब मैं मुंशी जी के इस अनन्तत्वप्रकाश पर लेख समाप्त करता हूं। मुंशी जी ने टाटिल पर अनंतत्वप्रकाश नाम लिखा है यह व्याकरण की रीति से सर्वथा अशुद्ध है इस बात को थोड़ा २ व्याकरण पढ़े विद्यार्थी भी जान सकते हैं इस से सिद्ध है कि मुंशी जी वा उन के शिष्य जिन की सम्मति से पुस्तक लिखते, बनाते हैं कोई भी संस्कृत के विद्वान् नहीं इसी कारण [प्रथमग्रासे मक्षिकापातः] हुआ। सो मेरा यह लिखना इसी अभिप्राय से है कि जो पुरुष जिस विद्या में निपुण न हो उस का साहस रखना और उसी विद्या के आश्रय से किसी विषय को सिद्ध करने की चेष्टा करना उस की अयोग्यता को शीघ्र ही प्रकट कर देता है। नीतिशास्त्र में लिखा है कि:—

अयथाबलमारम्भो निदानं क्षयसम्पदः ॥

अभिप्राय यह है कि जिस मनुष्य को जिस काम के कर सकने का सामर्थ्य नहीं उस का आरम्भ करना उस के नाश का कारण होता है। जब मुंशी जी संस्कृत विद्या को ठीक २ समझ सकने का सामर्थ्य नहीं रखते तो इस विषय में किसी विद्वान् के लेख वा सिद्धान्त पर आक्षेप करना सिंह शृगाल युद्ध के तुल्य हुआ। सो इस का सारांश अच्छे प्रकार पूर्व लिख दिया गया। उपसंहार में अब फिर भी संक्षेप से लिख देता हूं अर्थात् स्वामी जी का अभिप्राय यह था कि प्रश्नोत्तरी पुस्तक में जो जीव को अनन्त माना गया वह ठीक नहीं किन्तु शास्त्रों से भी विरुद्ध है क्योंकि:—

एषोऽणुरात्मा। भागो जीवः स विज्ञेयः ॥

इत्यादि उपनिषद् के वचनों से जीव का अन्त परिच्छेद इयत्ता प्रकट है तो अनन्त कहना ठीक नहीं बनता। इस पर मुंशी जी ने बहुत कुछ कलम घसीटी पर उन का सिद्धान्त वा पक्ष कुछ भी पुष्ट न हुआ न किसी को जान पड़ा कि इन का पक्ष क्या है केवल लौट फेर यही लिखते रहे कि स्वामी जी को कुछ नहीं आता। हम कहते हैं कि कदाचित् ऐसा हो तो क्या इतने लिख देने से मुंशी जी बड़े पण्डित हो गये ?। मुंशी जी का सब लेख बैलखिलकों के तुल्य है

कि जिस में अपने पक्ष की पुष्टि नहीं की किन्तु स्वामी जी को अपना शत्रु समझ कर जो मन में आया भला बुरा लिखते रहे। स्वामी जी का सिद्धान्त स्पष्ट मैंने भी लिख दिया कि सब जीव परिच्छिन्न, अल्पज्ञ अल्पशक्ति हैं मनुष्य उन की संख्या नहीं कर सकता क्योंकि अल्पज्ञ है परन्तु सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् होने से परमेश्वर उन की संख्या जानता है। मुन्शी जी ने ऐसा स्पष्ट अपना सिद्धान्त कहीं नहीं लिखा कि हम एक २ जीव को अनन्त अपरिच्छिन्न मानते हैं वा सब जीवत्व जातिमात्र को। एक २ के अपरिच्छिन्न मानने में अनेक दोष दिये हैं और जिन की व्यक्ति परिच्छिन्न है उन की जाति सर्वव्यापक वा अपरिच्छिन्न अनन्त कदापि नहीं हो सकती जैसे एक तिल परिच्छिन्न अन्त वाला है तो हजार खत्ता भर तिल भी अन्त वाले होंगे। अब मुंशी जी से मित्रता पूर्वक निवेदन है कि यदि कुछ अनुचित शब्द लिखा हो तो क्षमा कर के और आगे कुछ लिखें तो रागद्वेष छोड़ कर सभ्यता सज्जनता पूर्वक लिखें। और धर्मशास्त्रों के वाक्यों का स्मरण रक्खें-

वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥

पाखण्ड मत खण्डन कुठार का उत्तर ॥

इस उक्त नाम का पुस्तक हमारे एक मित्र ने मेरे पास भेजा और विशेष कर मुझे सूचना भी दी कि इस का उत्तर अवश्य देना चाहिये। यद्यपि मेरा विचार ऐसे सर्वसाधारण के तुच्छ लेखों के उत्तर देने का नहीं क्योंकि आज कल जिस के मन में आता है वही सहसा लिख मारता है ऐसी दशा में विचारशील को उचित है कि पण्डिताई के साथ लिखा गया शास्त्र प्रमाणयुक्त लेख जिस का हो उसी पर ध्यान दे अन्य पर नहीं। तो भी मित्र के अनुरोध से मैं कुछ थोड़ी समीक्षा लिखता हूं। इस पुस्तक के टाटिल में भी पहिली पंक्ति में नाम का पहिला पद पाखण्ड लिखना चाहिये जहां पाखंड यह अशुद्ध लिखा है इसी से महन्त का महत्त्व तो प्रकट हो गया नीति में लिखा है कि-

दूरतः शोभते मूर्खो लम्बशाटपटावृतः।
तावच्च शोभते मूर्खो यावत्किञ्चिन्न भाषते ॥

लम्बे चौड़े बड़े २ कपड़े पहने मूर्ख पुरुष तभी अच्छा जान पड़ता है जब तक कुछ बोलता नहीं जहां बोला तभी उस का भीतरी आशय झट खुल जाता

है कि यह निरक्षर भट्टाचार्य है । और बोलने पर भी चालाकी से धोखा हुआ कि कुछ बोल कर कहीं पोल छिपा भी ले तो लेखनी से एक पङ्क्ति भी लिख देने पर कदापि नहीं छिप सकता शीघ्र ही पोल खुल जाती है अब देखिये एक महात्मा सत्यवादी का खण्डन करने को चले सो अपने कदम उठाते ही गिर गये इसी का नाम (प्रथमग्रासे मक्षिकापातः) है और स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज कृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का खण्डन करने चले उस का टाटिल और प्रथम पृष्ठ में कुछ न समझे तब दूसरे पृष्ठ की भाषा में कुछ असंगति निकालने को बैठे तो यदि स्वामी जी के २ पृष्ठ भाषा में कुछ न्यूनता भी हो तो (तृतीय ग्रासे मक्षिकापातः) हुआ उस को भी लोटाभर भंग चढ़ा के प्रथम ग्रास ही लिख मारा इन की विशेष समालोचना मैं न करूंगा अब इन के टाटिल की इबारत आगे ध्यान दे कर देखिये-

जिस को श्री महन्त रघुवीरदास प्रेसीडेण्ट सद्धर्मप्रचारणी सभा हाजीपुर जि० होश्यारपुर पंजाब निवासी जी ने निर्मत किया ।

अपने नाम के साथ श्री आदि पद लगाना शिष्ट लोगों के व्यवहार से विरुद्ध है अच्छे लोग ऐसा कभी नहीं करते फिर अन्त में महन्त जी ने अपने साथ जी लिखा सो भी विरुद्ध है ।

यदि कहैं कि हमने नहीं लिखा अन्य किसी ने हमारा नाम इस प्रकार लिख दिया है तो सो भी ठीक नहीं क्योंकि बनाने वाले का नाम जो पुस्तक में लिखा जाता है वह किसी से लिखा दे पर जैसे वह उस पुस्तक के सब लेख का उत्तरदाता रहता है वैसे ही नाम भी उसी की ओर से समझा जायगा । जैसे किसी के कहने अनुसार कोई अन्य पुरुष हस्ताक्षर कर दे तो लिख देने वाला उत्तरदाता नहीं होता वैसे ही यहां भी महन्त जी का नाम उन्हीं की ओर से समझा जायगा इस लिये शिष्ट व्यवहार को महन्त जी नहीं जानते यह दोष उन्हीं का है तथा आगे छपाने वाले महन्त ब्रह्मदास जी का नाम इन से भी बढ़कर लिखा गया यह भी तीसरा दोष है छापने वाला भारतजीवन का यह काम नहीं किन्तु छपाने व बनाने वालों का दोष है ।

अब चौथा दोष वा अज्ञान टाटिल में बहुत बड़ा है (पंजाब निवासी जी ने निर्मत किया) महन्त जी का आशय तो निर्मित लिखने का था परन्तु अज्ञान

बश कुछ का कुछ ही गया । निर्मत किया नाम बनाया यह अभिप्राय था सो उलटा हो गया कि [निर्गतं मतादिति निर्मतम्] जो वेदादि मत से विरुद्ध पुस्तक बनाया अर्थात् ईसाई मुसलमान आर्य आदि के सब मतो से विरुद्ध पुस्तक बनाया जावे वह निर्मत कहावेगा । सो यह लेख संस्कृत के अज्ञान से हुआ है उन को यह ठीक निश्चय नहीं था कि यह शब्द कैसा है। अब और इन के प्रारम्भ की पण्डिताई पर ध्यान दीजिये । कहते हैं कि (आश्चर्य है कि दयानन्द जी ने सब अन्यथा भाष्य ही समझे) यह भी इन का लेख मिथ्या है क्योंकि स्वामी जी का लेख है कि जितने अन्यथा भाष्य बनाने वाले हुए वा होंगे वे सब खण्डनीय हैं इस लेख से यह कभी नहीं निकल सकता कि सब भाष्य अन्यथा हैं जितने शब्द भाष्य बनाने वालों का विशेषण है जिन का भाष्य अन्यथा मूल से विरुद्ध है उस का खण्डन होगा तो जिन का अन्यथा नहीं उन का खण्डन भी नहीं हो सकता । कौन अन्यथा है कौन नहीं इस की परीक्षा विद्वान् लोग कर सकते हैं। जिन को निर्मित शब्द तक न लिख आया वे क्या परीक्षा करें गे? । ऐसे ही लोगों ने अनेक मत फैला कर परस्पर लड़ा के देश का नाश किया है ।

स्वामी जी महाराज ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रारम्भ में प्रथम मंगलाचरण शान्ति तथा प्रार्थना का एक मंत्र लिखकर आगे आठ श्लोक निज निर्मित लिखे हैं उन में परमेश्वर को नमस्कार भाष्य बनाने की प्रतिज्ञा उस के आरम्भ का समय अपना नाम भाष्य करने का प्रयोजन और प्रकार आदि बातें लिखी हैं जो कि ग्रन्थकर्त्ताओं की प्राचीन शैली है ऐसी बातें ग्रन्थ के प्रारम्भ में अवश्य लिखनी चाहिये ।

कलकत्ते में पहिले एक धर्मदिवाकर मासिकपत्र निकलता था उस के सम्पादक अच्छे विद्वान् थे वे भी आर्यसामाजिक सिद्धान्त के विपक्षी थे उन्हीं ने इन्हीं श्लोकों में से अष्टम श्लोक को पण्डिताई के साथ अशुद्ध ठहराया था उस का उत्तर भी आर्यसिद्धान्त के पहिले भाग में पण्डिताई के साथ ही दिया गया तब धर्मदिवाकर के सम्पादक चुप होगये सो यह ठीक ही है कि विद्वानों को ठीक उत्तर मिल जाने से मान लेते हैं और अज्ञ लोग अपने हठ को नहीं छोड़ते । सो महन्त जी संस्कृतविद्या से तो शून्य ही हैं जैसी पूर्व परीक्षा हो चुकी इसी लिये भाषा में कुछ तर्क लिखा संस्कृत के श्लोकादि में दार न गली ॥

An agenda of what needs to be done to build a better America. A statement of a new bill of rights. Clear and understandable.

A Primer of Economics, by Stuart Chase. Evanston, Ill. Row, Peterson & Company, 1941

Here Stuart Chase writes for high-school students his conception of how the economy is organized He deals largely with our money mechanisms as basic to understanding economics He also considers principles. A simple straightforward account of one economic school of thought

The Road We Are Traveling, 1914-1942, by Stuart Chase. New York The Twentieth Century Fund, 1942.

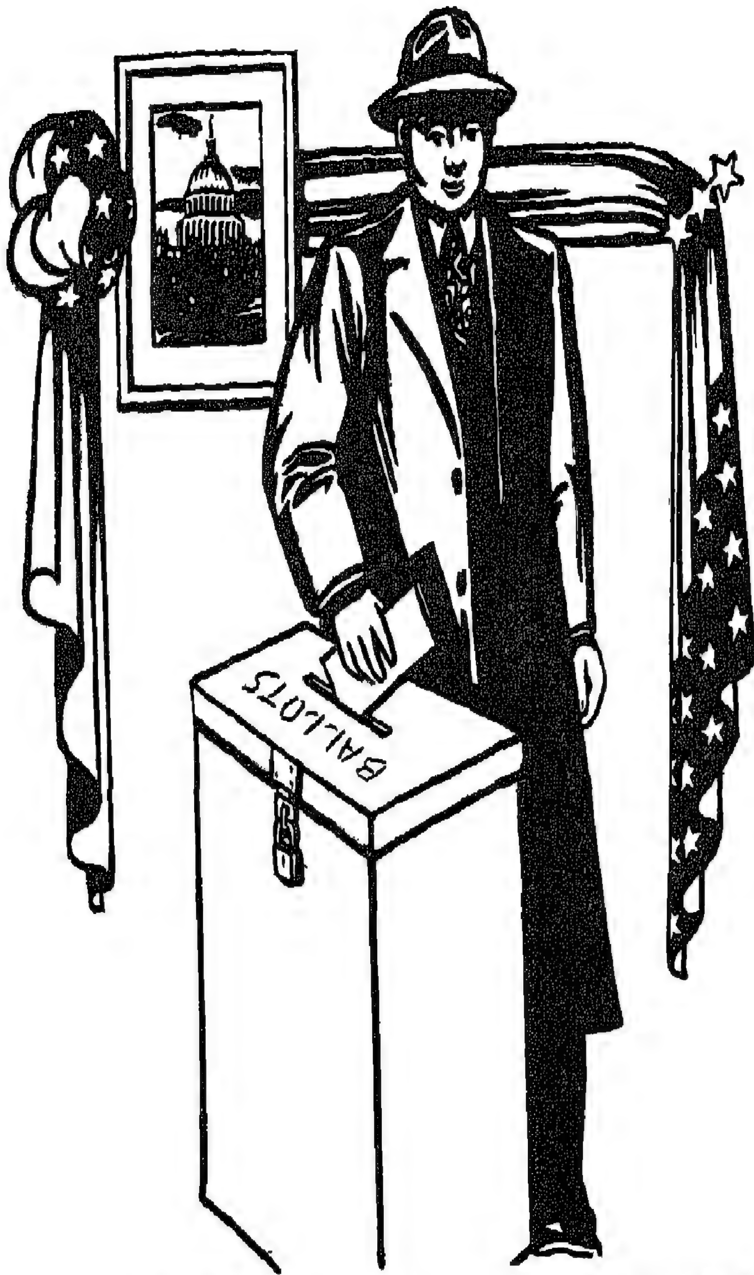
This book is a summary of major economic changes between the First and Second World Wars which make, in the author's opinion, a compensatory economy essential. This is perhaps the most easily readable of the author's Twentieth Century Fund books.

60,000,000 Jobs, by Henry Wallace. New York Simon and Shuster, Inc., 1945

A proposal of a comprehensive "national budget" of purchasing power, production, and employment, with government offsetting deficits in purchasing power or employment through public works and by other devices

Where's the Money Coming From? by Stuart Chase. New York The Twentieth Century Fund, 1943.

An explanation of the workings of money and of the national debt The case for the compensatory economy. A clear and simplified description of one view of a difficult topic, postwar finance.



GOVERNMENTALLY PLANNED ECONOMY

Chapter 13

THE CASE FOR A GOVERNMENTALLY PLANNED ECONOMY

YOUR turn at bat," Doc said to Tom. "Just don't throw the bat at us, though."

"I won't," said Tom "I'm laughing too much to get violent with you You're all too comical for me to get mad"

"Looks like that's one thing we've got in common," Steve said to Pete.

"You've got one other thing in common," said Tom. "You all believe in 'free enterprise.' You roll the two words around on your tongues like a Fourth-of-July orator telling a crowd that he believes in the sanctity of the American home and the glory of American womanhood The funniest thing is that each of you thinks he has the right idea of what this wonderful gift to the world, 'free enterprise,' really is. And each one thinks the others are poor heathen, worshipping graven images

"Pete's all for 'free enterprise.' What does he think it is? No government encouragement, support, regulation, control, participation, ownership—no government anything The government just to be a cop preserving property rights. Meanwhile business will compete perfectly and 'the invisible hand' will see that all the mysterious natural laws work out in just the duckiest way.

"Bill's all for 'free enterprise' What does he think it is? A flock of two-by-four concerns knocking each other's ears off in stiff competition because the Sherman Act says that small-scale production is much nicer than large-scale.

"Mac's all for 'free enterprise.' What does he think it is? Our hero, business, planning everything. Mr. Moneybags setting the prices, planning, producing, keeping his swollen profits, lowering his taxes—doing just about everything except one thing Mr. Moneybags doesn't compete—some of the boys might play too rough. What is government doing while this is going on? Sitting around and deciding when Thanksgiving will be! Its services won't be needed, because the wolf, capitalism, is going to do the economic planning for the benefit of the dear little lambs, the common people.

"Even Steve's all for 'free enterprise.' What does he think it is? For a while I couldn't tell for all the talk about two fronts. But it turned out that his to-do about human welfare



was really for the benefit of alma mater, good old 'free enterprise.' When the private enterprise section of the economy gives us bigger and better depressions by letting the machines rust while the workers stand in bread lines, the government is nobly to step in. Then it will pacify people's misery with bread and circuses and make-work jobs in a 'free-enterprise' system

"Everybody is for good old 'free enterprise.' But you all scrap like Kilkenny cats over what the blessed thing really is! Everybody's got a program to save 'free enterprise'—whatever it is. That is, everybody except me

"Because I think that your monopoly capitalism, which you dress up in fancy pants and call 'free enterprise,' isn't worth saving any more It was O.K. in its day, but its day was yesterday. Now, instead of slaving at the pumps to save the old wreck, we ought to let it sink—and good riddance to it!"



Pete was aghast. "How can you say such a thing?" he exploded

"Why not?" Tom asked coolly. "Afraid to face the truth? The system's a failure, and that's all there is to it Look at the lives we could have if we used the men and materials we have—really used them scientifically for the good of all Then look at the lives our system actually gives most of us ordinary Joes. Jeepers, what a difference! Capitalism hasn't delivered And you may as well admit it."

"That's plain silly," said Bill "I don't see how anybody can think that, if he takes a sensible look at our mass production, our efficiency, the things we have, and the way we outproduced all our enemies in the war two to one."

"Especially if he has the common sense to remember that we've done all that and at the same time kept freedom for everybody," Pete added.

"That's why I personally won't even consider giving up the basic system, even though I want to build a modern wing on the fundamental structure," said Steve. "When it comes to production there's simply nothing like it It's got inventiveness and ingenuity and it generates tremendous power. When it comes to distributing the goods or providing social services or everybody consuming enough, I'll admit there are still a few bugs in the system"

"A few bugs!" Tom roared "There's a plague of locusts loose in the system! Sure, we have the makings of a wonderful level of production—thanks to our natural resources, our climate, and the productivity of labor, as well as to our genius for management. I'm not arguing that. But what does it get the average guy? All the pretty machines and stores full of things to buy don't do much good if you're unemployed or working for peanuts and eternally scared of a layoff.

"The big question is—who gets what? Some of you talk about a high standard of living as though Americans actually were living in a land of milk and honey. Stop kidding us I'll bet three out of five families in this country have less than they need for a decent standard of living even in the 'good' years The home economics teacher in your high school could have proved that with figures. And at least one out of three of them live in tumbledown houses all the time and have empty stomachs more often than full ones When your free-enterprise system breaks down every few years and gives us years of depression, poor people are pushed down to the barest existence. They're not wanted, they're made to feel they don't belong.

"The upper-income kid grows up in a suburb where there's grass around his house and room to play He never wonders where the next meal is coming from, he knows the maid will bring it to the table.

"The kid whose family is struggling along grows up in a city slum and he finds his fun on traffic-jammed streets or in the back alleys Or he grows up in a rural slum, a shanty or shack without running water, where all the kids sleep in one crowded room He wears holes in his clothes and then keeps on wearing them. He. . . ."

"I don't see what you are proving," interrupted Bill. "We're just as sympathetic toward poor kids as you are. Are we supposed to eat little children for breakfast because we believe in the free-enterprise system?"

"What we're *all* proposing," Mac put in, "is ways to provide income and jobs and a decent standard of living for people. You left-wingers haven't got a monopoly on human sympathy There is social-mindedness in modern business."

"That all sounds fine," Tom answered, "but whenever

Pete and Mac, in particular, talk, they seem to be worrying about the feelings and income of businessmen. They don't sound equally worried about the poor devil who has had to live his life in filth and poverty. I thought I'd remind you, as Steve did, that this country belongs to the common man, not to the robber barons and the exploiters."

"Maybe it's your poor devil's own fault," said Pete "I can't see why he has to be filthy—soap is cheap and water's free. He has a chance to rise just like everybody else. Look at Henry Ford and Edison and all the others who started poor and went up the ladder. It's a free country with rewards for those with the gumption to get 'em."

"Still holding on to the pipe dream that any young man with ambition and a clean face can rise from rags to riches, à la Horatio Alger, aren't you, Pete? It's a free country. Oh, yeah? The tenant farmer is free to sell his cotton or tobacco or corn or wheat at whatever the market offers—or he's free to bring it home again and starve. The worker's free to take a job in the mill or the factory at whatever wage is set—or he's free to sit around home and watch his family go without what they need. The rich man and the poor man are both free to sleep on the park bench or get a bowl of soup in the bread line, if they want to. Some freedom your 'free enterprise' has brought us!

"Don't get me wrong," said Tom. "I'm not against freedom because I'm against free enterprise But I'm for freedom in an orderly framework! It's the dog-eat-dog, every-man-for-himself, capitalist freedom I'm against. I'm for controls that would give others freedom and a full stomach too You can get more freedom by having traffic rules and regulations which people pay attention to, than by having every-

body driving hog-wild. Let's give up this doing just as we please and get security."

"You'll make bums out of people by giving them security," said Pete "Give them security, and you'll have to force them to work. I don't see what Steve is going to use for money in his mixed—mixed-up is a better word—system. And I don't see what *you're* going to use for incentive. Men work for money and power. Unregulated competition fits in with human nature. It's easy to criticize, but what do you propose?"

Tom said, "We've got to have economic planning And it has to be done by the government. Our unplanned capitalism broke down once too often in the twenties—it showed that it just doesn't work. The nearest we have come to all-out planning was during our two world wars. And how we turned out and used stuff then! The national income went beyond all records in this last war Why? Not because of free enterprise, as Pete and Mac say. But because we *forgot about* free enterprise and we planned and we controlled production We had a War Production Board that coordinated plans into a master all-out production plan

"You can't plan in a half-hearted way by little dabs of government activity, as Steve wants to do. We still had millions of unemployed despite the government pump priming in the thirties.

"The question now isn't whether we should plan We *have* to plan The system is too complex to depend on automatic working of so-called 'natural' laws. Mac admits that, and Steve recognizes it. The question now is who is going to do the planning

"Mac wants business to have the upper hand in whatever planning is done Have businessmen a monopoly on brains?

Haven't scholars and consumer representatives and unionists and farm leaders any ideas? Why should the owning class set the policies and do the planning, and not the people? Wasn't it old Tom Jefferson who said 'government *by* one class is government *for* one class'?

"I want the policies to be set by men who are responsible to the people. In a democracy, that's our elected officials. Government policies can be changed by public opinion and through voting into office men with policies the majority of the people support.



"So I want government to do the planning and put the plans into action. I want an official planning group to advise our representatives, and then I want administrative machinery to carry out the policies of our representatives. There must be a central planning board, something like the War Production Board, with power to make its decisions stick. There would be grass-roots planning, too, by unions and by managers, by farm cooperatives and consumers' organizations. But all the little plans would be geared together by government into one big plan which would tie together production and consumption and income and finances.

"Based on the Board's planning as to what to produce and what might be wanted for consumption, industry would turn out goods at reasonable prices so that there'd be both production and purchasing power. At least while we're making the transition from an unplanned capitalism to a planned society, we'll use the existing structure of things, but with

a ceiling on profits, and with government ownership and operation of monopolies, public utilities, and banks As time goes on, managers of such business will slowly and steadily become well-paid technicians employed by the nation as a whole to produce materials in accordance with a plan"

"You mean this board is going to tell these 'well-paid technicians'—who used to be independent business managers—what they can make and when they can make it and what they can charge for it when they get it made?" There was a tinge of horror in Pete's voice as he asked the question.

"I mean just that," said Tom. "A plan's no good if you don't have some way of putting it in action."

"Government of the bureaucrats, by the bureaucrats, and for the bureaucrats?" inquired Mac, restraining himself with elaborate politeness.

"Efficient government administration will be necessary," Tom went on. "So will a program of education toward better citizenship. There will still be politics, because that's essential in democratic government, but Congressmen and all other policy makers will have to learn to base their actions on scientific research But even what you free-enterprise lads like to cartoon as 'bureaucracy' will seem like heaven compared with the postwar depression we'll move into in a capitalism that can't distribute income to the people who make the goods, a capitalism which doesn't use men and machines for full production. Anyway, don't forget we've got the equivalent of bureaucracy in private business, too—and it isn't responsible to the people, as government employees are. Studies show that fewer than a million businessmen make the decisions that really count And of that million a handful of men probably are responsible for most of what

goes on. There has to be control somewhere, and I'll take my chances on turning it over to our government."

"What are you going to use for incentive?" persisted Pete.

"Your favorite question isn't it, Pete?" grinned Tom.

"All right," Pete snapped. "Maybe it is an old-fashioned question, but you can't just laugh it off. We've been going for a long time now and doing very well in a system where every man's self-interest—the good old profit motive—gave him the spark it takes to make a man work hard and use his brains. It paid him to think hard, to figure out new things to do and better ways of doing things, to take a daring chance now and then. When you added together all the things a lot of ambitious, able men did, you got the American way of living.

"Now you're going to wipe all that out. You keep using the word 'planning,' but you know as well as I do that you're using it as a pretty cover-up for the ugly word 'control.' You're going to put a ceiling on the returns a man can get by using all his ability. That kills the thing that has kept men striving. Now just what are you going to put in its place?"

Everybody tried for the floor at once, Bill and Mac obviously backing Pete's judgment, even Steve apparently troubled. Finally Bill broke through the hubbub. "Your system just won't work, Tom," he said. "Maybe you can build a pretty machine that way, but it won't have any spark plug. An economic system works well because each man puts his heart into his work. And you're fixing to take the heart out of it."

Doc stepped into the discussion. "The boys have a point, even if they are generating more heat than the rules of this bull session call for. They claim the four cases we heard up

to yours were fundamentally pretty much alike—just modifications of the same going system But they say you're setting up a whole new basis of operation Whether our system is good or bad or somewhere in between, it has depended on a certain kind of motivation to keep the human beings—who are the real substance of any economic system—pushing and striving. They think you can't find an adequate substitute for that motivation I'm sure you have something in mind, but you'd better meet their point squarely And their point, as I see it, is simply that your system won't work

"We can afford to spend some extra time on your case," he added, "because it is so different"

Tom nodded soberly "That's right," he assented. "It's me against the field, because I do want something fundamentally different from 'free enterprise' or 'mixed economy'

"In the first place, you are all exaggerating the change in motivation. Government planning won't wipe out the kind of incentives you think work Men who are too lazy to work won't get a good living handed to them on a platter The more efficient will still get better pay, more pleasant, responsible positions, and greater respect in their communities. What I'm proposing is not communism, which I reject And it doesn't go anywhere nearly as far as Russian communism in changing incentives. But even in Russia people who have ability and who work hard get much bigger returns than the others do I saw an article in an old *Reader's Digest* just the other day called 'Stalin Pays 'Em What They're Worth.'

"But just for the sake of argument I'll take you at your assumption that the money incentive will be gone What then? Why, then, the incentive will be the kind of world

we can build if we plan, instead of following dog-eat-dog rules. A world of full production, full employment, security A world with decent homes to live in, good food and clothing, leisure hours when we can have fun A world in which we have steady jobs, where our wages get better as we produce more, where we can have ourselves a good standard of living.



A better world for all is incentive for the individual.

"In that kind of planned world, Pete, a man will *belong*. His job will mean something, for he'll be working for community welfare, as well as for his own There was a great man who once said, 'Man does not live by bread alone.' That's what people like Pete don't take into account when they claim that dog-eat-dog behavior is really human nature. Selfish working to have more money than the other fellow isn't human nature It's just something we learn in a society that gives all the rewards to the tough and ruthless. Where people feel there's something to work for that's bigger than themselves, people will act more like scientists and country doctors than like gangsters and pirates

"And you don't have to put it on high and mighty theoretical grounds, either. Just look around you at the workers you know Why do you think a farmer goes to a lot of pains to plow a straight furrow? It doesn't increase the crop or put more money in his pocket Why does a doctor stay up

all night to save a baby when he knows the parents won't pay him a dime? What keeps research workers plugging away for years on barely enough to live when with their brains they could make oodles of money? For that matter, why does your mother dust back of the furniture where she knows no one is going to look? I tell you, people don't just work for pay checks—except maybe some who haven't any choice but to do dull, dirty jobs. People get a kick out of doing a good job, if they know it's worth while Veblen called it the 'instinct of workmanship.'"

They looked to Pete for his comments.

"Mush," said Pete briefly.

"The prosecution rests," said Tom. "Gentlemen of the jury, don't bother with sentencing to death the defendant, Free Enterprise. The poor old system is ready to pass out through natural causes any day now It's dying of the disease Poverty-in-the-midst-of-plenty. When it's dead we'll plan for plenty."

"So," said Doc, "you advocate a central planning board, Tom, with grass-roots planning too The function of the Board will be to translate policies into plans. You want the people's representatives, backed by adequate research staffs, to set policies, instead of irresponsible businessmen. For a transitional period, businessmen will keep their businesses, but production will be for strictly limited profit, but there will be a growth in government ownership and operation of certain key enterprises until finally the present owners and managers will be well-paid technicians employed by the government. Production and consumption will balance each other in an economy that's planned. You'll take a chance on bureaucracy, for it will be democratically controlled by an adequately staffed Congress, and it will exist to plan the

economy in accordance with the people's wants. In that kind of system people will 'belong.' They'll work to build a people's world. Is that the way you would put it?"

"Just about."

"Wait a minute," said Bill. "Maybe Tom's willing for his 'prosecution,' as he calls it, to rest. But I'm not through with mine.

"A little while back we all hopped on Tom because we didn't think his system would work We didn't think he could maintain the efficiency and the boundless energy that we have under free enterprise. I still don't think he has proved that he could, although what he says sounds nice

"But let's grant that his government planning and economic control *would* work Let's even exaggerate and say his planning board's paper plans would work out perfectly and we'd have high production, and jobs, and two cars in every garage.

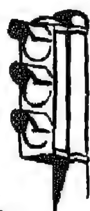
"Gentlemen," he said thoughtfully, "I still wouldn't like it. Because it isn't democratic Sure, I'd like security. I'd love to have all the shiny gadgets and all that. But not at the cost of my personal freedom!"

"That's me all over," Pete added quickly. "If I have to choose between luxury under bureaucratic control or less security and luxury in a free country—and I don't believe I have to make that choice—I'll take freedom. It's all right for you fellows to tinker with strictly economic policies, even if I don't agree with you. But I don't think Tom even has a right to tinker with our basic democracy and try to introduce some un-American system—whether he calls it plain communism or thinks up some nicer name for it"

Doc stepped in again as moderator. "How about it, Tom?

As I see it, the boys are saying that economic efficiency isn't the only test of a new policy. It also has to square up with the basic principles of American democracy And they think your system throws an essential part of that democracy overboard for the sake of security and efficiency. How do you feel about that?"

"It's a good question, and I'm glad it came up," said Tom. "Only don't muddy it up by yelling 'communism.' That's a trick the big boys use every time some proposal comes up to give the ordinary man a break.



"Of course, that we give up some of what you mistake for freedom is true. We lose a little freedom of action, too, when we put up a traffic light—the freedom to barge through the intersection as we please. But actually we *gain* freedom of action, because everybody else is subject to the same law, and we can get where we want to go faster, more easily, and more safely. In a way, any regulation is like that. If it's really needed to solve a problem, if it applies to everyone equally, it may give you a lot more actual freedom by taking away a little bit.

"I think we need to define what we mean by democratic freedom I don't believe it just means freedom for a few strong and maybe ruthless men to rise to the top and dominate the rest. If freedom is a precious part of democracy—and I believe it is—then we need to shoot for the greatest freedom for the greatest number. And I believe you can get that best

by controlling industry in the interests of everybody rather than by letting a few people grab it for their private gain."

Pete tried to break in, but Tom went on. "Let me take that further. You fellows all make democracy and free enterprise practically synonymous. I admit that they sort of grew up together And I think that each of them was a tremendous gain over what went before. But now I think we are ready for the next step."

"You mean leave them both behind and go on to something new?" asked Mac slyly.

"No," Tom protested. "I mean we're ready to *increase* democracy by extending it to include genuine economic democracy along with political democracy."

"Mush again!" Pete said. "What's so undemocratic about a farmer running his own farm? What's so democratic about having a lot of bureaucrats telling him what to plant, and making him kill off his little pigs to suit somebody's beautiful 'plan'? You're just using nice words to cover up a lot of interference in everybody's life"

"If it's necessary to regulate your farmer somewhat in order to keep agriculture as a whole, and our economy as a whole, healthy, then I'm still for it," said Tom steadily. "Individual freedom is good, but the common welfare is important, too.

"But I think you are talking about a kind of liberty which isn't necessarily essential to democracy. I'll fight to the last ditch for freedom to think my own thoughts, say what I think, and live my own personal life. That's the kind of freedom democracy means to me. That's why I'll never go for communism or fascism. But that's different from. . ."

"Yes, and you'll lose *those* freedoms, too," said Bill. "Maybe not right away. Your planners will start with a

moderate program, but little by little they'll think up one 'necessary' regulation after another Ben Franklin said it—'If we give up liberty for security, we lose both.' Look at what happened in Germany and Italy and . . ."

"Aren't you forgetting that *our* planners will be under *our* control?" Tom asked. "You can't compare that with what happens in a Nazi setup where a few guys get almighty and run things to suit themselves."

"O K.," Bill assented "There's a difference. But all the same, you just give *any* bunch of government men—I don't care how good their motives are—25 years of planning for us infants, and see what you get. And don't forget our office-holders aren't all statesmen by a good many miles You'll have a tough time convincing me that they'll always run things scientifically, for the good of all. Not when it will be easier to get a lot of votes in the old home district by making big promises and pulling some juicy chunks out of the good old pork barrel."

"That's true enough," Tom agreed, "especially if you're talking about elective officeholders But I think there's a lot of propaganda wrapped up in this word 'bureaucracy' Instead of talking about 'bureaucrats' all the time, let's use the term 'civil servants' for a minute I think you'll all agree that we have many expert career men They work for low salaries and they work hard They spend a lifetime learning all they can about some specific field. They work behind the scenes, so they seldom attract much attention or controversy, and they're not much influenced by political pressure because they're simply out of touch with it Many of them are scientists in the best sense of the word"

"How about some examples?" Bill asked.

"Easy enough," Tom said. "Take the technical men in

the Bureau of Standards, who help businessmen set standards and develop new processes You'll find that business people have plenty of respect for them. Take the United States Forest Service—ever hear anybody complain that the Rangers don't know their stuff? Take the FBI—those boys are good, don't you think? Take the fellows who gather statistics in the Department of Commerce and the Department of Agriculture, did anyone ever tell you they change their figures to suit the political situation? Take the research men in the Public Health Service or the Bureau of Human Nutrition, or the Children's Bureau.

"There are plenty of cases already where your so-called 'bureaucracy' pays back dollars for every dime spent. And we can improve the services a lot more if we make a serious try at it"

"Gentlemen," said Doc, "I am going to call time on you. Tom believes that control by a government which we the people run is democratic—more democratic than indirect control by powerful business interests who don't have to answer to us He believes that if we citizens are alert and intelligent we can secure good enough government to make planning work Apparently Steve must agree with him in large part on that. The rest of you don't

"Well, each of you will have to make his own estimate, and work for what he thinks is best.

"Of course," he went on, "I shouldn't say that just because you are forced to fall back on opinion you must stop discussing and arguing. In our kind of society we all have a stake in the outcomes and we all have a right to put in our two cents' worth

"But I think we could easily overestimate the degree to which this discussion has been an argument. You fellows—

and just about all the rest of us Americans—are after pretty much the same things. You all want to foster a sound economic order that will continually raise the standard of living and provide opportunity for every decent individual to attain a scale of living commensurate with his abilities and his desires

"That means, as you all see, that there must be freedom. But it also means, as you feel in varying degrees, that the freedom must be limited and regulated in some orderly way for the best interests of all. You all claim your goal is a democratic way of life. Our constant problem—the one you've bumped your noses on time after time—is to determine how much regulation is necessary, and how much is too much.

"No one person can lay down the rule for answering that question No one person or group can even dictate a definition of democracy we all have to accept. The whole citizenry must participate in making a collective judgment. And there are two dangers One, that too many people will make their judgments rashly, without sufficient information. Two, that too many people will choose selfishly what would immediately benefit them or their particular class or group Democratic judgment can be good judgment only if it is based on a broad foundation of informed judgment and of consideration for the best interests of the whole society and of the individuals who make up the society"

Well, what is *your* estimate on each of the two basic issues?

1. Will a governmentally planned economy maintain and progressively increase the energy, inventiveness, and drive that America has traditionally had? Is the profit motive essential, as Pete, for example, thinks?

Or can other equally strong—or stronger—motivations be developed, as Tom thinks?

2. Is the degree of governmental planning and control Tom wants consistent with your concept of democracy? Is it even, as Tom suggests, conducive to better democracy? Or will it, as some of the others feel, stifle the personal freedom which is an essential part of democracy?

"Planning" is another term none too easy to pin down What does it mean to Tom? To you?

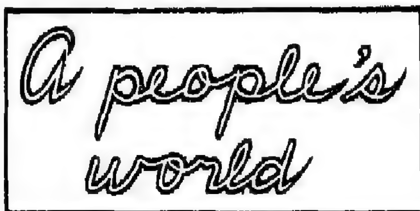
What does Tom mean by these words and phrases

free enterprise
monopoly capitalism
full production
American standard of living
capitalist freedom
controls
security
economic planning
bureaucracy
a central planning board
belonging
human nature
instinct of workmanship
poverty in the midst of plenty
who is going to do the planning?

Chapter 14

SUPPORT FOR A GOVERNMENTALLY PLANNED ECONOMY

SO WE turn to those who agree with Tom, to present the arguments they stress, and to picture the kind of solution they propose. In place of what they see as planlessness, they would have planning In place of having economic decisions made primarily by businessmen, they would have economic decisions made by the people's representatives in government. And they would have those decisions welded together into over-all government planning of the economic system.



The proposals of this type of planners go by many names· "planned economy," "democratic collectivism," "strategic planning," "planned consumption," the "transition to socialism," "planned abundance." As is usual with economic proposals, the name is less important than the meaning.

Furthermore, the thinkers whom we are here lumping off together are by no means in complete agreement among themselves, no more than are advocates of leadership by business or advocates of the compensatory economy Some want much more drastic change than others do. For instance, some

want socialism. Others, like the National Planning Association, work for democratic national planning through the cooperation of government, business, labor, and agriculture.

But they are agreed that a fundamental change from free enterprise is essential. For, say the planners, the test of an economic system—the test that can be used to determine whether any social institution is worth its salt—is simple *Does it serve the people?* Does it promote the common welfare? If an institution or system does, keep it If it doesn't, change it. And by this test, in their opinion, free enterprise fails. The system, they say, simply does not work.

The Charges against Free Enterprise

In its infancy, most planners will admit, free enterprise represented a forward step It took the place of a static feudal society; it played its part in extending democracy, it helped develop natural resources and productive techniques But now its ways no longer fit the civilization it helped to bring about, and it no longer even exists in its classic form.

Because the changes proposed in this section are broad, it is necessary first to see what reasons are given for making a change. There are many counts against the system, but the most obvious are these, say the planners.

1. *Free enterprise has not achieved an equitable distribution of income* Equitable (fair) is the important word. Planners do not call for an *equal* distribution of income, they do, however, call for a raising of the income of the poor even should it involve lowering the income of the rich Thus, even though they do not ask for complete equalizing, they do want some.

Those who reject free enterprise cite a battery of facts

and statistics to dramatize what they think is maldistribution of income in the United States. The classic Brookings Institution study, *America's Capacity to Consume*, showed that in 1929, heyday of the prosperous twenties,

> Nearly 6 million families, or more than 21 per cent of the total, had incomes less than $1,000 About 12 million families or more than 42 per cent had incomes of less than $1,500.

In this society of haves and have-nots 36 thousand families received as much income as 11,653,000 other families did. One-tenth of 1 per cent of the families of the United States had available for their private consumption as much as 42 per cent of all of the American families.

A study of the years 1935 and 1936 showed that in this depression period more than 12 million families subsisted on less than $1,000 a year. (Included in that $1,000 is the value of food raised by rural families for home consumption.) In that year of human suffering, roughly two-thirds of our families were receiving less than $1,500. Even in the war-boom year of 1942 some 3½ million families or individual "consumer units" had cash incomes below $500.

2. *Free enterprise cannot use our great technology for full production* Almost half of our American families receiving less than $30 a week in a boom year might not represent failure for an economy of scarcity where there was not enough to go around. In fact, to most nations it would seem like lush prosperity. But it does represent failure, insist those who see high possibilities in another system, for an economy of abundance, where plenty has been proved to be awaiting our use. For our economy, even in 1929, was one

in which the Brookings Institution estimates in *Income and Economic Progress* that a 20 per cent increase in productivity was possible with existing labor force, and existing industrial methods Such a 20 per cent increase could have brought the income of all families to a $2,500 level without scaling down the income of those receiving more than this figure

Other estimates of what we might have produced in 1929 were still more optimistic The National Survey of Potential Product Capacity asked, "What might the American people expect in the way of goods and services if the productive plant was operated at capacity?" and concluded that "those goods and services which were not produced or handled would have been sufficient to remove destitution and the fear of destitution from every citizen without taking anything away from the fortunate 8 per cent possessing in 1929 incomes of $5,000 or more per family." Yet in this economy where plenty was possible, 71 per cent had incomes of less than the $2,500, which Brookings found feasible under present methods Ninety-two per cent had less than the $5,000 which the National Survey found feasible under an economy of full production. Free enterprise was missing the chance to use our resources and machinery to create abundance and the good life for all.

The most striking example of what could be accomplished came during the war when, working by plan, we almost literally superimposed the huge wartime production upon 1940's production, though millions of the most vigorous workers were out of production while serving in the armed forces.

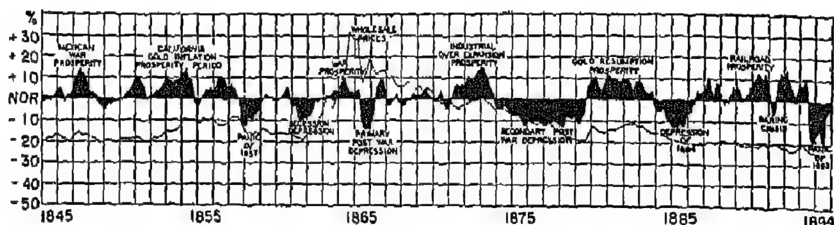
3. *The free-enterprise system cannot supply jobs to those who wish to work.* This third charge is related to the

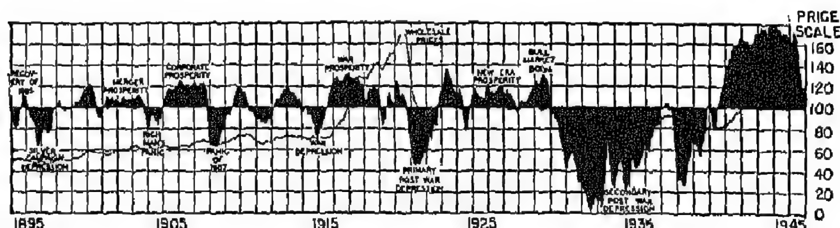
first two Even in 1929, according to the Committee on Economic Security, unemployment ranged from about ½ million in October to nearly 3 million in February. At the depth of the depression there were between 10 and 15 million "set free" to walk the streets. The figures speak for themselves.

In view of this record there is skepticism about the ability of capitalism to provide jobs for our postwar labor force, especially since we are able to produce much more per man-hour than ever before At a meeting of the American Economic Association in 1944, Dr. Julius Hirsch of the New School for Social Research said,

> In 1929, the year of our greatest prewar prosperity, we employed 48 million laborers for approximately the same number of hours per day as we do at the present time Today, employing ten per cent more workers for no more than the same number of hours, we are producing far more than double the total volume of 1929.
>
> The question now is After this job is done, what will we do with the 9-10 million people we have employed through 1943-44 in addition to those employed in 1939? These are the people who have made this greatest production of all times possible. And in addition, we have that most precious part of the nation, the 11 million in the armed forces . . .
>
> With our present methods, I feel it is impossible to create full productive employment for a labor force of 62, 60, or even 58 million persons

4. *Free enterprise enters into bigger and worse depressions as time goes on.* The chart on the following page tells the story graphically.





Courtesy Cleveland Trust Co

Every one of these depressions left a trail of misery, lost savings, lost jobs, lost homes and property. And what, the planners inquire, brought about these colossal collapses? Socialism? Statism? Governmentalism? New Dealism? No, indeed, no other *ism* than capital*ism!* They believe that, although there would be some fluctuations under any system, the violence and destructiveness of America's business cycles have been because of its capitalistic organization and can be avoided under government planning.

5. *Free enterprise is characterized by endless insecurity* It isn't only the physical hunger, cold, and suffering of the lean years that are hard to take There is an erosion of human personality when men forage for food in garbage pails, rake leaves, or sit at home through endless afternoons. There is the creeping fear that insecurity brings. The creeping fear of losing your job. The creeping fear that some day after you are forty-five you'll hear the foreman say, "It isn't

that I want to lay you off, Jack, but. . ." Insecurity—a ghost always there. Always the thoughts which begin with "What if. . ." What if there should be an accident on the job? What if the baby should need an operation? What if I have to support my mother and give up marriage?

If such insecurity were necessary, say the planners, that would be that, human beings can face what they have to. But the planners feel that it is not necessary, that it is only incidental to the kind of economic organization we have. Change the organization, plan for steady high-level production and the avoidance of extreme fluctuation, provide for the minor fluctuations through social insurance. Then men can have security.

6. *In the free-enterprise system people don't "belong."* If the "profit motive" which is endorsed by the proponents of free enterprise is to be the only economic motivation, then, say the planners, people will feel no loyalty to a something greater than themselves, no allegiance to an ideal. For the only ideal thus set out is loyalty to one's selfish material interest But the planners insist that the profit motive is not an adequate explanation of men's behavior. It is no mere theory, they say, that "Man does not live by bread alone." Men want some higher purpose to strive for History is full of men who, far from being cold materialists, were passionate strugglers for their fellowmen They went on crusades, they suffered themselves to be driven into the wilderness because of their insistence on freedom, they sank to their knees in adoration in forbidden churches; they went without shoes in Revolutionary War times, they risked their lives in speaking against slavery, they organized unions over the opposition of strike breakers, labor spies, the police, and the scandalized indignation of conservative society.

The philosophy of free enterprise is inadequate because it is based on the narrow concept of "economic man," the idea that man is as calculating of his own advantage as any Scrooge. The "economic man" ceaselessly calculates his chance of buying the best at the least, of turning a penny's profit, of getting a few coins advantage over the other fellow. This, say the planners, is the bloodless abstraction which we are supposed to believe representative of humanity.

A person isn't an economic man. People want to "belong." People want to participate One may not agree with all the objectives of the Russians, but he can't deny the surge of enthusiasm with which they have thrown themselves into building a new society. And he can't claim that the American factory worker, doing a routine job for a company in whose management he has no voice, shares that enthusiasm. The youngster cited by Sabra Holbrook had something like this in mind when he put it, not very elegantly, "In Germany youth is allowed to work for the state along with the big shots but here everybody thinks kids is dopes" The philosophers of the economic man think "adults is dopes," too

It is not, say the planners, that we believe people should be encouraged to "belong" through the state worship of Hitlerism or the new nationalism of the Soviets. But there must be something bigger than the empty pursuit of financial success Everyone should find fulfillment democratically in playing a part in his society, counting in his community —"belonging"

Capitalists worry, smile the social planners, about the lack of incentive for good work in anything but a capitalistic society. But it is precisely capitalism itself, with its limitation to narrow financial goals and its insistence on self-inter-

est, that fails to tap the deep, abiding purposes for which all men will genuinely strive.

> What do planners believe about what human beings want, about what drives them? Many things said by Tom, as well as the fifth and sixth criticism of free enterprise cited above, deal with theories of human nature. Do people need security? Do they want to belong, to share in a common effort?
>
> Contrast this point of view on people with the interpretation that people want adventure, risk, and that they are concerned for their selfish ends without regard for the welfare of anyone else Are wants and needs something one learns or something fixed in human beings?
>
> Perhaps you'll want some of the class members to specialize on study of psychology in an attempt to understand why human beings (including you!) believe as they do Some of the questions they might study include Which of our drives and needs are learned, and which are part of an unchangeable human nature? Are we products of our heredity or environment, or both? Are there instincts of workmanship and self-preservation?

7 *Free enterprise is at a stage in which opportunity for advancement and self-employment grows less* Some justify what free enterprise calls "the business game" by reference to the thrill one gets by rising to money and power. Some rank individual success in competing with others more highly than any other value. If they are not already in the top group, they support free enterprise in the hope that some time they will be. The literature of capitalism titillates their expectations with tales of the great men who have risen from tykes to tycoons, from barefoot boys to bulls and bears on Wall Street.

But, actually, much of the old ease in crossing from one economic group to another in America has been lost. As more and more of each kind of business has been concentrated into great factories, chain stores, and corporation firms, it grows harder for the young man to enter these fields with an enterprise of his own. In Benjamin Franklin's day, the ambitious young journalist could start his own paper. Today, when a newspaper involves a great investment and a struggle against existing giants, the young man can only hire on as a reporter, and the chances are he will never be his own boss

In *Middletown in Transition* the Lynds found that

> In every major field of work the share of the population employed was growing more rapidly than the share of the population self-employed or employing others . . The situation in Middletown industries roughly epitomizes the general situation in all occupations What one seems to be witnessing here is a fundamental alteration in the vaunted American ladder of opportunity by which one has been traditionally supposed to "go up in the world," "get ahead," "improve one's self," "arrive" .
>
> There are probably far-reaching social implications in these changes in the American ladder of opportunity Our American culture has founded its exuberant boast of a classless society upon the two facts of universal suffrage and of vertical mobility up the pecuniary ladder In the past reality and the alleged permanent continuance of this universally accessible ladder lie the popular justification of the reigning *laissez-faire* philosophy—as regards the present predatory practices of business enterprise, the pattern of uneven distribution of the national income, and the virtue of self-help in contrast to

the alleged "immorality" of many types of social legislation, from public "doles" and unemployment insurance to old-age security.

8. *Free enterprise is a system in which labor is exploited, in which labor must struggle for every social gain.* From the beginning of the industrial revolution in England, the worker was regarded both by economists and in actual practice as a means to cheaper mechanical production. He was a tool, merely one of "the factors of production." The modern democratic idea of respect for the worth and dignity of every individual was not applied to him. Lewis Mumford says,

> Human beings were dealt with in the same spirit of brutality as the landscape, labor was a resource to be exploited, to be mined, to be exhausted, and finally to be discarded . . . The poor propagated like flies, reached industrial maturity—ten or twelve years of age—promptly, served their term in the new textile mills or the mines, and died inexpensively.

The same attitude toward labor, and the same conditions prevailed when capitalism's factory system was introduced into America Faulkner and Kepner cite the rules and regulations of Amasa Whitney's mill in Massachusetts in 1830,

> The Mill will be put in operation 10 minutes before sunrise at all seasons of the year The gate (sluice gate for water power) will be shut 10 minutes past sunset from the 20th of March to the 20th of September, at 30 minutes past 8 from the 20th of September to the 20th of March, Saturdays, at sunset.

The pace of work was fast, the discipline of foremen and overseers rigid, and the work monotonous. There was no

protection against industrial disease, and little precaution against crippling accidents With nothing to sell but their labor, workers stayed on through fear, through the need to avoid starvation, through brute necessity

To combat such conditions, labor organized The common law of England regarded labor organizations as illegal, so organized labor's first fight was for mere existence. All the way along the line, organized labor has been fought by the owning group Sometimes the battleground was hours, or wages, or working conditions, or employment of women and children. Labor's leaders have been jailed and they have been bought off. Labor organizers have been spied upon and beaten. Labor's strikes have been broken by police power or by the violence of "citizens' committees" of vigilantes. Labor has been brought into corrupt courts. Still the record is one of steady progress in labor organization and influence as it fought for a place in the sun, say the planners.

9. *Free enterprise is a system in which the consumer is not granted sufficient information to buy intelligently.* Advertising is prominent in the free-enterprise system. Yet, although it *in*forms the consumer to some extent, advertising is far more interested in simply forming him. It puts across the message, "Buy so-and-so's brand" and rests content, leaving the consumer to find for himself the worthiness or worthlessness of the product

Likewise the clerk behind the counter or the salesman at the door too often urges a purchase with no real consideration of the consumer's interests, because he is thinking only of his own profit. The merchandising system is organized, not primarily to help and inform the prospective customer, but rather to persuade him.

Thus the buyer has too little real basis for making choices in the wonderland of modern products As a consequence he gets less than he might for his money. Such a condition, say the planners, is not inherent in commerce, but only in a system of merchandising which is dominated by the profit motive. In a planned economy, dedicated to human welfare, there would be advertising and selling, too, but they would be allies of the buyer, helping him meet his needs as accurately and as efficiently as possible.

10. *Free enterprise isn't free enterprise at all!* At first glance this statement may sound paradoxical. But, say the planners, it is a sober statement of fact Free enterprise is monopoly capitalism What does "free" mean in a system in which a few have economic freedom from want and many do not, in which big business is dominated by monopoly while small business grows leaner, in which individual opportunity has sharply contracted? What does "enterprise" mean in a society of powerful centralized government, of subsidies and handouts for pressure groups? What does another favorite word, "competitive," mean in a system characterized by monopoly practices, restricted production, quotas, fixed prices? "Free enterprise" is little more than a slogan, a rallying cry for those who would give the business group a preferred place in American society.

> Review and sum up the criticisms of free enterprise by the planners Examine them item by item. Where do you agree and disagree?
>
> All in all, should you agree or disagree with the planners' judgment that the free-enterprise system doesn't work? Should you agree or disagree that it is time now to think of building the new system into which the planners say we must move?

THE PLANNERS' SUBSTITUTE FOR FREE ENTERPRISE

Alongside their criticisms of a system which they think can no longer work, the planners set their vision of the world we could have. They see a world in which we could have economic plenty; in which our work would have meaning, purpose, dignity, in which our spare time could be used for healthy fun, for true recreation. They see a world free from insecurity and economic fear, a world in which men could "belong."

George Soule expressed their idea well in his *A Planned Society* in 1932 when the potentiality of a planned technology was capturing the imagination of intellectual leaders.

> Social-economic planning is not merely a device to give everyone a bathtub and a Ford—though the first objective naturally must be to raise the lowest standards of living, not to speak of providing everyone the assurance of enough to eat and wear. But, after such modest goals are achieved, it may appear that people do not want to go much further in that particular direction. We may be more interested in the quality of our satisfactions than in the quantity. We may want more beautiful communities in which to live, more chance to get back to the woods, to have camp-fires, to swim, to fish, to hunt We may want to paint pictures, to act in plays, to grow gardens, to read, to make our own furniture. We may decide to decentralize industry geographically, to make fewer things by machine and have more chance to create variety for ourselves. Discussions about such cultural questions will become increasingly important. But the chief cultural value of planning will remain what it is at the start. Instead of being individually at war with society, instead of being baffled and burdened by an irrelevant environment of social forces, we shall be at work, through society, mastering our own life and

creating it as a whole. We shall have a warm and active bond with our fellows.

The road to a truly free existence, say the advocates of democratic collectivism, is the road of planning. Today in free-enterprise society, many freedoms are luxuries, reserved for the few. Freedom from fear and freedom from want, for instance, are scarcely known to the poor and to the struggling middle class Freedom of the press is enjoyed by those wealthy enough to own newspaper or magazine outlets for their opinions and by those with sufficient advertising appropriations to affect subtly or directly the attitudes of the opinion-forming agencies But if we turn to the road of planning we can extend existent freedoms, like freedom of religion, freedom of elections, freedom of speech. We can achieve greater freedom of the press. It is possible to institute for all the economic freedoms that come through the banishment of the pale ghost, insecurity.

What seem to be the basic values of the planners? What do they regard as most important in life, to be fostered by legislation?

What else is there that might be valued as highly or more highly than the major values prized by advocates of traditional business?

What are your own highest values? Now that you have examined some choices, what do you most believe in as needed for "the good life"?

History Shows That Planning Succeeds

Planning is no idle dream, concocted by theorists, say those who call for planned abundance. Planning has been tried and found workable. Consider these historical facts.

America has demonstrated that she can produce through planning. For proof turn merely to the amazing production record of America in both world wars. Even with the limited planning of the First World War, Stuart Chase points out that "What the War Industries Board really did was to make it possible to lift one-third of the productive man power of the country into the army and munitions services, and to keep the remaining population fully and purposefully employed at a somewhat higher standard of living than it had ever before enjoyed. In brief, the Board so organized the national economy that two men did the work of three, and did it better."

With the over-all planning of the Second World War's War Production Board, in 1944, our gross national product was at least double what we produced in 1940 We were maintaining a high civilian standard of living, serving as the arsenal of democracy, and feeding those portions of the fighting people to which we had access.

We have planning in peacetime in America. See our TVA's, our scientific management in industry, our Department of Agriculture, our controls over banking. Those who ask for coordinated planning want broader scale use of the scientific planning technique which has been used successfully in such enterprises.

Or for proof that economic planning can deliver the goods, turn to what the Soviet Union has produced through its series of 5-year plans Though American social-economic planners reject the political and other undemocratic aspects of the Soviet organization, there can today be little doubt of the economic results of socialist planning. In 25 years, planning lifted the Soviet Union by its bootstraps, changed it from a backward, semifeudal nation to an industrialized and

dynamic power among nations. For confirmation we need not turn to loyal communist fellow travelers, we may consult the books of confirmed supporters of free enterprise, men like Joseph E. Davies of *Mission to Moscow* or Wendell Willkie of *One World.*

> What do planners think is significant in history? According to them at what time in history was capitalism a success and when a failure? What historical evidence do they cite to show that planning works?
>
> What periods in our historical development are stressed by planners? What periods are underemphasized?
>
> From what you know of history should you agree or disagree with the planners?

NEW FORM OF PUBLIC CONTROL

The trend among social planners in recent years has been away from extensive government ownership of production plant Their feeling is that public ownership needs to cover only a few strategic parts of the economy. Social control of the rest can be established under private ownership. The old socialist emphasis on government ownership and operation has been replaced by an emphasis on experimentation with new forms of public authority. For instance, public control can come through public corporations like the Federal Public Housing Authority, through authorities like the Port of New York Authority, or TVA, or Bonneville Power Administration, through financial policies on taxation, debt, and borrowing. Planning does not necessarily mean that a person's books or best shirt will not be his own or that the corner grocer will be succeeded by a government store. Even the left-wingers among the government planners, so-

cialists like Norman Thomas, concede that to achieve planning only the commanding heights need be taken. He says in *We Have a Future*,

> The commanding heights of our system are ownership of land and natural resources, of money, banking, and credit, and of the great monopolies and semi-monopolies including the public utilities If these are properly controlled socially and that control is supplemented by a better Beveridge Plan, the right kind of taxation—which should include the use of the graduated capital levy—and full protection of the rights of labor, there will be room for private enterprise, and certainly room for and need of consumer cooperatives.

Extensive Government Ownership Now Exists

But if a nation advised by a planning authority should decide that much of the physical plant of the nation would better be operated for full production by government rather than by private ownership, it would find a large section of the economy already in the hands of government through wartime demands. Twenty billion dollars' worth of new industrial equipment was built by government. At least one-fifth of the American industrial plant was owned at the end of the war by the United States government, which purchased for prosecution of the war approximately 75 per cent of all American output. Its ownership was particularly high in strategic materials and key commodities. In an article "Uncle Sam—Proprietor" in *Common Sense* magazine (1943), Aaron Levenstein estimated that 70 per cent of our aluminum production facilities were owned by the United States government, 94 per cent of the magnesium facilities, 10 per cent of steel, 50 per cent of machine tools, 90 per cent of plane

production, 80 per cent of synthetic rubber (according to Jesse Jones "sufficient to manufacture more than 800,000 tons of synthetic rubber annually, which is one-third more than we have ever used in peacetime"), 20 per cent of our land, and 75 per cent of our shipbuilding facilities

Although many of the plants had been built with government funds and government has kept the title to the plants, it had leased them to private operators. Lewis Corey said, during the war,

> Most of the government plants are being operated by monopoly corporations, which gives them a stake in future decisions on disposal. Three-fourths of the government's steel facilities are now operated by five big corporations, 40 per cent of them under U S. Steel operation A handful of aircraft and automobile corporations operate the new aircraft plants The synthetic rubber program revolves around the Standard Oil group, the Dow Chemical interests (four plants), the Du Pont and Mellon interests, and the big chemical and rubber corporations The Dow interests (Dow Chemical and Dow Magnesium) operate seven of the new magnesium plants, and five corporations operate most of the balance. Alcoa was highly favored, it gets almost one-half of the new aluminum capacity (33 out of 76 plants)

Fear that this magnificent industrial plant will be allowed to rust, mistrust of monopoly utilization of the government plant, plus a recognition of the need for planning our economy, impel the Postwar Planning Committe of the Committee for Industrial Organization to recommend that America regard these plants as

> . A new form of public domain, as important as the western lands which the nation owned a century ago

Our forefathers sought to have that earlier domain used for the people rather than for the few. We must strive to the same end today and more successfully .

Agreements must be reached immediately to assure that the new productive capacity is utilized wherever possible and reconverted to civilian use. The employees of these new plants should be protected, but not at the expense of other workers The aim should be to decrease rather than increase restrictive practices, monopoly, and concentration of economic power

Careful consideration should be given to guarantees that must be requested of private operators to achieve these ends They must be required to observe national wage standards and to comply with laws on collective bargaining They might also be required to utilize all equipment at full capacity and to permit labor participation in setting production goals and prices. Continued government ownership, with private operation, may prove desirable

---

The rôle of government in a planned society is markedly different from its rôle in a laissez-faire society Describe it carefully What seem to you the advantages and disadvantages to the people of having such a government?

WHAT GOVERNMENT WOULD MEAN IN PRACTICE

Max Lerner, in *It Is Later Than You Think*, published in 1939, agrees with the point of view that control of strategic points in the economy by the people through their planning board would suffice to establish a planned economy, or as he terms it, "democratic collectivism" We quote him at length for he summarizes procedure in a planned economy competently.

The collective effort must aim to increase what there is to share, at the same time as it sets itself the task of sharing it more equitably. This is a principle that squares with the American emphasis on what Stuart Chase calls "the technological imperative." At a conservative estimate the present national income in America can be increased by a third in five years. It would probably not be too optimistic to say it could be doubled in a decade. Those are huge stakes to play for. . . .

How could such an expansion be accomplished? Roughly by selecting the twenty or thirty basic industries which contribute most heavily to the national income, by estimating the consumption schedules for their products (assuming full reemployment) at prices that would yield a tolerable profit on the increased production levels, and by stepping up production simultaneously in all the industries, according to the allotments to be worked out within a frame work set by the planning authority. I stress the simultaneous stepping-up of production because what is crucial is the gearing of increased production to increased purchasing capacity. Unless production is simultaneously stepped up in all the key industries, there will be no general reemployment and therefore no purchasing capacity adequate to take the increased product of any one industry off its hands.

Obviously such a program could not be carried out without guarantees both to the owners and to the workers. Otherwise the plan would meet resistance in its adoption and sabotage in its execution. The owners of industry, if they consult their immediate advantage in an unplanned capitalism, seek to maximize their total profits, even at the social cost of keeping prices high when demand falls. They will not consent to lowering their price and decreasing their unit profit on the chance that they will sell enough more to maximize their total profit. A government fund which would under proper

conditions take the unsold product off their hands so that they would have no loss on their total, would not have to be larger than the billions involved in the present lending-spending program.

Labor, on the other hand, seeks to maximize wages and minimize hours, thus adding restrictions to production just as the owners do. While in an unplanned capitalism this restriction is a counsel of survival, it would not be necessary in a planned collectivism. If the government fund guarantees to labor an increasing annual income for all workers, weekly wages will be able to fit more flexibly into the calculations of the planners. What the workers' earnings would be would actually be determined by the confluence of several factors: an increasing total national income, an increasing workers' share in it, competition between industries for the labor of the workers, real wages as affected by government control of monetary value through control of the money and credit volume and of prices. The socialization of the banking and credit system is a necessary element in any planned economy, whether capitalist or socialist. So also is government control of foreign trade. So also is government direction of the investment process, for investment is the arterial system of industry, determining the total national product and the allocation of that product among industries. It is, moreover, also the most effective weapon that the capitalists have against the progress of a collectivism: the withdrawal of investment, the "flight" of money, the sit-down strike of capital, have all been used against left-wing governments and used to good effect.

. . . .

One merit of such a plan is that it does not deflect the national energies into the traditional cul-de-sac of progressive governments—trust busting. Monopoly position is today the prime fact about our industrial system,

but in relatively few instances does it take the outright form of trusts. The major part of the industrial system is characterized by a corporate-administered price hegemony divided among several or many producers acting in a loose accord either through trade-association agreements or through holding-company or banker control. The outright monopolies, such as the aluminum industry, should be nationalized immediately. For where only one producer occupies the field, nothing is to be gained by trying to create many, and the state had better be that producer. The same applies to the public utilities as natural monopolies, and to industries so crucial to the state as munitions. For the rest, the processes of government control involved in planning will put us in a position where we need not fear the price hegemonies that are today's monopolies

When the task of gearing together consumption, production, income distribution, and investment has been given social responsibility, the owners are left in a valid position where the limited returns they get are returns for management and imagination, and not returns for the power achieved through their capture of the strategic positions in a society.

. . . .

These are the agenda for a democratic collectivism We shall not achieve them overnight But they are a target to aim at.

. . . .

. . if we have not had the courage and intelligence to inaugurate a democratically planned collectivism, there will be other groups who will proceed to enact a planned collectivism of their own. Only they will lack the scruples about democracy that we have, and that alone can make planning responsible.

To sum up the answers to our questions Capitalism cannot be permanently revived. It survives today be-

cause it has placed itself on a brink-of-war collectivist economic footing. That cannot last But can capitalism plan? It can plan if the majority and its leaders have the courage to take capitalism away from the capitalists, and make its basic decisions socially rational and responsible But can capitalism be stabilized by planning? Not for long, for it is at best an unstable form A planned capitalism is a transition step to a planned socialism. Our hope is to make that transition gradual enough to avoid violence, yet effective enough to prevent breakdown. Eventually private ownership, with the economic and cultural power that it carries along with it, must be the exception rather than the rule.

What are the economic convictions of the planners? You have already examined their case against "free enterprise" On the positive side, what do they believe?

What are their objectives in a democratically planned economy?

How do they think public control and public ownership can be used to make an economy prosperous?

What do they see as the strategic parts of the economy which must be state controlled or state owned for planning purposes?

To what extent is the government an active force in the economy at present? To what extent should it be active?

How will each of the following contribute to planning? A planning board. The policy makers. The workers, farmers, and consumers.

What would the people who believe planned economy undesirable say of the planners' positive statements of belief?

Again you need still more data—both on the condemnation of free enterprise and on the proposals of the planners. As one section of your class specializes on proposals, they will find some variation, as in the other schools of thought Some planners believe in slow extension of existent planning without too much use of government ownership. Other planners are socialists, believing in a substantial amount of government ownership and operation of resources and industry in a democracy

Off to the left of these planners are the communists who would find the point of view expressed in the two preceding chapters not at all far-reaching enough. For the communists believe in economic planning plus political dictatorship of the Soviet Union kind and reject the gradual, nonrevolutionary approach of the planners. The communist point of view is not detailed as a separate school of thought because our book restricted itself to roads for the American domestic economy advocated by sizable groups of Americans as a practical line of approach within the framework of democracy. One section of the class, nevertheless, may wish to study the communist proposals.

Your *Chart of Economic Proposals* is now full of contrasts and similarities. Fill in the ideas of the planners and you will have a general outline of many of the ideas we have described throughout the book Use words carefully so that the chart has lasting meaning to you

Under the Labor government, the English people have been taking many of the steps advocated by American planners—nationalizing the banks and certain big industries, for example What can you learn of how they have proceeded, and how things are working out?

Following are a few references that support this point of view. One section of your class may wish to study them as well as publications critical of this point of view. Of course, the list should be supplemented by more recent publications, magazine articles, etc.

REFERENCES

As We Win, by the Department of Research and Education of of the CIO. Report of the CIO Postwar Planning Committee, 1944.

The case for over-all planning for all-out production. Such planning would include public works and full operation of all war plants. This report is prepared by the CIO representatives of labor. Extremely easy to read.

The Chart of Plenty, by Harold Loeb and Associates. New York: The Viking Press, 1935.

The results of study of the potentialities to produce of our economy. Given all-out production, presumably planned, a family income of $5,000 is possible, says the National Survey of Potential Product Capacity. Difficult to read, not organized for easy reference.

Economic Freedom, by Charles E. Noyes. New York: Harper & Brothers, 1943.

The case for social planning, by a moderate advocate who believes that war controls can be used to produce plenty. Decentralization and consent by the people are important to the slow steady growth of democratic planning. Not too difficult. An appraisal of pros and cons.

The Engineers and the Price System, by Thorstein Veblen. New York: The Viking Press, 1933.

A famous advocate of planning wrote a generation ago of the necessity of engineers taking over our economic system in the interests of scientific efficiency and full production. Veblen is sometimes regarded as the writer from whom much contemporary thought on social-economic planning stems. The least difficult of Veblen's books to read.

It Is Later Than You Think, by Max Lerner New York The Viking Press, 1938.

An analysis of the decline of capitalism and of the various attempts to keep it functioning Planning, as an alternative, is described The writer assumes substantial knowledge of economic affairs by the reader

Chapter 15

WHERE DO WE GO FROM HERE?

"IF YOU'RE all through," said Doc politely, "Might an old man cast a few pearls?"

"Ah! Now we get the answer, boys," said Bill. "Here's the last word, a super-deluxe plan that combines the best features of all our plans!"



"And leaves out all the weaknesses of each program —except mine, naturally, because *it* hasn't any weaknesses," said Steve.

"No," said Doc soberly. "You have me confused with Superman. Of course," he grinned, "I do have my own set of ideas—my neutrality this evening has been only for the sake of helping out your discussion. But if I described it, it would be just one more program, like each of yours, or maybe the same as one of yours. Even though I—and others like me—have spent more years studying this thing than you've had a chance to, we haven't any right to set down a ready-made program before you and expect you to kowtow to it.

"No," he repeated slowly. "I don't want to add one more set of suggestions But while you've been arguing, I've sort of sat off to one side taking mental notes about *the way we think* when we develop our ideas on what we call 'economics.' If you'd care to listen . . ."

"Shoot, Doc," they said.

"Well, first of all, did it occur to you that a lot of the time when we think we're being very scientific about economics, we're really borrowing ideas from other fields?"

"I don't get it," said Pete.

"Put it this way," Doc answered. "We talk about an 'economic machine' But it's really not a separate thing. What we have is an *economic machine serving people.* And—to go one step further—it's a machine that is largely *made up of people* So when we talk economics we naturally talk about people and about human values."

"I get it now," said Pete. "We want different economic policies because we have different ideas about what makes people tick I believe that human beings are selfish animals So I think any economic system that depends on their being *un*-selfish is just a pocketful of dreams."



ECONOMICS AND PSYCHOLOGY

"Good example," Doc nodded. "You've kept arguing that the profit motive is the only thing that will generate enough steam in people to make them work If you're right, then it follows that we ought to stick to policies that utilize that kind of driving power.

"But Tom thinks people aren't instinctively selfish or acquisitive—if you'll let me use a college-bred word. He

thinks we only *learn* to be selfish and acquisitive because we grow up in that kind of environment—that we could just as well learn to get an equal drive in working cooperatively for the common good. If Tom is right, why then a lot of ideas that are often dismissed as 'utopian' might turn out to be perfectly practical."

"I follow you that far," said Steve "You're saying that, back of our economic theories, each of us has a theory about human nature I guess I've been somewhere between Pete and Tom on that.

"But what bothers me is, how do we find out who's right and who's wrong? I suppose you'll tell us to take a course in psychology"

"Might help, at that," Doc grunted. "Modern psychology is digging out some pretty fundamental stuff about us humans. But if I were you, I shouldn't neglect reading biographies and good novels and plays for what they reveal about men and women I'd look at some of the recent studies universities and business firms have been making to find out what makes people work best.

"Above all, I'd get acquainted with how people behave in different cultures before I made too many flip generalizations about all men being 'instinctively' like Attila the Hun, on the one hand, or the gentle, high-minded St. Francis on the other. Do you know, for instance, that on one South Sea island men do women's work while the women do what Americans would call the men's jobs? There are some cultures where it's good form to be fierce, others where it's praiseworthy to be mild. There are some where the parents beat the children, and some where the youngsters bully the parents.

"The answers aren't all in yet, by a long way. But if you study many kinds of people, you're likely to come up with a conviction that many of the things we often think of as inborn characteristics are just the result of growing up in a certain kind of civilization."



ECONOMICS AND PHILOSOPHY

"Ideas about psychology aren't the only ones, though, that get mixed into economics," Doc went on. "There's the whole matter of philosophy."

"Whoa, now!" Pete protested. "Me, I'm just a farm boy from Missouri. . . ."

"You ought to be able to hold your horses, then," said Doc, serenely restoking his pipe. "I haven't any patience with the popular notion that philosophy is just a big-word game for a few high-domed philosophers. Everybody has a philosophy—whether he knows it or not."

"I guess I'm one of those who don't know it," said Bill.

"Look," said Doc. "A man's philosophy is simply his set of values—what he thinks most important in life. Each of you boys has been talking from a philosophy all through this discussion. In other words each of you has a few 'values' you prize most highly. When Pete talked, for instance, he stressed *freedom,* which meant to him doing as a person pleases, as far as that is possible. But when Steve talked he played up *security* as a matter of surpassing importance. Naturally, then, Pete is going to oppose controls of the economy, while Steve will be willing to accept some controls if he thinks they'll safeguard security.

"You can put that in another way. Some people rank highest freedom of opportunity—the chance for the able man to

get ahead, others emphasize protection to assure every decent person a reasonable share of this world's goods, even if he isn't particularly long on ability. Some people judge an economic system by how many automobiles and refrigerators and radios it gets into the people's hands, other people say material things—'gadgets,' they'd call them—aren't that important to happiness

"Anyway, you see, you can't set up a formula to make our economic system work perfectly unless you've made up your mind *what an economy is for*, what you want it to achieve. That's why I say that a lot of talk that sounds like economics really has its roots in philosophy."

"I see that now." Steve was thoughtful. "But how do we find out what philosophy we ought to back?"

"Don't let anybody dictate your philosophy to you," Doc advised. "Philosophy isn't a set of facts, like two plus two equals four. It's a system of beliefs. Consequently nobody can set himself up as a final authority. You have to think it through for yourself But you can get some guides. Your religion may well play a large part in your philosophy, certainly a believer in the brotherhood of man shouldn't fall for any Nazi-type idea that some master group or race was put here to live off the sweat and blood of the rest of the people.

"And any American's philosophy must be built squarely on the foundations of democracy. Democracy isn't just a form of government—it's a philosophy of life. Gentlemen, we're wearing these uniforms to fight for democracy Doesn't it look as if we ought to take time out to see what it's all about, and pattern our actions accordingly?"

They nodded their agreement.



ECONOMICS AND THE INTERPRETATION OF HISTORY

There was a pause, as things added up in everyone's mind. Then Pete cleared his throat and said reflectively, "I suppose that when you come right down to it this country owes its greatness to what you call the 'values' that our pioneer parents believed in. They had sense enough to see that the only thing men need is freedom to go ahead on their own steam. So they kept the controls off—and, boys, under that system we went places! Now if we'd just have enough of their good horse sense to *keep* the controls off. . . ."

"Aw, you can't say that!" Tom protested. "That's only half the story. This country got ahead in the nineteenth century because. . . ."

"Gentlemen," Doc broke in. "This is my inning, remember? But you've illustrated another point for me. I've said a great deal of so-called economic discussion is really psychology or philosophy. Now you've just proved that some of it is also a matter of our views on history.

"We all know that America has built up the richest economy the world has ever seen. It's just common sense to try to figure out how she did it and not throw overboard the very things that have made her great We've all read some history and heard a lot more. So each of us decides, maybe unconsciously, 'There's the thing that turned the trick'—and then we want to hang onto that thing.

"If the history you've learned persuades you that it's no accident that capitalism and freedom and invention came on the world scene together, you'll hesitate to tinker with business. You may draw the conclusion that planning will take

us backward along the road to serfdom. But if the history you've learned persuades you that the common man has had to battle steadily an upper class bent on exploiting the labor of the common man, in all probability you'll favor legislation governing the owners of industry and protecting the ordinary Joe. Maybe as you read of the conflict between Hamilton and Jefferson back when America was young, you admired the ideas of one or the other—that would influence your thinking today. Maybe you admired Napoleon more than Lincoln or vice versa. You're interpreting history whenever you use a sentence which begins like this, 'This country owes its greatness to. . . .' "

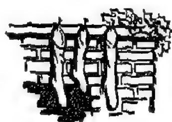
"Certainly nothing wrong with that, is there?" Steve asked.

"No, it's something we have to do," said Doc. "But let's be sure we know what we're talking about."

"And how do we do that?"

"Study history," said Doc briefly They all chuckled

"But while you're reading your history and studying government in your future college," went on Doc, "don't forget that historians are human beings, too. The history of this war would be written differently by a believer in the common man than by a supporter of the Nazi master-race theory Historians make judgments and have theories. Watch for them in their writing. Better learn to distinguish between fact and the historian's judgment before you make up your mind whether the fact is worth three cheers or not."



ECONOMICS AND OUR PERSONAL BACKGROUND

"There's still another thing that colors our ideas, Doc," said Tom. "Maybe it's more important than all of these intellectual convictions about what is of most

worth or whether people behave like the apes. And that's the background out of which we come. It makes plenty of difference in our point of view whether we're born in a slum or in a comfortable suburb, whether we have father's business to carry on or just our hands as our working capital"

Doc said, "Right! Let's apply that background idea to ourselves. You start, Tom."

"Church mice were prosperous compared to us," said Tom "Detroit, near the waterfront. My father was a longshoreman Caught pneumonia on the job—I left high school, went into a defense plant, then Uncle Sam whistled. That's where I got my ideas and I'll be surprised if they don't stick."

"I guess they're different from farm ideas," said Pete. "I was born and raised on a Missouri farm and that's what I'm going back to The farm's one place left in America where a man can be free. So you can see I don't have any vested interest in defending business in America, but I do have an interest in keeping freedom."

"Guess you'd say my ideas stay close to my background," said Bill. "My family runs a little grocery store in Seattle and we've felt the squeeze of monopoly. Confidentially, brethren, we don't like it."

"Guess I'm one of the exceptions to prove Tom's rule," said Steve. "I'm out of a skilled worker background—father an electrician foreman in New York. As far as I can see, I picked up most of my ideas from books. Maybe teaching school, though, helped persuade me that you didn't have to look like a ward heeler to work for the government."

"I follow Tom's rule in part but not as a whole," said Mac "My father's an executive for an insurance company. He's not Mr. Big, but he counts, too But do I disagree with his

ideas! He's off to the right of Pete, and you know where I stand on business's responsibilities for service and full employment."

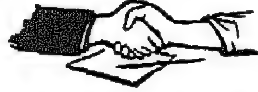
"So you see I'm not so wrong," said Tom. "Background determines ideas. Incidentally, one reason why we'll move to government planning is that there are more 'have-nots' like me in this country than 'haves' like Mac."

"But maybe the 'haves' will make an America in which there'll be no need to talk about 'have-nots,' there will be so few," said Mac.

Doc said, "I'll readily admit the influence of background. But I wouldn't say, Tom, background determines ideas, as you do. I'd rather say that it *colors* ideas. Because we know of too many cases in which men's ideas have not been determined by their background. Take Jefferson, from an aristocratic background, who wrote the revolutionary Declaration of Independence. Take Hamilton, on the other hand: he didn't know who his parents were, yet he mistrusted the common man and wanted a king for the new America. Take the Austrian paperhanger, the most ordinary of men, who developed the idea of a master race which looked exactly the way he *didn't* look.

"Yet background does ordinarily color ideas. If we'll recognize that, we may be more tolerant of the other fellow. We may be less likely to call him a liar or a fool if he can't see things our way. After all, he has come to his ideas through his background and his convictions: each of us is limited by what we've done and what we know."

"But you wouldn't go on from that point to conclude that it doesn't matter what ideas a person holds about economic organization, would you, Doc?"



HOW ABOUT COMPROMISE ?

"Yes, Doc, that's a question I'd like to get at, too—if you're through analyzing the adulterants we ordinary Joes drag in when we think we're examining Simon-pure economics. I'll bet I've sat through a hundred of these bull sessions about jobs and stuff, and if we don't finish in a knock-down and drag-out fight, we wind up with our arms around each other, everybody telling everybody else he's a swell guy even if he is dumb. Seems sort of futile—like fighting to capture a hill, getting a bunch of men killed in the process, and then giving it back to the enemy and saying it doesn't matter anyway."

"At the same time, though," Steve broke in, "if you get all-out hostile to each other, you can't work together on *any* constructive plan Seems as though there has to be some compromising done."

"You've dug up a real problem, there," said Doc. "Let's answer the first question first Certainly we won't say it doesn't matter what a man thinks It matters tremendously. If one idea gets in the saddle, it may take us down the road to depressions or semislavery. Another one may carry us toward a land of peace and plenty. If anybody tells you ideas don't matter much in this practical world, just ask him, 'How about the wrong ideas the Nazis started with?' "

"So if I know what I think is right, I'd better stand up and fight for it. That it, Doc?"

"That's it *But*," Doc weighed his words carefully, "you've got to be a realist and you've got to understand how a democracy works"

"What do you mean about being a realist?"

"Well, in the first place—and maybe we should have said

this earlier—you realize, don't you, that our country never has had an economic system exactly like the one any of you described. We talked about the system Pete likes as the 'traditional' system, and roughly speaking that's true enough. But our economy was never that simple. It's an awfully big, complex thing, which evolved slowly, out of the experience of the people. They worked out each problem the best they could, as it came along. They felt differently about things at one time—say, during a depression—than they did at another time, so they never took all one system or all another.

"In the second place, you'd better realize that that's the way it's going to be in the future. This country isn't going to label your five systems *A*, *B*, *C*, *D*, and *E*, and vote on which one to have from now on. You don't 'install' a social and economic system. *It grows* This big democracy of ours will go right on dealing with each pressing problem as it comes up, the best way it knows how. That means there will be contradictions in our system. sometimes we'll take actions that sound as if they came right out of the socialists' books, and sometimes we'll seem to back free capitalistic enterprise wholeheartedly.

"But at the same time there will be fairly steady long-term trends—such as, for instance, toward greater government control of business, or toward less control. We'll have those big trends because the majority of the people accept or reject a few basic ideas"

"That makes those few basic ideas pretty important," said Mac.

"And worth fighting for," said Tom.

"Ouch!" said Pete. "There's that word fighting again! 'Man the barricades!' I thought when I got this uniform off, I could settle down to enjoy my old age."

"Sorry!" said Tom. "But after all, if basic principles make all the difference and we disagree on those principles what are we going to do?"

"I'd still not be discouraged," said Doc, "providing we stay agreed on the importance of democratic ideas. If we're all honestly trying to live a democratic way of life, I'll take a chance on our minor disagreements

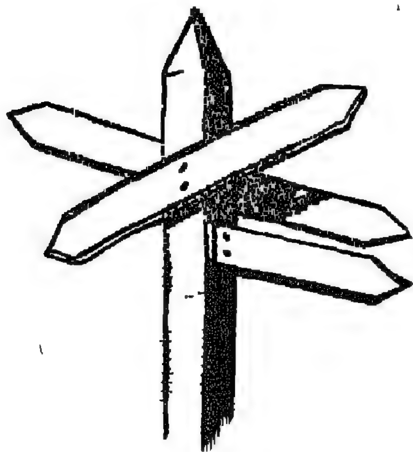
"I'd say we've got one fundamental choice to make whether to follow slavishly some authority that 'can't be wrong,' or to follow the democratic way and think for ourselves I'm pretty confident about the way you all will make that choice.

"Then we've got to follow up on the job of finding out exactly what the democratic way of life means to each of us That's where you meet and work out the meaning of expressions like the worth of the individual, and the common welfare, and freedom, and security, and working together for common concerns, and using the method of intelligence. You'll find help in a piece of writing by Thomas Jefferson called "The Declaration of Independence," in the "Preamble to the Constitution," and in the statements of democratic men of all time. If the statesmen still sound too much like your unintelligible philosophers, try the writers—the old-timers like Walt Whitman, the modern like Stephen Vincent Benét. I notice that recently the Department of Justice published a sort of definition of democracy—*This Democracy of Ours*—written simply, for the use of aliens preparing for citizenship. No, I'm not neutral, I'm for defining and applying your democratic values Every time a situation comes up in which you're confronted with a matter of right and wrong, take your basic principles and apply them

"In doing all this, remember you have three obligations:

(1) Go after the truth and face it, even if it kicks the teeth out of some of your old notions. (2) Think of the welfare of *all* the people, not just your own (3) Think of the long-term effect of any action, not just of its immediate expediency."

"And then," said Steve, "I suspect, Doc, you're about to lead up to that old saw on reserving judgment on all this 'There's yet a lot to be learned, young folks.' "



"I know it sounds trite," said Doc. "But you'll have to do it After all, the things we've been talking about have been the great persisting problems of mankind down through the ages. how to produce an abundance, and how to get it in the hands of the men and women and kids who need it. A young man can do with a certain humility when he tackles problems like that after a lot of good, intelligent men have tussled with them.

"But don't let that keep you from doing something. People have to make decisions—their best guesses—even if they're

not absolutely sure of the result. Study the approaches we've talked about and new ones that may emerge. Compare them. Pick what you think is best, but keep a weather eye out for good features of other approaches that you can incorporate into your own When you feel that you've done an honest, competent job of that, by all means get busy.

"No, I haven't any master plan of my own. These are the roads as we now see them. They may change as time goes on. One may blend with another, and other possibilities may emerge That is as it should be. Think hard, my friends, as you encourage one or another direction. It's my life as well as yours that you're talking about "

INDEX

C

D